दो शब्द

भारत-गौरव आचार्यरत्न विद्यालकार दिगम्बर मुनि श्री १०८ देशभूषण जी महाराज ससंघ ६ वर्ष के उपरान्त भारत की राजधानी देहली में इस वर्ष चातुर्मास कर रहे हैं। आपके इस नगर में आगमन से सर्वत्र जनता की धर्म-प्रवृत्ति बढ़ रही है। दिगम्बर जैन मुनि के नगर में आने का केवल एक ही ध्येय होता है कि उनके उपदेशों से जनता मद्य, मांस आदि का त्याग करें और आत्मिक कल्याण की ओर अग्रसर हो। आचार्य श्री त्याग, तपस्या तथा सौम्य सरल स्वभाव के एक देदीप्यमान उदाहरण हैं। आप जैसे संतों के उपदेश से ही मानव मात्र को शांति प्राप्त करने का सुअवसर मिल सकता है। जैनधर्म तथा जैन साहित्य के प्रचार की भावना आप में कूट कूट कर भरी हुई है। आपके प्रत्येक चातुर्मास की अनुपम देन है "जैन साहित्य का सृजन"। इस चातुर्मास में भी आपकी छत्र-छाया में कितने ही ग्रन्थों का संपादन, संकलन तथा प्रकाशन हो रहा है। 'रत्नाकर शतक' का प्रस्तुत द्वितीय संस्करण प्रथम संस्करण की केवल पुनरावृत्ति ही नही है, वरन् आचार्य श्री ने महान परिश्रम से इसका पूर्ण जीर्णोद्धार किया है। आपकी इस महान सेवा के लिए हम आपके प्रति नतमस्तक हैं।

रत्नाकर शतक के प्रस्तुत द्वितीय संस्करण के लिए श्रीमान् लाला उदमीराम कुन्दनलाल जी दिल्ली वालों ने प्रमुख रूप से सहायता दी है। आप दोनों बन्धु लाला वनारसीदास जी दिल्ली वालों के सुपुत्र है। आपने साधारण स्थिति से उठकर अपने पुरुषार्थ द्वारा लाखों की सम्पत्ति अर्जित की है। आपका मुख्य व्यवसाय कपड़े का है। आपकी फर्म मैसर्स उदमीराम कुन्दनलाल जैन के नाम से कटरा शहशाही चांदनी चौक में अवस्थित है। इसके अतिरिक्त वनारसीदास जैन के नाम से नया मारवाड़ी कटरा में और मे० उदमीराम कुन्दनलाल के नाम से रिलीफ रोड अहमदा-वाद में दो शाखाए है।

पुण्ययोग से आपने अपने पुरुषार्थ से जिस मात्रा में धनार्जन किया है, उसी प्रकार आपकी प्रवृत्ति और भावना धर्म की ओर वरावर वढ़ती जा रही है और धार्मिक कार्यो में समय समय पर अपनी लक्ष्मी को लगा कर उसका उपयोग भी करते रहते है। आप दोनो भाइयों के हृदय में गुरुओ के प्रति अनन्य भक्ति है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा है और आप उनकी सेवा-वैयावृत्य करके अपना सौभाग्य समझते है।

जनता की अत्यधिक मांग और रुचि को देखकर जव रत्नाकर शतक का द्वितीय सस्करण निकालने की योजना हुई तो आ लोगों की भावना इस उपयोगी ग्रन्थ के प्रथम भागको अपनी ओर

से प्रकाशित करने की हुई और आपने यह भावना बड़े संकोच के साथ व्यक्त की । यह आपकी गुरु भक्ति, धर्म प्रेम और सरल हृदयता का परिणाम था। आपकी इस भावना का ही परिणाम है कि इस ग्रन्थ का यह प्रथम भाग प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन और वाइण्डिग का सारा व्यय आपने दिया है। आपकी इस उदारता के लिए मैं आपका आभारी हूँ।

साहू शांतिप्रसाद जी तथा उनकी धर्मनिष्ठ सौभाग्यवती धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जी जैन जाति के गौरव है जिनके माध्यम से जैन साहित्य को प्रकाश मे लाने वाली गौरवमयी संस्था भारतीय ज्ञानपीठ का जन्म हुआ है। आपने प्रस्तुत सस्करण के समस्त कागज का व्यय अपनी ओर से किया है। हमे यह कहते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि रत्नाकर शतक के दूसरे भाग का समस्त भार कागज, मुद्रण, ब्लाक, वाइन्डिग आदि का भी भार आपने अपने ऊपर ले लिया है और शीघ्र ही इसका दूसरा भाग पाठकों के सन्मुख होगा।

पुस्तक प्रकाशन एक कठिन कार्य है और प्रस्तुत सस्करण को प्रकाश में लाने का सर्वाधिक श्रेय है जैन समाज के यशस्वी लेखक श्री पं० वलभद्र जी को जिन्होंने रात दिन लगा कर इसकी प्रेस कापी तैयार की तथा इसके प्रूफ बड़े परिश्रम पूर्वक पढे।

आचार्य श्री के संघ की सेवा में सदैव तत्पर तथा निस्वार्थ सेवी व परम गुरुभक्त श्री रघुवरदयाल जी विजली वालों तथा ला० पन्नालालजी मुद्रक व प्रकाशक दैनिक 'तेज', का भी इसके प्रकाशन

में महान् सहयोग रहा है। अंत में हम वर्तमान मुनि संघ कमेटी के समस्त सदस्यों तथा उसके सभापति ला० प्रतापसिंह जी मोटर वालों के प्रति भी आभार प्रदर्शन करते है जिनके कारण से हमें इस वर्ष आचार्य श्री के दिल्ली चातुर्मास का सौभाग्य प्राप्त हो सका है।

हम आचार्य श्री देशभूषण जी तथा उनके परम शिष्य नव दीक्षित मुनि श्री विद्यानंद जी, संघ की आर्यिकाओं, क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं आदि के प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट करते है।

अजितप्रसाद जैन	महतावसिंह जैन	आदीश्वरप्रसाद जैन
ठेकेदार	बी.ए,एल.एल.बी.	एम. ए.
सभापति	महामंत्री	मत्री
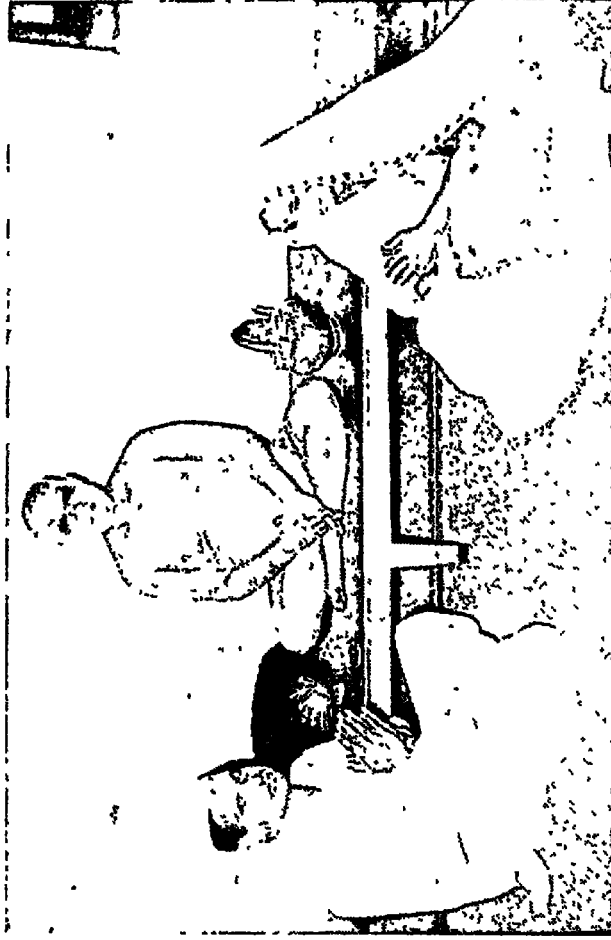
आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज

आगे बैठे हुए (बाये) ला० उदमीराम जी (दाये) उनकी धर्मपत्नी सौ० हुकमदेवी जी

प्रस्तुत ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में

आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी का अभिमत

संसार के सभी प्राणी अहर्निश सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। सुख के प्रधान साधन धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का सेवन कर मनुष्य सुखी हो सकता है। पर आज भौतिकवाद के इस युग में धर्म पुरुषार्थ की अवहेलना कर मानव केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ के अबाध सेवन द्वारा सुखी होने का स्वप्न देख रहा है। निर्धन धन के लिए छटपटाते हैं तो धनवान सोने का महल बनाना चाहते हैं, वे रात दिन धन की तृष्णा में डूबे हुए हैं। करोड़ों और अरबों भूख, दरिद्रता, रोग, और उत्पीड़न चक्र में नियमित रूप से पिस कर नष्ट हो रहे है। एक ओर कुछ लोग अपनी वासनाओं को उद्दाम एवं असंयत बनाते जा रहे है तो दूसरी ओर फूल सी सुकुमार देवियां नारकीय जीवन व्यतीत कर रही हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी तृष्णा और अभिलाषा को उत्तरोत्तर बढ़ाता जा रहा है। आवश्यकताएं उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही हैं। और आवश्यकताओं के अनुसार ही संचय वृत्ति अनियन्त्रित होती जा रही है। इस प्रकार कोई अभावजन्य दुःख से दुखी है तो कोई तृष्णा के कारण कराह रहा है। एक ससार में सतान के अभाव से दुखी होकर रोता हैं, तो दूसरा कुसंतान् की बुराईओं से त्रस्त होकर। इस प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थ का एकांगी सेवन सुख के स्थान में दुःखदायक हो रहा है।

मनुष्य को वास्तविक शान्ति धर्म पुरुषार्थ के सेवन द्वारा ही

प्राप्त हो सकती है। अर्थ और काम पुरुषार्थ आंशिक सुख दे सकते हैं, पर वास्तविक सुख धर्म के धारण करने पर ही मिल सकता है। जैनाचार्यों ने वास्तविक धर्म आत्मधर्म को ही बताया है। इस आत्मा को संसार के समस्त पदार्थों से भिन्न अनुभव कर विवेक प्राप्त करना तथा आत्मा में ही विचरण करना धर्म है। इसी धर्म द्वारा शान्ति और सुख मिल सकता है। जैन साहित्य में आध्यात्मिक विषयों को निरूपण करने वाले अनेक ग्रन्थ है। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्म प्रकाश, समाधितन्त्र, आत्मानुशासन, इष्टोपदेश आदि आर्ष ग्रन्थों मे आत्मतत्व का स्वरूप, संसार के पदार्थों से भिन्नता एवं उसकी प्राप्ति की साधन प्रक्रिया विस्तारपूर्वक बतायी है। कन्नड़ भाषा में आत्म तत्व के ऊपर कई ग्रन्थ है।

जिस प्रकार हिन्दी भाषा में दौलतराम, द्यानतराय, भूधरदास, बनारसीदास जैसे महान कवियों ने अपनी कविता का विषय अध्यात्म बनाया और इस विषय को अपनी प्रतिभा से पुष्ट किया, इसी प्रकार कविवर बन्धुवर्मा और रत्नाकर वर्णी जैसे प्रमुख अध्यात्म प्रेमियों ने कन्नड़ भाषा में अध्यात्म विषयक अनेक रचनाएं की है। यो तो प्राचीन कन्नड़ साहित्य को उच्च एवं प्रौढ़ बनाने का सारा श्रेय जैनाचार्यों को ही है। जैनाचार्यों ने कन्नड़ भाषा का उद्धार-प्रसार ही नहीं किया है, बल्कि पुराण, दर्शन, अध्यात्म, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक, गणित प्रभृति विषयों का शृंखलाबद्ध प्रतिपादन कर जैन साहित्य के भण्डार को भरा है।

दिगम्बर जैन साहित्य का अधिकांश श्रेष्ठ साहित्य कन्नड़ भाषा है। पम्प, रन्न, पोन्न, जन्न, नागचन्द्र, कर्णपार्य, अगल, आचण्ण, बन्धुवर्मा, पार्श्वपडित, नयसेन, मंगरस, भास्कर, पद्मनाभ, चन्द्रम, श्रीधर, साल्व, अभिनवचन्द्र आदि कवि और आचार्यो ने अनेक अमूल्य रचनाओं द्वारा जैन साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान दिया है। जैन आचार्यो ने यों तो देशी भाषाओं में अनेक रचनाएं की है, तामिल, व्रज, गुजराती, राजस्थानी आदिभाषाओं मे विपुल जैन साहित्य उपलब्ध होता है। किन्तु देशी भाषाओ में सबसे अधिक जैन साहित्य कन्नड़ भाषा में ही उपलब्ध है। यदि इस भाषा के अमूल्य ग्रन्थरत्न हिन्दी भाषा में अनुदित कर प्रकाशित किये जायें तो जैन साहित्य के अनेक गुप्त रहस्य साहित्य प्रेमियों के सम्मुख आ सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नाकर शतक एक आध्यात्मिक रचना है। कवि रत्नाकर वर्णी की कन्नड़ भाषा की रचनाओं में तीन शतक बहुत प्रसिद्ध हैं—रत्नाकराधीश्वर शतक, अपराजित शतक और त्रैलोकेश्वर शतक। इन तीनों शतकों का नाम कवि के नाम पर रत्नाकर शतक रखा गया है।

पहले रत्नाकर शतक में वैराग्य, नीति और आत्म तत्व का निरूपण है। दूसरे अपराजित शतक में अध्यात्म और वेदान्त का विस्तार सहित प्रतिपादन किया है। तीसरे त्रैलोक्येश्वर शतक में भोग और त्रैलोक्य का आकार प्रकार, लोक की लम्बाई चौड़ाई आदि का कथन किया गया है। प्रत्येक शतक में एकसौ

अट्ठाईस पद्य हैं। इनके अतिरिक्त कवि की अन्य भी अनेक रचनायें उपलब्ध होती है।

रत्नाकराधीश्वर शतक और आध्यात्मिक ग्रन्थ

रत्नाकराधीश्वर शतक में समयसार, आत्मानुशासन और परमात्म-प्रकाश की छाया स्पष्ट मालूम होती है। कवि ने इन आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा अपने ज्ञान को समृद्धिशाली बनाया है तथा अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को अनुभव के साचे में ढाल कर यह नवीन रूप दिया है। इस ग्रन्थ में अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार है। इसके अतस्तल में प्रवेश करने पर प्रतीत होता है कि कवि ने वेदान्त और उपनिषदों का भी अध्ययन किया है तथा अध्ययन से प्राप्त ज्ञान का उपयोग जैन मान्यताओं के अनुसार आठवें, नौवें और दसवें पद्य में किया है। अपराजित शतक मे कई स्थानों पर वेदान्त का स्पष्ट वर्णन किया है। कवि की इस शतक-त्रयी को देखने से प्रतीत होता है कि ससार, आत्मा और परमात्मा का अनुभव इसने अच्छी तरह किया है। इसके प्रत्येक पद्य में आत्म-रस छलकता है, आत्मज्ञान पिपासुओं को इससे बड़ी शान्ति मिल सकती है। अकेले रत्नाकर शतक के अध्ययन से अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थों का सार ज्ञात हो जाता है।

रत्नाकर शतक का अध्यात्मवाद निराशावाद नहीं है। संसार से घबड़ा कर उसे नश्वर या क्षणिक नहीं बताया गया है, बल्कि वस्तु स्थिति का प्रतिपादन करते हुए आत्मस्वरूप का विवेचन किया

है। संसार के मनोज्ञ पदार्थों के अंतरग और बहिरंग रूप का साक्षात्कार कराते हुए उनकी बीभत्सता दिखलायी है। आत्मा के लिए अपने स्वरूप से भिन्न शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, पुरजन, परिजन हेय हैं। ये मोह के कारण संसार के पदार्थ बाहर से ही सुन्दर दिखलायी पड़ते हैं, मोह के दूर होने पर इनका वास्तविक रूप सामने आता है, जिससे इनकी घृणित अवस्था सामने आती है। अज्ञानी मोही जीव भ्रमवश ही मोह के कारण अपने साथ बधे हुए धन, द्वेष, क्रोध आदि विभावों के संयोग के कारण अपने को रागी, द्वेषी क्रोधी, मानी, मायावी, और लोभी समझता है, पर वास्तव में बात ऐसी नही है। ये सब जीव की विभाव पर्याय है, पर निमित्त से उत्पन्न हुई हैं, अतः इनके साथ जीव का कोई सम्बन्ध नही है। आत्मिक भेदविज्ञान जिसके अनुभव द्वारा शरीर और आत्मा की भिन्नता अनुभूत की जा सकती है, कल्याण का कारण है। इस भेदविज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार इस शरीर में ही हो जाता है तथा भौतिक पदार्थो से आस्था हट जाती है। अतएव रत्नाकर शतक का अध्यात्म निराशा-वाद का पोषक नहीं, बल्कि कृत्रिम आशा और निराशाओं को दूर कर अद्भुत ज्योति प्रदान करने वाला है।

रत्नाकराधीश्वर शतक की रचना शैली और भाषा

यह शतक मत्तेभविक्रीड़ित और शार्दूलविक्रीड़ित पद्यों में रचा गया है। इसकी रचना-शैली प्रसाद और माधुर्यगुण से ओत-प्रोत

है। प्रत्येक पद्य मे अगूर के रस के समान मिठास वर्तमान है। शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। कवि ने आध्यात्मिक और नैतिक विचारो को लेकर फुटकर पद्य रचना की है। वस्तुत' यह गेय काव्य है इसके पद्य स्वतन्त्र है, एक का सम्बन्ध दूसरे से नहीं है। संगीत की लय में आध्यात्मिक विचारों को नवीन ढंग से रखने का यह एक विचित्र क्रम है।

कवि ने रत्नाकराधीश्वर से जिनेन्द्र भगवान को सम्बोधन कर संसार, स्वार्थ, मोह, माया, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, घृणा आदि के कारण होने वाली जीव की दुर्दशा का वर्णन करते हुए आत्मतत्व की श्रेष्ठता बतायी है। अनादिकालीन राग द्वेषों के आधीन हो यह जीव उत्तरोत्तर कर्मार्जिन करता रहता है। जब इसे रत्नत्रय की उपलब्धि हो जाती है, तो यह इस गम्भीर संसार समुद्र को पार कर जाता है। कवि के कहने का ढंग बहुत ही सीधा सादा है। यद्यपि पद्यार्थ गूढ है, शब्द विन्यास इस प्रकार का है जिससे गम्भीर अर्थ बोध होता है, पर फिर भी अध्यात्म विषय के प्रतिपादन की प्रक्रिया सरल है। एक श्लोक में जितना भाव कवि को रखना अभीष्ट था, सरलता से रख दिया है। कविवर रत्नाकर ने इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है कि मानव की चित्तवृति रसदशा की उस भावभूमि पर पहुंचने मे आहत न हो जिसमें आत्मा को परम तृप्ति मिलती है। कवि ने इसके लिए रत्नाकराधीश्वर सम्बोधन का मधुर आकर्षण रखकर पाठक या श्रोताओं को रसास्वादन कराने मे पूरी तत्परता दिखाई है। कवि की यह शैली भर्तृहरि आदि

शतक निर्माताओं को शैली से भिन्न है। इसमें भगवान की स्तुति करते हुए आत्मतत्व का निरूपण किया है।

जिस प्रकार शारीरिक बल के लिए व्यायाम की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आत्मिक शक्ति के विकास के लिए भावों का व्यायाम अपेक्षित है। शान्त रस के परिपाक के लिए तो भावनाओ की उत्पत्ति, उसका चैतन्यांश, उनकी विकृति एवं स्वाभाविक रूप में परिणति की प्रक्रिया विशेष आवश्यक है, इनके विश्लेषण के विना शान्तरस का परिपाक हो ही नही सकता है। मुक्तक पद्यों में पूर्वापर सम्वन्ध का निर्वाह अन्विति रक्षा मात्र के लिए ही होता है। कवि रत्नाकर ने अपनी भावधारा को एक स्वाभाविक तथा निश्चित क्रम से प्रवाहित कर अन्विति की रक्षा पूर्णरीति से की है। मुक्तकपद्यों में धुंधली आत्म भावना के दर्शन न होकर ज्ञाता, द्रष्टा, शाश्वत, निष्कलंक शुद्ध बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होता है। कवि के काव्य का केन्द्रविन्दु चिरन्तन, अनुपम एव अक्षय सुख प्राप्ति ही है। यह रत्नत्रय की उपलब्धि होने पर आत्मस्वरूप में परिणत हो वृत्ताकार वन जाता है।

इस शतक की भाषा सस्कृत मिश्रित पुरातन कन्नड़ है। इसमे कुछ शव्द अपभ्र श और प्राकृत के भी मिश्रित है। कवि ने इन शव्द रूपों को कन्नड़ की विभक्तियों को जोड़कर अपने अनुकूल ही वना लिया है। ध्वनि परिवर्तन के नियमों का कवि ने संस्कृत से कन्नड़ शव्द वनाने में पूरा उपयोग किया है। कृदन्त और तद्धित प्रत्यय प्रायः संस्कृत के ही ग्रहण किये है। इस प्रकार भाषा को

परिमार्जित कर अपनी नई सूझ का परिचय दिया है।

रत्नाकर शतक का रचयिता कवि रत्नाकर वर्णी

ईस्वी सन् १६ वी शताब्दी के कर्णाटकीय जैन कवियों में कविवर रत्नाकर वर्णी का अग्रगण्य स्थान है। यह आशु कवि थे। इनकी अप्रतिम प्रतिभा की ख्याति उस समय सर्वत्र थी। इनका जन्म तुलुदेश के मूडविद्री ग्राम में हुआ था। यह सूर्यवंशी राजा देवराज के पुत्र थे। इनके अन्य नाम अण्ण, वर्णी, सिद्ध आदि भी थे। बाल्यावस्था में ही काव्य, छन्द और अलंकार शास्त्र का अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त गोम्मटसार की केशव वर्णी की टीका, कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्म ग्रन्थ, अमृतचन्द्र सूरि कृत समय-सार नाटक, पद्मनन्दि कृत स्वरूप-सम्बोधन, इष्टोपदेश, अध्यात्म नाटक आदि ग्रन्थों का अध्ययन और मनन कर अपने ज्ञान भण्डार को समृद्धिशाली किया था। देवचन्द्र की राजावली कथा मे इस कवि के जीवन के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—

यह कवि भैरव राजा का सभापण्डित था। इसकी ख्याति और काव्य चातुर्य को देखकर इस राजा की लड़की मोहित हो गयी। इस लड़की से मिलने के लिए इसने योगाभ्यास कर दस वायुओं का साधन किया। वायु धारणा को सिद्ध कर यह योग क्रिया द्वारा रात को महल के भीतर पहुंच जाता था और प्रति-दिन उस राजकुमारी के साथ क्रीड़ा करता था। कुछ दिनों तक उसका यह गुप्त कार्य चलता रहा। एक दिन इस गुप्त काण्ड का

समाचार राजा को मिला। राजा ने समाचार पाते ही रत्नाकर कवि को पकड़ने की आज्ञा दी।

कवि रत्नाकर को जब राजाज्ञा का समाचार मिला तो वह अपने गुरु देवेन्द्रकीर्ति के पास पहुँचा और उनसे अणुव्रत दीक्षा ली। कवि ने व्रत, उपवास, और तपश्चर्या की ओर अपने ध्यान को लाया। आगम का अध्ययन भी किया तथा उत्तरोत्तर आत्म चिन्तन में अपने समय को व्यतीत करने लगा।

विजयकीर्ति नाम के पट्टाचार्य के शिष्य विजयण्ण ने द्वादशानुप्रेक्षा की कन्नड़ भाषा में संगीतमय रचना की थी। यह रचना अत्यन्त कर्णप्रिय स्वर और ताल के आधार पर की गई थी। गुरु की आज्ञा से इस रचना को हाथी पर सवार कर गाजे बाजे के साथ जलूस निकाला गया था। इस कार्य से जिनागम की कीर्ति तो सर्वत्र फैली ही, पर विजयण्ण की कीर्ति गंध भी चारों ओर फैल गई। रत्नाकर कवि ने भरतेश वैभव की रचना की थी। उसका यह काव्य ग्रन्थ भी अत्यन्त सरस और मधुर था, उसकी इच्छा भी इसका जलूस निकालने की हुई। उसने पट्टाचार्य से इसका जलूस निकालने की स्वीकृति माँगी। पट्टाचार्य ने कहा कि इसमें दो तीन पद्य आगम विरुद्ध हैं, अतः इसका जलूस नहीं निकाला जा सकता है। रत्नाकर कवि ने इस बात पर बिगड़कर पट्टाचार्य से वाद विवाद किया।

पट्टाचार्य ने रत्नाकर कवि से चिढ़कर श्रावकों के यहाँ उसका आहार बन्द करवा दिया। कुछ दिन तक कवि अपनी बहन के

यहां आहार लेता रहा। अंत में उसकी जैनधर्म से रुचि हट गयी, फलतः उसने शैवधर्म को ग्रहण कर लिया। सोलहवी शताब्दी में दक्षिण भारत मे शैवधर्म का बड़ा भारी प्रचार था, अतः कवि का विचलित होकर शैव हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही थी।

कवि ने थोड़े ही समय में शैवधर्म के ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया और वसवपुराण की रचना की। सोमेश्वर शतक भी महादेव की स्तुति करते हुए लिखा। जीवन के अंत में कर्मो का क्षयोपशम होने से उसने पुनः जैनधर्म धारण किया।

रत्नाकर कवि के सम्बन्ध में किम्बदन्ती

रत्नाकर अल्पवय में ही संसार से विरक्त हो गये थे। इन्होंने चारुकीर्ति योगी से दीक्षा ली थी। दिन रात तपस्या और योगाभ्यास में अपना समय व्यतीत करते थे। इनकी प्रतिभा अद्‌भुत थी, शास्त्रीयज्ञान भी निराला था। थोड़े ही दिनों में रत्नाकर की प्रसिद्धि सर्वत्र हो गयी। अनेक शिष्य उनके उपदेशों मे शामिल होने लगे। रत्नाकर प्रतिदिन प्रातः काल अपने शिष्यों को उपदेश देते थे। शिष्य दो घड़ी रात शेष रहते हुए ही इनके पास एकत्रित होने लगते थे। कवि प्रतिभा इन्हें जन्मजात थी, जिससे राजा महाराजाओं तक इनकी कीर्ति कौमुदी पहुँच गई थी।

इनकी दिग्दिगन्त व्यापिनी कीर्ति को देखकर एक कुकवि के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और उसने इनकी प्रसिद्धि में कलंक लगाने का उपाय सोचा। एक दिन उसने दो घड़ी रात शेष रहने पर चौकी

के नीचे वेश्या को गुप्त रीति से लाकर छिपा दिया। और स्वयं छद्मवेष में अन्य शिष्यों के साथ उपदेश सुनने के लिए आया। उपदेश में उसी धूर्त ने 'यह क्या है' कह कर चौकी के नीचे से वेश्या को निकाल कर रत्नाकर कवि का अपमान किया। फलतः कवि को अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा। यद्यपि अनेक लोगों ने उनसे वहीं रहने की प्रार्थना की, पर उसने किसी की बात नही सुनी।

कुछ दूर चलने पर कवि को एक नदी मिली। उसने इस नदी में यह कहते हुए डुबकी लगायी कि मुझे जैनधर्म की आवश्यकता नही है, मैं आज इसे जलांजलि देता हूं। कवि स्नान आदि से निवृत्त होकर आगे चला। उसे रास्ते में हाथी पर एक शैव ग्रन्थ का जलूस गाजे बाजे के साथ आता हुआ मिला। कवि ने इस ग्रन्थ को देखने को माँगा और देखकर कहा—इसमें कुछ सार नही है। लोगों ने यह समाचार राजा को दिया। राजा से उन्होंने कहा कि एक कवि ने सार रहित कहकर इस ग्रन्थ का अपमान किया हैं। राजा ने चर भेजकर रत्नाकर कवि को अपनी राज सभा में बुलाया और उससे पूछा कि इसमें सार क्यों नही है ? तुमने इस महा काव्य का तिरस्कार क्यों किया ? हमारी सभा के सभी पंडितों ने इसे सर्वोत्तम महाकाव्य बताया है, फिर आप क्यों अपमान कर रहे हैं ? आपका कौनसा रसमय महाकाव्य है।

रत्नाकर कवि बोले—महाराज ! नौ महीने का समय दीजिये, आपको रस क्या है, यह बतलाऊ। राजा से इस प्रकार समय

मांग कर कवि ने नौ महीने में भरतेशवैभव ग्रन्थ की रचना की और सभा मे उसको राजा को सुनाया। इसे सुनकर सभी लोग प्रसन्न हुए, राजा कवि की अप्रतिम प्रतिभा और दिव्य सामर्थ्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और कवि से शैव धर्म को स्वीकार करने का अनुरोध किया। कवि ने जैनधर्म छोड़ने का निश्चय पहले ही कर लिया था, अतः राजा के आग्रह से उसने शैवधर्म ग्रहण कर लिया।

मरणकाल निकट आने पर कवि ने पुनः जैनधर्म धारण कर लिया। उसने स्पष्ट कहा कि मैं यद्यपि ऊपर से शिव लिंग धारण किये हूँ, पर अन्तरंग में मैं सदा से जैन हूं। अतः मरने पर मेरा अन्तिम संस्कार जैनाम्नाय के अनुसार किया जाय।

उपर्युक्त दोनों कथाओं का समन्वय करने पर प्रतीत होता है कि कवि जन्म से जैन धर्मानुयायी था। बीच में किसी कारण से शैवधर्म को उसने ग्रहण कर लिया था; पर अन्त में वह पुनः जैनी बन गया था।

कवि का समय और गुरु परम्परा

इस कवि ने अपने त्रिलोकशतक में 'मणिशैलंगतिइन्दुशाली शतक' का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि शालिवाहन शक १४७६ (ई० १५५७) में शतकत्रय की रचना की है। भरतेशवैभव मे एक स्थान पर उसका रचनाकाल शक सं०१५८२ (ई०१६६०) बताया है। पर यह समय ठीक नहीं जंचता है। पहली बात तो

यह है कि त्रिलोकशतक और भरतेश वैभव के समय में १०३ वर्ष का अन्तर है, अतः एक ही कवि १०३ वर्ष तक कविता कैसे रचता रहा होगा । इसलिए दोनों ग्रंथों में से किसी एक ग्रन्थ के समय को प्रमाण मानना चाहिए अथवा दोनों के रचयिता दो भिन्न कवि होने चाहिए ।

रचना शैली आदि की दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि भरतेशवैभव में लगभग ५० पद्य प्रक्षिप्त हैं, जिन्हें लोगों ने भ्रमवश रत्नाकर कवि का समझ लिया है । उपर्युक्त समय भी प्रक्षिप्त पद्यों में ही आया है, अतः यह प्रक्षिप्त पद्यों का रचना समय है, भरतेश वैभव का नहीं । त्रिलोकशतक तथा सोमेश्वर शतक में दिये गये समय के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि इस कवि का समय ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी का मध्य भाग है ।

इस कवि के दो गुरु प्रतीत होते हैं । एक देवेन्द्रकीर्ति और दूसरे चारुकीर्ति । इस कवि की विरुदावलि में शृंगार-कवि-राजहंस ऐसा उल्लेख आता है, जिससे कुछ लोगों का अनुमान है कि शृंगार कवि राजहंस यह कोई स्वतन्त्र कवि है, इसका गुरु देवेन्द्रकीर्ति था तथा रत्नाकर का गुरु चारुकीर्ति था । पर विचार करने पर यह ठीक नहीं जचता, शृंगार-कवि-राजहंस यह विरुदावली कवि रत्नाकर की ही है । क्योंकि भरतेश वैभव शृंगार रस की खान है, अतः शृंगार-कवि-राजहंस यह उपाधि कवि को मिली होगी । राजावली कथा के अनुसार देवेन्द्रकीर्ति और महेन्द्रकीर्ति एक ही व्यक्ति के

नाम है। रत्नाकरशतक में कवि ने अपने गुरु का नाम महेन्द्रकीर्ति कहा है। देवेन्द्रकीर्ति नाम की पट्टावली हुम्बुच्च के भट्टारकों की है और चारुकीर्ति नाम की पट्टावली मूड़बिद्री के भट्टारकों की थी। कवि ने प्रारंभ में चारुकीर्ति भट्टारक से दीक्षा ली होगी। मध्य में शैव हो जाने पर वह कुछ दिन इधर उधर रहा होगा। अतः इसके पश्चात् पुनः जैन होने पर हुम्बुच्च गद्दी के स्वामी महेन्द्रकीर्ति या देवेन्द्रकीर्ति से उसने दीक्षा ली होगी। जैन धर्म से विरत होकर शैव दीक्षा लेने पर इसने सोमेश्वर शतक की रचना की है। इस शतक में समस्त सिद्धान्त जैन धर्म के है, केवल अन्त में 'हरहरा सोमेश्वरा' जोड़ दिया है। नमूने के लिए देखिये—

> वर सम्यक्त्वसुधर्मजैनमतदोळतां पुट्टियादीचयं ।
> धरिसीसन्नुतकाव्यशास्त्रगळनु निर्माणमं माड्तं ॥
> वररत्नाकर योगियेंदु निरुत वैराग्य वंदेरळां।
> हरदीचाव्रतनादेनै हरहरा श्रीचेन्न सोमेश्वरा ॥

इससे स्पष्ट है कि कवि ने अपने जीवन में एक बार शैव दीक्षा ली थी, पर जैनधर्म का महत्व उसके हृदय में बना रहा था, इसी कारण अन्त समय में उसे पुनः जैन बनने में बिलम्बनहीं हुआ।

द्वितीय संस्करण और आशीर्वाद

- रत्नाकर शतक का प्रथम संस्करण वीर सं० २४७६ में आरा से प्रकाशित हुआ था। उसका संपादन उस समय श्री शान्तिराज शास्त्री द्वारा संपादित रत्नाकर शतक के आधार पर किया गया था। इस ग्रन्थ में कानड़ी भाषा के कुल १२८ श्लोक हैं। इसका हिन्दी अनुवाद व्याख्या करके उस समय इसे दो भागों में प्रकाशित किया गया था। पहले भाग में ५० श्लोकों की व्याख्या थी और दूसरे भाग में ७८ श्लोकों की व्याख्या दी गई थी।

यह ग्रन्थ मुख्यत: अध्यात्म को लेकर अत्यन्त आकर्षक शैली में रचा गया है। जनता को यह बड़ा रुचिकर प्रतीत हुआ। अतः यह जल्दी ही समाप्त हो गया। इस वर्ष हमारा चातुर्मास दिल्ली मे हुआ। यहाँ रहकर इसका हिन्दी भाषा में विस्तृत विवेचन करके पुन: दो खण्डों मे प्रकाशित कराया जा रहा है। इस सस्करण के प्रथम खण्ड में ६३ श्लोक दिये गये है और द्वितीय खण्ड में ६५। इन दो खण्डों के प्रकाशन का व्यय दो व्यक्तियों ने उठाया है। पहले खंड का कागज और दूसरे खंड का सम्पूर्ण व्यय साहू शान्ति-प्रसाद जी ने उठाया है। तथा प्रथम खण्ड का प्रकाशन-व्यय और बाईण्डिग का व्यय ला० उदमीराम कुन्दनलाल जी ने उठाया है।

हमने भाषा और विषय को सुबोध बनाने का पूरा प्रयत्न किया है, जिससे सर्व साधारण इसे पढ़कर आत्म कल्याण कर सके। इस ग्रन्थ की भाषा-शुद्धि और प्रूफ संशोधन का काम बड़े परिश्रम के साथ पं० बलभद्र जी शास्त्री ने किया है। उन्होंने स्थान स्थान पर विषय को अधिक स्पष्ट और सुबोध बनाने में भी अपना पूरा सहयोग दिया है। अतः हम उन्हें बार बार इसके लिये आशीर्वाद देते है।

हमें आशा है कि सभी भव्य भाई एवं बहनें इस ग्रन्थ को पढ़कर धर्म-लाभ लेंगे।

वीर सं० २४८९ शुभाशीर्वाद

विषय-सूची

णमोकार मन्त्र
णमो अरिहन्ताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं

श्रीवीतरागाय नमः

रत्नाकर शतक

(कन्नड भाषा)

आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण जी महाराज कृत

हिन्दी भाषानुवाद तथा व्याख्या

अनुवादकार का मङ्गलाचरण

रागद्वेषविजेतारं भवसागरपारगम् ।
वर्द्धमानं जिनाधीशमात्मशुद्धयै नमाम्यहम् ॥१॥
शान्तिक्षान्तिसमालीढं, चारित्रे चक्रवर्तिनम् ।
शान्तिसागरमाचार्यं भक्त्या नौमि मुदा सदा ॥२॥
चेतोहरप्रवक्तारं साधुचर्या सुभूषितम् ।
पायसागरसूरीशं प्रणमामि मुदा सदा ॥३॥
जयकीर्तिं गुरुं नत्वा भव्यसत्वैकबान्धवम् ।
रत्नाकरस्य शतकस्य हिन्दीटीकां करोम्यहम् ॥४॥
पूर्वाचार्यकृपा चात्र फलतीवावलोक्यते ।
विशेषज्ञं न मां ज्ञात्वा क्षम्यन्तां विबुधाः सदा ॥५॥

मूल ग्रन्थ का मङ्गलाचरण

श्री रागं सिरि-गंपुमाले मणिहार वस्त्रमंगक्कलं-
कारं हेयमिवात्मतत्वरुचिबोधोद्यच्चरित्रंगळी ॥
त्रैरत्नं मनसिंगे सिंगरमुपादेयंगळेंदित्तं शृं-
गार श्रीकविहंसराजनोडेया रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सुगन्धियुक्त लेपन द्रव्य, सुगन्धित पुष्पों की माला, बहु-मूल्य रत्नों के हार तथा अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण ये सभी वस्तु केवल शरीर के अलंकार की हैं। और ये अनेक वार प्राप्त हो चुकी हैं। इसलिए ये त्यागने योग्य है। आत्म-स्वरूप के प्रति श्रद्धा, उत्कृष्ट ज्ञान और चारित्र इन तीनों को रत्नत्रय कहते है। यही रत्नत्रय आत्मा का अलंकार है इसलिए ये तीनों रत्न स्वीकार करने योग्य है ऐसा आपने अज्ञानी संसारी जीवों को समझाया है। हे भगवन् ! उस रत्नत्रय को प्राप्त करने की भावना मेरे हृदय में जाग्रत करें।

विशेषार्थ—मोह के उदय से संसारी जीव अनादि काल से भोग विलास में मग्न होकर इस शरीर के लिए अनेक उपाय करता हुआ इसकी विषय वासना की पूर्ति की कामना कर रहा है। वह इस शरीर को अनेक प्रकार के सुगन्धित तेल, चन्दन, परिमल पुष्पों के हार, अनेक प्रकार के बहुमूल्य जेवर और वस्त्र तथा अनेक प्रकार से सजाता रहा है। इसी इन्द्रिय-भोग की सामग्री को इकट्ठा

करके अनन्त काल बीत गया है । इसी के मोह से यह आत्मा चतुर्गति दुःख के भ्रम में पर-बुद्धि के द्वारा परिणमन करके दुखी हो रहा है। कभी भगवान वीतराग देव के कहे हुए वचन पर रुचि-पूर्वक श्रद्धान करके अपने आत्मा में स्वपर का ज्ञान नहीं किया। आत्मा का सच्चा शृंगार रत्नत्रय ही है। अर्थात् रत्नत्रय ही आत्मा का एक अलंकार है। जब तक इस आत्मा को सच्चे रत्नत्रय अलंकार से सुसज्जित नहीं किया जाता, तब तक आत्मा पूजनीय नहीं हो सकता। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है कि—

> सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स हि कामभोगबंधकहा ।
> एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥१॥

संसारी जीव काम, विषय भोग तथा कर्म-बन्ध की कथा करते रहते हैं। यद्यपि विषय भोग आत्मा का अत्यन्त अनिष्ट करने वाले हैं और ये अनन्त बार पहले सुनने में आये हैं,अनन्त बार परिचय में भी आये हैं तथा अनन्त बार अनुभव में भी आ चुके हैं। यह जीव-लोक संसार चक्र में स्थित है। जो निरन्तर अनन्त बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच परिवर्तन करता रहता है। समस्त लोक पर एकछत्र राज्य करने वाला बलवान मोह जीव को बैल की भांति जोते हुए है। वेग से बढ़ी हुई तृष्णा के संताप से जिसके अन्तरंग में क्षोभ और पीडा हुई है,ऐसा यह संसारी जीव मृग-तृष्णा के समान संतप्त होकर इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है। इतना ही नहीं किन्तु दूसरे जीवों को भी कह कर इन्द्रिय विषय

अंगीकार कराता है । इसलिए काम भोग की कथा तो सबको सुख से प्राप्त है।

अतः भिन्न आत्मा का जो एकत्व है वह यद्यपि सदा प्रकट रूप से अन्तरंग में प्रकाशमान है, तो भी वह कषायों के साथ एक रूप हुए के समान दीखता है। अतः आत्मा का एकत्व आच्छादित हो रहा है। इस प्रकार अपने में अनात्मज्ञता होने से यह जीव कभी भी अपने आपको स्वयं नहीं जानता और न इसने आत्मा के जानने वाले सन्तों की सेवा ही कभी की । इसलिए वह एकत्व की कथा संसारी जीव को न कभी सुनने में आई, न कभी परिचय में आई और न कभी अनुभव में ही आई।

यद्यपि वह एकत्व निर्मल भेदज्ञान रूप प्रकाश के द्वारा प्रकट देखने में आता है, तो भी पूर्वोक्त कारणों से इस भिन्न आत्मा का एकत्व दुर्लभ है। इसलिए ग्रन्थकार ने मूल श्लोक में प्रकट किया है कि अनादि काल से मैंने अपने शरीर को ही अपनी सर्वस्व निधि समझ कर और उसी को अपने सुख का साधन समझ करके रात दिन उसी की रक्षा के निमित्त अनन्य उद्यम किया है। अनेक सामग्री इकट्ठी की, अनेक द्रव्य जुटाये, अनेक प्रकार की शृंगार की वस्तुएं लाकर इस शरीर को सजाया तो भी ये शृंगार, ये शरीर मेरे से भिन्न होने के कारण ये सभी अमंगल हो रहे हैं और मुझे अशांति देनेवाले हुए हैं। अनादि कालसे संसारी आत्मा इसी पर-वस्तु इन्द्रिय भोग के उलझन में पड़कर अपने अमूल्य नाशवान क्षणिक शरीर में पड़ी हुई रत्नत्रय धर्म रूप निधि का अन्वेषण नहीं कर सका और

उस रत्नत्रय आत्मा को देख नहीं पाया। इसलिए हे भगवन्! मुझमें आत्म-शृंगार करने की, आत्मानुभव करने की, आत्म-मनन करने की, आत्मा में रुचि होने की भावना, आत्म-उन्नति की भावना, आत्मा से लगे हुए कर्म रूपी मैल को धोकर उस मूल स्वरूप को अनुभव करने की भावना जाग्रत हो। उस रत्नत्रय की आराधना करके उसी रत्नत्रय से मेरे आत्मा का शृंगार करने की भावना मेरे अन्दर निर्माण हो, ऐसी मैं आपके पवित्र चरण-कमलों में बार बार भावना करता हूँ।

आत्म-शृंगार करने की भावना का आशय यह है कि मेरे हृदय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रय का प्रादुर्भाव हो, जिससे सब अनात्मीय भाव दूर होकर शुद्ध आत्मिक भाव की उपलब्धि हो सके। रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर ही आत्मा से मोह रूप अन्धकार का नाश हो सकेगा और स्वात्मानुभव हो सकेगा। स्वात्मानुभव करने पर फिर संसार के किसी पदार्थ में कोई रुचि नहीं रह जाती और न तब संसार के प्रति कोई आकर्षण ही रह जाता है। स्वात्मानुभव का तात्पर्य है, आत्मा के उस निजानन्द का अनुभव, जो इन्द्रियों के अगोचर है, जो बचनों से कहा नहीं जा सकता और जिसे केवल आत्मा ही आत्मा में अनुभव करता है।

यह संसारी जीव पुद्गल को अपना मानकर उसके शृंगार की तो अनादि काल से चिन्ता करता आ रहा है, किन्तु इसने आत्म-शृंगार करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। आत्म-शृंगार का प्रसंग आने पर यह दीर्घसूत्री बनकर विचार करता है कि यह कल कर

लूंगा, परसों कर लूंगा, किन्तु इसके कल और परसों कभी नहीं आ पाते और भामण्डल के समान विचार ही विचार में यह अमूल्य मनुष्य पर्याय गंवा देता है।

वैराग्य शतक मे भी कहा है कि—

अज्जं कल्लं परं परारि, पुरिसा चिंतंति अप्प संपत्ति।
अंजलिगयं व तोयं, गलंत माउं न पिच्छंति॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष "आत्म-सम्पत्ति यानी आत्म-धर्म को आज, कल, परसों (तीसरे दिन), नरसों (चौथे दिन) प्राप्त कर लेंगे" ऐसा सोचते रहते हैं। अंजुलि (हाथों) में भरे हुए पानी की तरह अपनी प्रतिक्षण गलती हुई आयु को नहीं देखते।

जैसे अंजुलि में भरा हुआ पानी अंगुलियों के छेदों में से बूंद बूंद टपक कर समाप्त हो जाता है, उसी तरह आयु भी प्रतिक्षण गलकर समाप्त हो जाती है। मोही पुरुष उस ओर ध्यान नहीं देता। आज-कल-परसों के आलस विचार में अपनी आयु समाप्त कर डालता है। इसलिये आचार्य कहते है—

जं कल्ले कायव्वं तं अज्जं चिय करेह तुरमाणा।
बहु विग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिक्खेह॥

हे अज्ञानी मूढ प्राणियो! जो धर्म-काम कल के करने योग्य है, उस काम को आज ही करो और जल्दी से करो क्योंकि जब शरीर समाप्ति का मुहूर्त निकट आ जायेगा, तब एक क्षण भी रह न सकेगा। यह शरीर कर्माधीन होने के कारण इसमें हजारों विघ्न एकत्रित होते हैं। उस समय अपने आत्म-साधन करने में अनेक

बाधायें उत्पन्न होती हैं । इसलिए धर्म काय पहले करो । अपनी आत्मा को संसार गर्त से ऊपर उठाने के लिए साधन बनालो और विलम्ब न करो, ऊपर की गाथा का यह सार है ।

भावार्थ—मोह के उदय से यह जीव भोग विलास से प्रेम करता है, संसार के पदार्थ इसे प्रिय लगते हैं। नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषण, अलंकार, पुष्पमाला आदि से यह अपने को सजाता है,शरीर को सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है, तेल मर्दन, उवटन, साबुन आदि सुगन्वित पदार्थों द्वारा शरीर को स्वच्छ करता है। वस्तुतः ये क्रियाएं मिथ्या हैं। क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्र है कि इसमें स्वच्छता किसी भी वाह्य साधन से नहीं आ सकती। केशर, चन्दन, पुष्प, सुगन्धित मालाऐं शरीर के स्पर्शमात्र से अपवित्र हो जाती हैं। अतः यह शरीर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करने से अलंकृत नही हो सकता। वास्तव में शरीर की शोभा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारण करने से ही हो सकती है। क्योंकि अनित्य पदार्थों के द्वारा इस अनित्य शरीर को अलंकृत नही किया जा सकता। यह प्रयास इसी प्रकार व्यर्थ माना जायगा जैसे कि कीचड़ लगे पांव को पुनः पुनः कीचड़ से धोना । अतः इस मलवाही अनित्य शरीर को प्राप्त कर आत्म-कल्याण के साधनीभूत रत्नत्रय को धारण करना प्रत्येक जीव का कर्तव्य है। जो साधक सांसारिक विषय कषायों का त्याग करना चाहता है, उसे भौतिक ऐश्वर्य, यौवन, शरीर आदि के वास्तविक स्वरूप का विचार करना आवश्यक है। इनका यथार्थ विचार करने से विषय-कषायों की

निस्सारता प्रत्यक्ष हो जाती है, उनका खोखलापन सामने आ जाता है और जीव के परिणामों में विरक्ति आ जाती है। जब तक संसार के पदार्थों से विरक्ति नहीं होती, तब तक उनका त्याग सभव नहीं। भावावेश में आकर कोई व्यक्ति क्षणिक त्याग भले ही कर दे, पर स्थायी त्याग नहीं हो सकता।

अज्ञानी प्राणी संसार के मनमोहक रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है,उसके यथार्थ रूप को नहीं समझता है। इससे अपने इस मानव जीवन को व्यर्थ खो देता है। यह मनुष्य-पर्याय बड़ी कठिनता से प्राप्त हुई है, उसका उपयोग आत्म-कल्याण के लिए अवश्य करना चाहिए। कविवर बनारसीदास ने अपने नाटक समयसार के निम्न पद्य में विषय भोगों में अपने जीवन को लगाने वाले व्यक्तियों के अज्ञान का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतंग जो ईंधन ढोवे।
कंचन-भाजन धूरि भरे शठ, मूढ सुधारस सों पग धोवे ॥
वे हित काग उडावन कारन, डारि उदधि मनि मूरख रोवे।
त्यों दुर्लभ नर देह बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवे ॥

जो व्यक्ति आत्म-कल्याण के लिए समय की प्रतीक्षा करता रहता है, उसे कभी भी अवसर नही मिलता। उसके सारे मनसूबों को मृत्यु समाप्त कर देती है, और वह कल्पता हुआ संसार से चल बसता है। संसारी जीव का चिन्तन सदा सांसारिक पदार्थों के संचय के लिए हुआ करता है, पर यमराज उसे बीच में ही दबोच लेता है।

अतः संसार से मोह को कम करना तथा सदा यह चिन्तवन करना कि संसार के सभी पदार्थ जिनको बड़े यत्न और कष्ट से संचित किया जाता है, यहीं रहने वाले हैं। ये एक कदम भी हमारे साथ नहीं जायेंगे। रत्नत्रय ही मुक्ति की प्राप्ति का साधन है। लक्ष्मी, यौवन, स्त्री, पुत्र, पुरजन, परिजन सभी क्षण-भंगुर है, विनाशीक हैं। मरने पर हमारे साथ पुण्य-पाप के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं जा सकती है, सभी भौतिक पदार्थ यहीं रह जायेंगे, ऐसा सोचना आत्मिक ज्ञान-प्राप्ति में सहायक है। जीव क्षणिक भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त कर अभिमान में आकर दूसरों की अवहेलना करता है, अपमान करता है तथा अपने को ही सर्व-गुण-सम्पन्न समझता है, पर उसे यह पता नही कि एक दिन उसका अभिमान चूर-चूर हो जायेगा। वह खाली हाथ आया है और खाली हाथ जायेगा, अपने साथ एक चिथड़ा भी नहीं ले जा सकता है। अतएव आत्म कल्याण के कारणभूत रत्नत्रय को धारण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है।

कवि ने इस पद्य में मंगलाचरण भी प्रकारान्तर से कर दिया है, उसने अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी, रत्नत्रय के धारक तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार करके रत्नाकर शतक को बनाने का संकल्प किया है। इस रत्नाकर शतक में संसार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त करने के साधन-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन किया जायगा, जिससे यह प्राणी अपना कल्याण भली प्रकार कर सके।

सम्यग्दर्शन—

तत्वं प्रीति मणक्के पुट्टलदुसम्यग्दर्शनंमच्चमा,
तत्वार्थंगळनोलदु भेदिपुदुसम्यग्ज्ञामा बोधर्दि ।
सत्वंगळकिडदं तुटोवि नडेयन्सम्यक्चारित्रं सुर-
त्नत्वंमूरि वुमुक्तिगोंद् रुपिदे ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

'जीवादि तत्वों के प्रति मन में श्रद्धा का उत्पन्न होना सम्यग्दर्शन है । उन तत्वों को प्रेम पूर्वक पृथक् २ जानना सम्यग्ज्ञान है और उस ज्ञान से प्राणीमात्र की रक्षा करना सम्यक्चारित्र कहलाता है ।' आपने ऐसा समझाया है। जिस प्रकार रत्न का स्वामी किसी को रत्न देकर उस रत्न के स्वरूप का वर्णन कर देता है, उसी प्रकार स्वीकार करने योग्य इस रत्नत्रय के आप अधिपति है । इन्हे देकर आपने इनके स्वरूप का वर्णन कर दिया है ।

विशेष विवेचन:—कवि ने इस श्लोक में सम्यग्दर्शन का महत्व, बतलाया है । सबसे पहले भगवान् वीतराग देव के कहे हुए सात तत्वों पर रुचि उत्पन्न होना उसको सम्यग्दर्शन कहा है । बाद में उन्हीं तत्वों की अच्छी तरह से जानकारी होने को सम्यग्ज्ञान कहा है । उसके बाद आत्मशुद्धि के लिए स्व-पर दया का आचरण करना उसको सम्यक्चारित्र कहा है । और इन तीनों की एकता होने को मोक्षमार्ग बताया है ।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

परमार्थभूत सप्त तत्वों का तथा देव, शास्त्र, गुरुओं का निःशंकादि अष्ट गुण सहित, तीन मूढ़ता रहित, श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

जो भव्य जीव इस सम्यग्दर्शन को ग्रहण करता है, वह भले ही संसार में रहता है किन्तु उसके हृदय में संसार नही रहता, अतः सम्यग्दृष्टि इस संसार से थोड़े दिन में आत्म सुख की प्राप्ति कर लेता है।

संसार में जीव दो प्रकार के हैं—भव्य और अभव्य। जो जीव आत्म शुद्धि यानी मुक्ति की योग्यता वाले हैं वे भव्य हैं। उन्हीं को मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिनमें वह योग्यता नही होती, वे अभव्य हैं।

प्रश्न—मोक्ष पाने का प्रधान उपाय क्या है ?

उत्तर—मोक्ष पाने का प्रधान अमोघ उपाय आत्म ध्यान है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धारक मुनि की चित्तवृत्ति का आत्मचिन्तन पर केन्द्रित होना ध्यान कहलाता है। संशय-शंका आदि समस्त दोषों से रहित होकर सात तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से तीन प्रकार का है। निसर्गज तथा अधिगमज के भेद से दो प्रकार का भी है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं। इनका लक्षण भली प्रकार समझ कर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

जीव का लक्षण उपयोग है। वह उपयोग ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है । ज्ञानोपयोग के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये आठ भेद हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये चार दर्शनोपयोग है। इनसे ससारी आत्मा पहचाना जाता है।

आत्मा पृथ्वी, जल आदि पंचभूतों से नहीं बना है। यदि पंचभूतों से आत्मा की उत्पत्ति मानी जायेगी तो मरने पर पंचभूतमय शरीर तो रहता ही है। तब उस मृतक शरीर में भी आत्मा मौजूद रहना चाहिए. किन्तु उसमें आत्मा नहीं रहता । आटा. कोदों, महुआ, जल आदि मद के कारण हैं। यदि इनको अलग अलग कर दिया जाय तो भी जिस प्रकार इनमें मद-शक्ति (नशा) विद्यमान रहती है उसी प्रकार यदि आत्मा को इस पंचभूत शरीर स्वरूप माना जाय तो शरीर के प्रत्येक अंग में सदा आत्मा का कुछ न कुछ अंश रहना चाहिए । और शरीर से जुदा होने पर भी पहले के ही समान आत्मा को कार्य करना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है। पांच या चार भूतों के मिलाप से चैतन्य की उत्पत्ति मानने वाला व्यक्ति वास्तव में बालू आदि से तेल को उत्पन्न करने जैसी बात करता है । अगर इस प्रकार मान लिया जाय तो शरीर को तरह चैतन्य जीव भी जड़ माना जायेगा। फिर तो जड़ मानने से जगत में चैतन्य पदार्थ कोई न रहेगा और संसार मे सभी जड़ पदार्थ रह जायेंगे। अतः आत्मा भौतिक पदार्थ नहीं है, वह चैतन्यमय है। उसमें ज्ञान और दर्शन उपयोग हैं। जीव से भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी

अजीव हैं। भौतिक पदार्थों से भिन्न आत्मा को अरूपी चेतन मानने पर ही स्वर्ग और मोक्ष, पुण्यऔर पाप की व्यवस्था बन सकती है। इसलिए यह मानना चाहिए कि जीव अनादि निधन है, दूसरी गति से आता है और इस गति से दूसरी गति मे जाता है एव अपने कर्म से परतन्त्र है।

अनेक प्रत्यक्षवादी नास्तिक मानते है कि "जो पदार्थ इन्द्रिय-गोचर है, वही सत्तात्मक पदार्थ है इसलिए भौतिक शरीर ही आत्मा है। इसके अतिरिक्त आत्मा अन्य कोई पदार्थ नही है।" ऐसे मनुष्य भी अपना तथा पराया किसी प्रकार का हित नही कर सकते।

बौद्धमत वाले आत्मा को क्षणिक विज्ञान स्वरूप मानते है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के क्षणिक मानने पर कर्म करने वाला दूसरा और उसका फल भोगने वाला दूसरा ठहरेगा। पहली जानो हुई बात का स्मरण नहीं रहेगा जिससे संसार का सब कार्य बंद हो जायगा।

इसलिए यह जीव द्रव्य स्वरूप है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, कर्ता है, भोक्ता है, कर्मों का नाश करनेवाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। असंख्यात प्रदेशी है, कर्माधीन भी है, संकोच विस्तार दोनों अवस्था से रहित भी है और संसारी आत्मा शरीर के प्रमाण भी है। वह स्पर्श वर्ण रस गन्ध आदि पौद्गलिक गुणों से रहित है।

ब्रह्म अद्वैतवादी समस्त जगत को एक ब्रह्म रूप ही मानते हैं। समस्त शरीरों में उसी ब्रह्म का अंश मानते हैं। यदि ऐसा हो तो जो काम एक करेगा वही सबको करना पड़ेगा। परन्तु यह बात है

नहीं। जीव सामान्य की दृष्टि से लक्षण की अपेक्षा एक हैं परन्तु विशेष यानी व्यक्तित्व की अपेक्षा अनन्त हैं। अपने अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल जीवों को संसार में भोगना पड़ता है। संसार में प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो कोई अपराध करता है उसी को उस अपराध का दण्ड मिलता है। जीव अनन्त हैं, वे अपने अपने स्थान पर मौजूद है, उन्हें अपने अपने पुण्य और पाप का फल अलग अलग भोगना पड़ता है।

यदि आत्मा को शरीर से अधिक परिमाणवाला माना जायेगा तो शरीर के बाहर भी सुख दुःख का अनुभव होना चाहिये। किन्तु ऐसा प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से होता नहीं। इसलिए उसे शरीर-परिमाण ही मानना होगा।

चार गति, पांच इन्द्रियां, छह काय, पन्द्रह योग, तीन वेद, पच्चीस कषाय, आठ ज्ञान, सात संयम, छह सम्यक्त्व, छह लेश्या, चार दर्शन, सैनी असैनी भव्य और अभव्य, आहार अनाहार इन चौदह मार्गणाओं के अनुसार ससारी आत्मा का ज्ञान करना चाहिए और अनन्त दर्शन आदि गुणों से युक्त, मुक्त जीवों की भी सत्ता समझनी चाहिए।

वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उनमें से किसी एक धर्म को प्रधानता से जानने वाले ज्ञान का नाम 'नय' है। नयों के मूल भेद दो हैं— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। ये दोनों एक दूसरे से अपेक्षित हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत इन दोनों नयों के भेद है। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्यार्थिक

हैं। ये केवल द्रव्य सामान्य को विषय करते हैं । और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत ये चार नय पर्यायार्थिक हैं। क्योंकि ये केवल पर्याय को विषय करने वाले हैं।

समस्त द्रव्य भूत भविष्य वर्तमान पर्यायों से अन्वय रूप हैं। अपने किसी भी पर्याय से कोई द्रव्य भिन्न नहीं है। ऐसी स्थिति में जो भूत भविष्य पर्यायों में वर्तमान का संकल्प करने वाला हो उसे नैगमनय कहते हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य रोटी बनाने की सामग्री इकट्ठी कर रहा हो। उससे किसी ने पूछा कि ये क्या करते हो ? उत्तर में उसने कहा कि रोटी बनाता हूँ। किन्तु यहाँ अभी रोटी बनाने रूप पर्याय प्रगट नहीं हुई। वह केवल लकड़ी जल आदि रख रहा है। तथापि नैगम नय से ऐसा वचन कह सकता है कि मै रोटी बनाता हूं । अथवा कुल्हाड़ी लेकर कोई मनुष्य वन को जा रहा है। उससे किसी ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? उत्तर में उसने कहा कि तख्त लेने जा रहा हूँ। यद्यपि वहाँ पर तख्त रूप पर्याय मौजूद नहीं क्योंकि अभी तो जंगल में जायेगा और लकड़ी काट कर लायेगा तब तख्त बनायेगा। तथापि नैगम नय से इस प्रकार के वचन कहने में कोई दोष नहीं।

जो वस्तु की समस्त जाति या उसकी समस्त पर्यायों को संग्रह करके एक रूप कहे उसे संग्रह नय कहते हैं। जिस प्रकार द्रव्य कहने से उनके जीव अजीव और उनके भेद आदि को जान लेना।

संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को जो विधिपूर्वक भेद प्रभेद रूप से कहे वह व्यवहार नय है । जैसे द्रव्य दो प्रकार के हैं—जीव

और अजीव। गति की अपेक्षा जीव चार प्रकार के हैं—देव, नारकी मनुष्य, तिर्यंच। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल; अजीव द्रव्य हैं। इस प्रकार व्यवहार के साधक जितने भेद हो सकें, उनको जो बतावे, जाने, उसे व्यवहार नय कहते हैं।

जो नय अतीत और अनागत दो पर्यायों को छोड़ कर केवल वर्तमान को ग्रहण करे वह ऋजुसूत्र नय है। जिस प्रकार द्रव्य की पर्याय समय समय में पलटती रहती है। ऋजुसूत्र उसमें से एक समय मात्र की पर्याय को ग्रहण करता है। अतीत अनागत पर्यायों को ग्रहण नहीं करता।

लिंग, साधन, संख्या, पुरुष, काल, उपसर्ग के दोषों को दूर करने वाला शब्द नय है। जैसे नपुंसक लिंग ज्ञान शब्द का पुल्लिंग अवगम शब्द हो सकता है। इसी प्रकार तार का शब्द स्त्रीलिंग है, पुष्य शब्द पुल्लिंग है और नक्षत्र शब्द नपुंसक लिंग है। ये तीनों शब्द पर्यायवाची है। इस प्रकार पर्यायवाची शब्दों के दूसरे लिंग देने में किसी प्रकार का दोष नहीं आता। यदि शब्द नय न माना जाये तो स्त्रीलिंग को पुल्लिंग या नपुंसक लिंग कह दिया जायगा और तब इस प्रकार के दोषों की निवृत्ति नही हो सकती। तथा 'पर्वतमधिवसति सेना' अर्थात् सेना पर्वत पर निवास करती है। यहाँ पर पर्वत आधार कारक है, इसलिए वहाँ पर्वतं द्वितीया न होकर पर्वते यह सप्तमी विभक्ति होनी चाहिए थी तथापि शब्द नय से वैसा प्रयोग न होने से भी कोई दोष नहीं आता। 'एहि मन्ये रथे यास्यसि नहि यास्यसि। यातस्ते पिता' व्यंग्य में कोई कहता है कि क्या तुम

चत्तारि मंगलं - अरिहंता मंगलं,
सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं,
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं॥
चत्तारि लोगुत्तमा -
अरिहंता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो॥
चत्तारि सरणं पवज्जामि -
अरिहंते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि,
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥

रथ पर चढ़कर जाओगे ? जा लिये, तुम्हारे पिता भी कभी रथ पर चढ़े हैं। इस वाक्य में उत्तम पुरुष है। मन्ये की जगह मध्यम पुरुष 'मन्यसे, मध्यम पुरुष 'यास्यसे' के स्थान पर उत्तम पुरुष होना चाहिए। इसलिए यदि शब्द नय न माना जायेगा तो पुरुष का दोष आ सकता है। पर इसके मानने से कोई दोष नही है। 'विश्वदृश्वा-स्त पुत्रो जनिता' ये ऐसे पुत्र को जनने की जिसने विश्व देख लिया है। यहाँ पर विश्वदृश्वा यह शब्द अतीत काल वाचक है और 'जनिता' यह भविष्यत काल वाचक है। इस रीति से ऐसे प्रयोग में काल से दोष आता है तथापि शब्द नय से यह दोष नहीं हो सकता है। यथा स्था (तिष्ठति) इस परस्मै पद धातु से (स तिष्ठते) प्रतिष्ठते यह आत्मने पद का प्रयोग कर दिया जाता है। यदि शब्द नय न माना जाये तो परस्मै पद की जगह आत्मने पद का प्रयोग नही हो सकता। क्योंकि विरोध है परन्तु शब्द नय के स्वीकार करने से इस प्रकार के उपसर्ग का विरोध नही हो पाता।

अनेक अर्थों को छोड़कर जो एक ही अर्थ में प्रसिद्ध शब्द को कहे या जाने उसे समभिरूढ नय कहते हैं। इस प्रकार दो शब्दो के समान एक शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं । यह नय प्रसिद्ध अर्थ को ही ग्रहण करता है जैसे गो शब्द के इन्द्रिय आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु गो का प्रसिद्ध अर्थ गाय है। अतः इस नय से वही अर्थ लिया जायगा।

जिस काल में जो क्रिया करता है, उसको उस काल में उसी नाम से जाने व कहे उसे एवंभूत नय कहते हैं। जिस प्रकार देवों के

स्वामी इन्द्र को जब वह परम ऐश्वर्य सहित हो, तभी इन्द्र कहना, अन्य अवस्था में नही कहना। जिस काल में शक्ति रूप क्रिया करे या पुर के नाश रूप क्रिया को करता हो, उसी काल में शक्र या पुरन्दर कहना, अन्य काल में नहीं कहना।

जितने वचन मार्ग है उतने ही नय हैं, इसलिए इनकी निश्चित संख्या नहीं कही जा सकती है। यदि कोई एकान्तवादी ठीक भगवान जिनेश्वर द्वारा कहे हुए नय मार्ग का मनन नहीं करता है, इसको स्वीकार नही करता है, तो वह अपने निश्चय नय की प्राप्ति नही कर सकता है। इसलिए आचार्यो ने नय मार्ग का अवलम्बन करने की अत्यन्त आवश्यकता बताई है। बिना नय के किसी वस्तु की सिद्धि नही हो सकती है। जिन्होने नय मार्ग छोड़ा, उन्होने केवल ऊपर की शाखा को पकड़ कर नीचे की जड़ को काट दिया ऐसा समझना चाहिए।

इस नय मार्ग को बतलाने वाली भगवान की जो वाणी है या उसके अन्तर्गत पंच परमेष्ठी स्वरूप पंच गुरु है, उन्ही की वाणी जिनवाणी है। उन्हीं के अनुसार चलने वाले, उसी पद को ग्रहण करने वाले गुरु है। उन पर जब तक श्रद्धा न रखे, नय-मार्ग का अवलम्बन न करे, ठीक तरह से मन मे रुचि न रखे, तब तक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति या रुचि इनके अन्दर नहीं हो सकती है। सम्यग्दर्शन को मलीन करने वाले जितने दोष अर्थात् २५ मल दोष हैं, जब तक उनको दूर नही करेगा, संशय विभ्रम आदि पाँच प्रकार के मिथ्यात्व है, जब तक उनको दूर नहीं करेगा, तब तक आत्मा के

अन्दर अश्रद्धान उत्पन्न करने वाले जो मल दोष हैं वे दूर नहीं हो सकते हैं। इसलिए संसार-दुःख से जो जल्दी छुटकारा पाने की इच्छा रखता है उसको सबसे पहले इन व्यवहार नयों को ठीक से समझ कर आत्म प्रतीति कर लेनी चाहिए, उसका ज्ञान कर लेना चाहिए, श्रद्धान पूर्वक उसका आचरण करना चाहिए, तब ही मोक्ष मार्ग बन सकता है, अन्यथा नहीं बन सकता।

कहा भी है कि—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृत(त्यु) रोग निवारण॥
कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माहिं त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते।
मुनि व्रत धार अनन्त वार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

ससार में सम्यग्ज्ञान के समान कोई सुख देने वाला पदार्थ नहीं है। जन्म, जरा और मृत्यु इन रोगों को दूर करने के लिए ज्ञानरूप अमृत ही महान औषधि है। ज्ञान के बिना जा कर्म करोड़ों जन्मों तक तपस्या करने पर नष्ट होते हैं, उन्हें ज्ञानी मन, वचन, काय को वश कर गुप्तियो द्वारा क्षण भर में ही नष्ट कर देता है। अनन्त बार नव ग्रैवेयकों में पैदा होने पर भी आत्मज्ञान के बिना इस जीव को कुछ सुख नही मिला।

रुपया, पैसा, कुटुम्बी, हाथी, घोड़ा, मोटर, महल, मकान आदि कोई भा काम नहीं आने वाला है, सब यहीं पड़े रह जायंगे। आत्म

ज्ञान ही कल्याण करने वाला है। विषय वासना रूपी आग को ज्ञान रूपी जल ही शान्त कर सकता है। क्योंकि स्व-पर-भेद विज्ञान द्वारा यह जीव शुद्ध आत्म-स्वरूप का अनुभव कर सकता है।

निश्चय सम्यग्ज्ञान अपने आत्म स्वरूप को जानना ही है। जिसने आत्मा को जान लिया, उसने सबको जान लिया, जो आत्मा को नही जानता वह सब जानते हुए भी अज्ञानी है और मै सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे समान कोई ज्ञानी नहीं, ऐसा समझना केवल अपने आपको धोखा देना है। इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य ने व्यवहार नय का साधन निश्चय नय है और व्यवहार के बिना निश्चय की प्राप्ति नही हो सकती है, ये ही बताया है। जिसने आत्मा को सब दृष्टिकोणों से जान लिया है उसने सब पदार्थों को सब प्रकार से जान लिया है। जिसने सब प्रकार से सब भावों को देखा है वही आत्मा को अच्छी तरह जानता है। अथवा सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने आत्म स्वरूप को अच्छी तरह से जाना जा सकता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित गुप्ति आदि का अनुष्ठान करना, उत्तम क्षमादि दस धर्म का पालन करना यह सम्यक्चारित्र है। वस्तुतः विषय कषाय, वासना, हिंसा, झूठ, कुशील आदि से निवृत्ति होने को सम्यक्चारित्र कहा गया है। चारित्र वस्तुतः आत्म स्वरूप है। यह कषाय और वासनाओं से सर्वथा रहित है। मोह क्षोभ से रहित जीव की जो निर्विकार परिणति होती है, जिससे जीव में साम्य भाव की उत्पत्ति होती है, वह चारित्र है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्र के बल से ही अपना सुधार या बिगाड़ करता है।

अतः मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सदा अच्छे रूप में रखना आवश्यक है। मन में किसी का बुरा नहीं सोचना, वचन से किसी को बुरा नहीं कहना तथा शरीर से कोई बुरा काम नही करना यह सदाचार है।

विषय, तृष्णा और अहंकार की भावना मनुष्य को सम्यक आचरण करने से रोकती है। विषय तृष्णा की पूर्ति के लिए ही व्यक्ति प्रतिदिन अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, चोरी बेईमानी, हिंसादि पापों को करता है। तृष्णा को शांत करने के लिए वह स्वयं अशांत हो जाता है तथा भयंकर से भयंकर पाप कर डालता है। अतः विषय-निवृत्ति रूप चारित्र को धारण करना परम आवश्यक है। गुणभद्र आचार्य ने तृष्णा का बहुत सुन्दर विवेचन किया है—

> आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
> तत्कियद् कियदायाति वृथा वै विषयैषिता॥

'प्रत्येक प्राणी का आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि इसके सामने समस्त विश्व का वैभव भी अणु के तुल्य है। इस स्थिति में यदि संसार की सम्पत्ति का बटवारा किया जाय तो प्रत्येक प्राणी के हिस्से में कितना आयेगा? अतः विषय तृष्णा व्यर्थ है। रत्नत्रय ही सच्ची शांति देनेवाला है, यही सच्चा सुखदायक है।

तृष्णा के सम्बन्ध में एक लेखक ने वास्तविक चित्रण करते हुए लिखा है कि मनुष्य की आयु जैसे जैसे क्षीण होती जाती है, वह वैसे वैसे वृद्ध होता जाता है, उसके दांत, आंख, केश सभी जीर्ण

हो जाते हैं, किन्तु केवल उसकी तृष्णा ही निरन्तर तरुण होती जाती है। भोग की शक्ति भले ही न रहे, किन्तु भोग की लालसा कभी नहीं जाती। जितनी लालसा और तृष्णा मन में उठती है, यदि उसकी कभी पूर्ति हो भी जाय, तब भी क्या निराकुल शांति मिल सकती है? कभी नहीं। एक लालसा की पूर्ति होने पर वह सहस्र-गुनी होकर नये रूप मे उत्पन्न हो जाती है। इस तरह सारा जीवन लालसाओं को संजोने, उनको पूरा करने और पूरा होने पर नई लालसाओं को जन्म देने अथवा पूरा न होने पर उनके लिये कलपने में ही बीत जाता है। एक क्षण को कभी शान्ति नहीं मिलती, चैन नहीं मिलता। किन्तु जिस रत्नत्रय से शान्ति और चैन मिल सकता है, उसको प्राप्त करने की कभी चेष्टा ही नही करता।

अब तत्त्व कितने हैं यह बताते हैं—

मिगे षड् द्रव्यमनस्तिकाय मेनिपैदं तत्वमेळं मनं।
वुगलोंवत्तु पदार्थमं तिळिदोडं तन्नात्मनो मेय्य दं ॥
दुगदिं वेरोडलेन चेतनमे जीवं चेतनं ज्ञानरू।
पिडिगार्येदरिंदिर्दने सुखियला ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल ये छः द्रव्य हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये पांच अस्तिकाय हैं। जीवतत्व, अजीवतत्व, आस्रवतत्व, बंधतत्व, संवरतत्व, निर्जरातत्व और मोक्षतत्व ये सात

तत्व हैं। इनमें पुण्य और पाप के मिलने से नौ पदार्थ बन जाते है। इन सभी बातों को भली भांति जानकर जो श्रद्धा करता है तथा अपनी आत्मा को शरीर से अलग समझता है वही अपना कल्याण करता है। शरीर अचेतन है, अर्थात् इस भेद का ज्ञाता ही सुखी होता है।

कवि ने इस श्लोक में तत्वों का वर्णन किया है। जो पंचास्तिकाय, छः द्रव्य, सात तत्व और नौ पदार्थों का मनन चिंतन करता है वही सम्यग्दृष्टि श्रावक है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों के समूह का नाम लोक है। ये द्रव्य स्वभावसिद्ध, अनादि निधन और लोक के कारण है। द्रव्य की परिभाषा गुणपर्ययवद्द्रव्यम् अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय हैं, वह द्रव्य है इस रूप में बतायी गई है। प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव परिणमनशील है तथा द्रव्य में परिणाम उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही गुण है और गुण से उत्पन्न अवस्था पर्याय कहलाती है। गुण कारण है और पर्याय कार्य है। प्रत्येक द्रव्य में शक्ति रूप अनन्त गुण है। द्रव्य स्वभाव का परित्याग न करता हुआ उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्य सहित है। जैन दर्शन में द्रव्य को कूटस्थ नित्य या निरन्वय विनाशी नही माना गया है। जीव पुद्गल आदि छः द्रव्यों से पृथक संसार में कोई वस्तु नहीं है। जितने भी जड़ चेतनात्मक पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे सब इन्हीं द्रव्यों के अन्तर्गत हैं।

जिस प्रकार अन्य दर्शनों में द्रव्य और गुण दो स्वतन्त्र पदार्थ माने गये हैं, इस प्रकार जैन दर्शन में नही है। जैन दर्शन में गुण और

गुणविकार-पर्याय इन दोनों के समुदाय का नाम द्रव्य बताया है। कुन्दकुन्द आचार्य ने गुण और पर्यायों के आश्रय का नाम ही द्रव्य बतलाया है।

> दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
> गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥
> उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
> विगमुप्पादधुवत्तं करोंति तस्सेव पज्जाया॥

द्रव्य का लक्षण सत् या उत्पाद व्यय, ध्रौव्यात्मक अथवा गुण और पर्यायों का आश्रयात्मक बतलाया गया है। द्रव्य की न उत्पत्ति होती है न नाश होता है। वह तो सत् स्वरूप है पर उसकी पर्यायें सदा उत्पत्ति विनाश ध्रौव्यात्मक है। अर्थात् द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है किन्तु उसकी पर्यायें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। इसीलिये द्रव्य को नित्यानित्यात्मक माना गया है।

जीव—आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त है, ज्ञान-दर्शन वाला है, चैतन्य है, ज्ञानादि पर्यायों का कर्ता है, कर्म फल भोक्ता है, स्वयं प्रभु है। यह जीव अपने शरीर प्रमाण है।

कुन्दकुन्द आचार्य ने जीव द्रव्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि—

> अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
> जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

जिसमें रूप, रस, गंध न हो तथा इन गुणों के न रहने से जो अव्यक्त है, शब्द रूप भी नहीं है, किसी भौतिक चिन्ह से भी जिसे

कोई नहीं जान सकता है, जिसका न कोई निर्दिष्ट आकार है, उस चैतन्य गुण विशिष्ट द्रव्य को जीव कहते हैं।

व्यवहार नय से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोछ्वास इन चार प्राणों द्वारा जो जीता है, पहले जिया था और आगे जियेगा, उसे जीव कहते है। निश्चय नय से जिसमें चेतना पाई जाय, वह जीव है। जीव द्रव्य के शुद्ध और अशुद्ध या भव्य और अभव्य ये दो भेद हैं। जीव द्रव्य के साथ जब तक कर्म रूपी बीज का संबंध है तब तक भवांकुर पैदा होता रहता है और जन्म मरण आदि नाना रूप से विभाव परिणमन होता रहता है। ये ही जीव की अशुद्ध अवस्था है। इस अवस्था को दूर करने के लिए जीव संयम, गुप्ति, समिति, चारित्र आदि का पालन करता है तथा संवर और निर्जरा द्वारा घातिया कर्मों को क्षीण करके शुद्ध अवस्था प्राप्त करता है। जीव की यह अवस्था भी बिल्कुल शुद्ध नहीं है क्योंकि अघातिया कर्म अभी शेष हैं। अतः पूर्ण शुद्ध अवस्था मोक्ष होने पर होती है। अशुद्ध जीव संसारी और शुद्ध जीव मुक्त कहलाता है।

जैन दर्शन में प्रत्येक जीव की सत्ता स्वतन्त्र रूप से मानी गयी है, अतः यहाँ जीवों की अनेकता है।

पुद्गल द्रव्य—'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' अर्थात् जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श यह चार गुण पाये जायें उसको पुद्गल कहते है। अभिप्राय यह है कि जो हम खाते हैं, पीते है, छूते हैं, सूंघते हैं वह सब पुद्गल है। छहों द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है। शेष पांच द्रव्य अमूर्तिक हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में जितने

पदार्थ आते है, वे सब ही पदार्थ पुद्गल हैं। हमें जितने पदार्थ दिख-लाई देते हैं वे सभी पुद्गल हैं। पुद्गल का क्षेत्र बहुत व्यापक है। जीव द्रव्य के अनन्तर पुद्गल का महत्वपूर्ण स्थान आता है क्योंकि जीव और पुद्गल के योग से संसार चलता है। इन दोनों का संयोग अनादि काल से चला आ रहा है। पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं-अणु और स्कन्ध। अणु पुद्गल के सबसे छोटे टुकड़े को कहते हैं, वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता है, केवल स्कन्ध रूप कार्य को देखकर इसका अनुमान किया जाता है।

दो या अधिक परमाणुओं के सम्बन्ध से जो द्रव्य तैयार होता है उसे स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध द्रव्य के आगम में २३ भेद बतलाये गये हैं। पुद्गल द्रव्य की पर्यायें निम्न बतलाई गई है।

सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाण भेद तमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चांदनी और धूप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

प्रकारान्तर से पुद्गल के छः भेद है। बादरबादर, बादर, बादर सूक्ष्म, सूक्ष्म बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म सूक्ष्म। जिसे तोड़ा फोड़ा जा सके तथा दूसरी जगह ले जाया जा सके उसे बादर बादर स्कन्ध कहते है जैसे पृथ्वी काष्ठ पाषाणादि। जिसे तोड़ा फोड़ा न जा सके पर अन्य स्थान पर ले जाया जा सके उस स्कन्ध को बादर कहते है-जैसे जल तैल आदि। जिस स्कन्ध का तोड़ना फोड़ना या अन्यत्र ले जाना न हो सके पर नेत्रों से देखने योग्य हो उसे बादर

सूक्ष्म कहते हैं जैसे छाया चांदनी धूप आदि । नेत्र को छोड़कर शेष चारों इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गल स्कन्ध को सूक्ष्म बादर कहते हैं जैसे शब्द, रस, गन्ध आदि । जिसका किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न हो सके उसको सूक्ष्म कहते हैं जैसे कर्म । जो स्कन्ध रूप नहीं है ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओं को सूक्ष्म सूक्ष्म कहते हैं । इस प्रकार भाषा, मन, शरीर, कर्म आदि भी पुद्गल के अन्तर्गत हैं।

धर्म द्रव्य—इसका अर्थ पुण्य नहीं है किन्तु यह एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो जीव और पुद्गलों के चलने में सहायक होता है। छः द्रव्यों मे क्रियावान जीव और पुद्गल हैं। शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। इनमें हलन चलन नहीं होता है। यह द्रव्य गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को सहायक होता है, प्रेरणा करके नहीं चलाता है। यह अमूर्तिक द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। यद्यपि चलने की शक्ति द्रव्य मे वर्तमान है पर बिना धर्म द्रव्य की सहायता के नहीं चल सकता है।

अधर्मद्रव्य—इसका अर्थ भी पाप नही है। किन्तु यह भी एक स्वतन्त्र अमूर्तिक द्रव्य है। यह ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को ठहरने में सहायक होता है। यह भी प्रेरणा कर किसी को नही ठहराता, पर ठहरते हुए जीव और पुद्गलों को सहायता देता है। इसकी सहायता के विना जीव, पुद्गलों की स्थिति नहीं हो सकती। यह बलपूर्वक प्रेरणा करके किसी को नही ठहराता है। इसका अस्तित्व समस्त लोक में वर्तमान है।

आकाशद्रव्य—जो सभी द्रव्यों को अवकाश देता है उसे आकाश

द्रव्य कहते हैं, यह अमूर्तिक और सर्व व्यापी है। आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। सर्व व्यापी आकाश के बीच में लोकाकाश है, यह अकृत्रिम अनादि निधन है। इसके चारों ओर सर्वव्यापी अलोकाकाश है। लोकाकाश में छः द्रव्य पाये जाते हैं और अलोकाकाश में केवल आकाश ही है। आकाश के इस विभाजन का कारण धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। इन दोनों के कारण ही जीव और पुद्गल लोकाकाश की मर्यादा से बाहर नही जाते।

काल द्रव्य—वस्तुओं की हालत बदलने में सहायक काल द्रव्य होता है। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार सभी द्रव्यों में पर्याय बदलने की शक्ति वर्तमान है। फिर भी काल द्रव्य की सहायता के बिना परिवर्तन नही हो सकता है। यह परिणमनशील पदार्थों के परिवर्तन में सहायक होता है। काल के दो भेद हैं—निश्चय काल और व्यवहार काल।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जुदे २ कालाणु स्थित हैं। ये रत्नों की राशि के समान अलग२ हैं। इन कालाणुओं को भी निश्चय काल कहते हैं। तथा इन कालाणुओं के निमित्त से ही प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने निश्चय काल को सिद्ध करते हुए लिखा है कि—

कालोत्तिय ववएसो सब्भावपरुवओ हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतर ट्ठाई॥

काल यह संज्ञा मुख्यकाल की बोधक है, क्योंकि बिना मुख्य के गौण अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह मुख्य काल

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य हैं तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्न ध्वंसी हैं। व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वसी है और भूत भविष्यत की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है।

समय, आवली, श्वासोच्छ्वास, स्तोक, घटी, प्रहर, दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मार, वर्ष, युग आदि को व्यवहार काल कहते है। व्यवहार काल की उत्पत्ति सौर जगत से होती है। अत: व्यवहार काल का व्यवहार मनुष्य क्षेत्र में ढाई द्वीप में ही होता है। क्योंकि मनुष्य क्षेत्र में ज्योतिषी देवों का गमन होता है। इस क्षेत्र के बाहर ज्योतिषीदेव स्थिर हैं।

इन छ: द्रव्यों में से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय हैं। काल को अस्तिकाय नहीं माना जाता है। क्योंकि आगम में बहु प्रदेशीय द्रव्यों को अस्तिकाय बतलाया गया है। काल के असंख्यात अणु होने पर भी वे परस्पर में अबद्ध हैं। जिस प्रकार आकाश के प्रदेश एकत्र, सम्बद्ध और अखण्ड हैं या पुद्गल के प्रदेश कभी मिलते हैं,कभी बिछुड़ते हैं,इस प्रकार काल द्रव्य के प्रदेश नही हैं, ये सदा रत्नराशि के समान एकत्र रहते हुए भी अलग २ अबद्ध रहते हैं। इसलिए काल को अस्तिकाय नही माना जाता।

तत्व सात बतलाये गये है। इन सातों में जीव और अजीव दो मुख्य हैं क्योंकि इन्हीं दोनों के संयोग से ससार चलता है। जीव के साथ अजीव जड़ कर्मों का संबंध अनादि काल से चला आ रहा है। जीव की प्रत्येक क्रिया और उसके प्रत्येक विचार का प्रभाव स्वत: अपने ऊपर पड़ने के साथ कर्म वर्गणाओं अर्थात् बाह्य भौतिक

पदार्थों पर जो आकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं, पड़ता है जिसमें कर्म रूप परमाणु अपनी भावनाओं के अनुसार खिंच आते हैं और आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इस कर्म बन्ध की प्रक्रिया का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥

जीव के द्वारा किये गये राग, द्वेष, मोह रूप परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः कर्म रूप से परिणत हो जाते हैं। जीव अपने चैतन्य रूप भावों से स्वतः परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो निमित्त मात्र है। जीव और पुद्गल परस्पर एक दूसरे के परिणमन में निमित्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि अनादि कालीन कर्म परम्परा के निमित्त से आत्मा में राग द्वेष की प्रवृत्ति होती है जिससे मन, वचन और काय में अद्भुत हलन चलन होता है तथा राग द्वेष रूप प्रवृत्ति के परिमाण और गुण के अनुसार पुद्गल द्रव्य में परिणमन होता है और वह आत्मा के कार्माण, वासनामय सूक्ष्म कर्म शरीर में जाकर मिल जाता है। इस प्रकार कर्मों से रागादि भाव और रागादि भावों से कर्मों की उत्पत्ति होती है।

सारांश यह है कि राग द्वेष, मोह, विकार, वासना आदि का

पुद्गल कर्मबन्ध की धारा के साथ बीज वृक्ष की सन्तति के समान अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है तथा जब तक इस कर्म संतान को तोड़ने का जीव प्रयत्न न करेगा यह सम्बंध चलता ही चला जायेगा। क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से राग द्वेष, मोह आदि विकार उत्पन्न होते है, इनमें आसक्ति या लगन हो जाने से नवीन कर्म बन्धते हैं। जो जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा विकारों के उत्पन्न होने पर आसक्त नही होता अथवा विकारों को ही उत्पन्न करने वाले कर्म को उदय में आने के पहले ही नष्ट कर देता है,वह अवश्य छूट जाता है। पर जो कुछ भी पुरुषाथ नही करता, कर्म के फन्दे मे पड़कर उसके फल को सहता रहता है, वह अपना उद्धार नही कर सकता। कर्मों के उदय से विकारों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है, पर पुरुषार्थी व्यक्ति उन विकारों के वश में नहीं होता, तथा उन्हें विभाव परिणमन समझ कर अपने से भिन्न समझता है।

कोई कोई प्रबुद्ध साधक विकारों को उत्पन्न करने वाले कर्मों को ही नष्ट कर देते हैं, पर यह काम सबके लिए संभव नही। इतना पुरुषार्थ तो गृहस्थ और त्यागी प्रत्येक व्यक्ति ही कर सकता है कि विकारों के उत्पन्न होने पर उनके आधीन न हो और पर रूप समझ कर उनकी अवहेलना कर दे। कविवर दौलतराम ने राग और विराग का सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने समझाया है कि राग के कारण ही संसार के भोगविलास सुन्दर प्रतीत होते है। जब प्राणी उन्हें अपने से भिन्न समझ लेते है, तो उसे वे भोग विलास भयंकर विषैले सांप के समान प्रतीत होने लगते है।

राग उदै भोग भाव लागत सुहावने से,
विना राग ऐसें लागें जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सों पाग रहे तन में सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥
राग सों जगत रीति झूठी सब सांच जानें,
राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी विन रागी के विचार में बड़ो ही भेद,
जैसे भटा पथ्य काहु काहु को वयारे हैं॥

मोह के उदय से यह जीव भोग विलास से प्रेम करता है, उसे भोग विलास अच्छे लगते हैं। राग रहित जीव को ये भोग विलास काले सांप के समान भयंकर प्रतीत होते हैं, राग के कारण यह जीव शरीर को ही सब कुछ समझता है किन्तु राग के नष्ट होने पर शरीर से ग्लानि हो जाती है तथा शरीर को आत्मा से भिन्न समझने लगता है जिससे पाप, अत्याचार और अनीति आदि कार्य करना बिल्कुल बन्द कर देता है। राग के कारण ही यह जीव दुनिया के झूठे नाते, रिश्ते और रीति रिवाज को सत्य मानता है, पर राग के दूर होने पर दुनिया का खेल आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने लगता है। रागी (मोही) विरागी (निर्मोही) के विचार में बड़ा भारी अन्तर है, भटा (बैगन) किसी को पथ्य होता है, किसी को अपथ्य।

अतएव जीव तत्व और अजीवतत्व के स्वरूप और उसके सम्बन्ध को जानकर प्रत्येक भव्य को अपनी आत्मा का कल्याण करने की

ओर प्रवृत्त होना चाहिए। आगे के तत्वों में आस्रव और बन्ध तत्व संसार के कारण हैं तथा संवर और निर्जरा मोक्ष के कारण हैं।

आस्रव—कर्मो के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं। आत्मा में मन, वचन और शरीर की क्रिया द्वारा स्पन्दन होता है, जिससे कर्म परमाणु आते हैं। इस आने का नाम आस्रव है। अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन बन्ध के कारणों को आस्रव कहते हैं। आस्रव के मूल दो भेद हैं–भावास्रव और द्रव्यास्रव। जिन भावों द्वारा कर्मो का आस्रव होता है उन्हें भावास्रव और जो कर्म आते है उन्हें द्रव्यास्रव कहते हैं। कर्मों का आना और उनका आत्म प्रदेशों तक पहुँचना द्रव्यास्रव है। भावास्रव के ५७ भेद हैं–५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, १५ प्रमाद, २५ कषाय।

मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मस्वरूप को भूल कर शरीर आदि परद्रव्यों में आत्मबुद्धि करता है, जिससे उसके समस्त विचार और क्रिया शरीराश्रित होती हैं। वह स्वपर विवेक से रहित होकर लोक-मूढ़ताओं को धर्म समझता है। वह वासना और कषायों को पूर्ण करने के लिए अपने जीवन को व्यर्थ खो देता है। ज्ञान, शरीर, बल वैभव आदि का घमण्ड कर मदोन्मत्त हो जाता है, जिससे इस मिथ्यादृष्टि जीव के संक्लेशमय परिणामों के रहने के कारण अशुभ आस्रव होता है। आत्म कल्याण के इच्छुक प्रत्येक जीव को इस मिथ्यात्व अवस्था का त्याग करना आवश्यक है। मिथ्यात्व के लगे रहने से जीव शराबी के समान आमकल्याण से विमुख रहता है। अतएव आत्मतत्व की दृढ़ श्रद्धा करने पर ही जीव कल्याणकारी रास्ते पर

आगे क़दम बढ़ा सकता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक आत्मविश्वास के उत्पन्न हो जाने पर भी असंयम, कषाय, प्रमाद, योग के कारण कर्मों का अशुभ आस्रव मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा कुछ कम करता है। व्रती जीव प्रमाद और कषायों के रहने पर अव्रती की अपेक्षा कम अशुभ आस्रव करता है। आत्मा के शान्त और निर्विकारी स्वरूप को क्रोध, मान, माया, एवं लोभ कषायें अशान्त और विकारी ही बनाती हैं। कषाय से युक्त आस्रव संसार का कारण होता है। प्रमाद एव कषायों के दूर हो जाने पर योग के निमित्त से होने वाला आस्रव और भी कम होता चला जाता है। आस्रव-कर्मों के आने को दुःख का कारण बताया है।

बन्ध—दो पदार्थों के मिलने या विशिष्ट सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकार का होता है—भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष आदि विभावों से कर्म वर्गणाओं का बन्ध होता है, उन्हें भावबन्ध और जो कर्म वर्गणाएं आत्म प्रदेशों के साथ मिलती है, उन्हें द्रव्यबन्ध कहते हैं। कर्म-वर्गणाओं के मिलने से आत्मा के परिणमन में विलक्षणता आ जाती है तथा आत्मा के संयोग से कर्म स्कन्धों का कार्य भी विलक्षण हो जाता है। कर्म आत्मा से मिल जाते हैं, पर उनका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता। दोनों—जीव और पुद्गल का स्वभाव भिन्न भिन्न है। जीव का स्वभाव चेतन है, और पुद्गल का स्वभाव अचेतन, अतः ये दोनों अपने अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए भी परस्पर में मिल

जाते हैं।

बन्ध चार प्रकार का माना गया है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। प्रकृतिबन्ध स्वभाव को कहते हैं, जैसे नीम की प्रकृति कड़वी और गुड़ की मीठी होती है, उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त हुई कार्माण वर्गणाओं में जो ज्ञान को रोकने, दर्शन को आवरण करने, मोह को उत्पन्न करने, सुख दुःख देने आदि का स्वभाव पड़ता है इसका नाम प्रकृति बन्ध है। अभिप्राय यह है कि आयी हुई कार्माण वर्गणाएं यदि किसी के ज्ञान में बाधा डालने की क्रिया से आयी हैं तो ज्ञानावरण का स्वभाव, दर्शन में बाधा डालने की क्रिया से आयी हैं तो दर्शनावरण का स्वभाव, सुख-दुःख में बाधा डालने की क्रिया से आयी हैं तो साता, असाता वेदनीय का स्वभाव पड़ेगा। इसी प्रकार आगे आगे भी कर्मों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। आत्मा के प्रदेशों के साथ कार्माण वर्गणाओं का मिलना अर्थात् एकक्षेत्रावगाही होना प्रदेशबन्ध है। स्वभाव पड़ जाने पर अमुक समय तक वह आत्मा के साथ रहेगा, इस प्रकार की काल-मर्यादा का बनना स्थितिबन्ध है। फल देने की शक्ति का पड़ना अनुभाग बन्ध है।

संवर—आस्रव का रोकना संवर है। आस्रव मन, वचन और काय से होता है अतः मूलतः मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति को रोकना संवर है। चलना, फिरना, बोलना, आहार करना, मल-मूत्र विसर्जन करना आदि क्रियाएं नहीं रुक सकती हैं, इसलिए मन, वचन और शरीर की उद्दण्ड प्रवृत्तियों को रोकना संवर है। संवर

के गुप्ति के साथ समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र भी हेतु बताये गये है। यह संवर मोक्ष का कारण है।

निर्जरा—कर्मो का झड़ना निर्जरा है। इसके दो भेद हैं—सविपाक और अविपाक। स्वभाव क्रम से प्रतिक्षण कर्मो का अपना फल देकर झड़ जाना सविपाक और तप आदि साधनों के द्वारा कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा होती है। सविपाक-निर्जरा हर क्षण प्रत्येक संसारी जीव के होती रहती है तथा नूतन कर्म भी बन्धते रहते हैं, पर अविपाक निर्जरा कर्म-नाश में सहायक होती है। क्योंकि, संवर द्वारा नवीन कर्मों का आना रुक जाने पर पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा हो जाने से क्रमशः मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्ष—समस्त कर्मों का छूट जाना मोक्ष है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन चार घातिया कर्मो के नाश होने पर जीवन-मुक्त अवस्था—अर्हंत अवस्था की प्राप्ति होती है। यह जीव कर्मों के कारण ही पराधीन रहता है। जब कर्म अलग हो जाते हैं तो इसके अपने ज्ञान, दर्शन सुख और वीर्य गुण प्रकट हो जाते है। जीवन-मुक्त अवस्था में कर्मो के अभाव के कारण आहार ग्रहण करना और मल मूत्र का त्याग करना भी बन्द हो जाता है, कैवल्य प्राप्ति हो जाने से सभी पदार्थो का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पश्चात् शेष चार कर्म—आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय के नाश हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार द्रव्य, तत्व और पदार्थों के स्वरूप-परिज्ञान द्वारा

प्रत्येक व्यक्ति को अपना आत्मिक विकास करना चाहिए। तत्वों के स्वरूप को समझे बिना हेयोपादेय रूप प्रवृत्ति नही हो सकती है। अतः चैतन्य, ज्ञान, आनन्द रूप आत्म तत्व की प्राप्ति के लिए सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए।

शरीर में आत्मा किस प्रकार रहता है उसको जानने का उपाय —

अरिर्विदी चिसलक्कुमात्मनिरुवं देहंवोली कण्गेतां ।
गुरियागं शिलेयोळ्सुवर्णं मरलोळ्पोरभ्यमा चीरदोलू ॥
नरु नेय्काष्टदोळग्नि पिर्पतेरर्दिंदा मेयोळांदिर्पनें—
दरिदभ्यासिसे कण्गुमेंदरुपिदै ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आत्मा की स्थिति को ज्ञान के द्वारा देख सकते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीर इन चर्म चक्षुओं के गोचर है, उस प्रकार आत्मा गोचर नहीं है। स्थूल के पीछे वह सूक्ष्म शक्ति इस प्रकार विद्यमान है, जिस प्रकार पत्थर में सोना, पुष्प में सुगन्ध, दूध में सुगंधतया घी और लकड़ी में आग। शरीर के अंदर आत्मा की स्थिति को इस प्रकार जानकर अभ्यास करने से इसकी प्रतीति होगी। आपने ऐसा कहा है।

विवेचन—आत्मा शरीर से भिन्न है, यह अमूर्तिक, सूक्ष्म, ज्ञान दर्शनादि चैतन्य गुणों का धारी है। अरूपी होने के कारण आंखों से इसका दर्शन नही हो सकता है। स्थूल शरीर ही हमें आंखों से दिखलाई पड़ता है। किंतु इस शरीर के भीतर रहने वाला आत्मा

अनुभव से ही जाना जा सकता है। आंखों से उसे नहीं देखा जा सकता। बनारसीदास ने भी नाटक समयसार में आत्मा के चैतन्य स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है—

जो अपनी दुति आपु विराजत है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक, महासुखसागर को विसरामी॥
जीव अजीव जिते जग में, तिनको गुन ग्यायक अंतरजामी।
सो शिवरूप बसै शिवनायक, ताहि विलोकन में शिवगामी॥

जो आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन रूप चैतन्य स्वभाव के कारण स्वयं शोभित हो रहा है वही प्रधान है। वह सदा कर्ममल से रहित चेतन, अनन्त सुख का भण्डार, ज्ञाता, दृष्टा है। शुद्ध आत्मा ही संसार के सभी पदार्थों को अपने अनन्त ज्ञान द्वारा जानता है, अनन्त दर्शन द्वारा देखता है, यह मोक्ष स्वरूप है, इसके शुद्ध रूप के दर्शन करने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अभिप्राय यह है कि आत्मा का अस्तित्व शरीर से भिन्न है। यह शरीर में रहता हुआ भी शरीर के स्वरूप और गुणों से अछूता है।

विश्व में प्रधानतः दो प्रकार के पदार्थ हैं—जड़ और चेतन। आत्मा विश्व के पदार्थों का अनुभव करने वाला ज्ञाता दृष्टा है। जीवित प्राणी ही इंद्रियों द्वारा संसार के पदार्थों को जानता, देखता, छूता, सूंघता और स्वाद लेता है। तथा वस्तुओं को पहचान कर उसके भले बुरे रूप का विश्लेषण करता है। इसी में सुख दुःख के अनुभव करने की शक्ति विद्यमान है। संकल्प विकल्प भी इसी में पाये जाते हैं। काम, क्रोध, मोह आदि भावनायें, इच्छायें, द्वेष प्रभृति

वासनायें भी इसी में पाई जाती हैं। अतः मालूम होता है कि शरीर से भिन्न कोई आत्म तत्त्व है। इस आत्म तत्त्व की अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति सदा से करता चला आ रहा है। कोई अगर आत्मा का अस्तित्व न माने तो अनुभव द्वारा इसकी प्रतीति सहज में प्रतिदिन होती रहती है।

हृदय का कार्य चिन्तन करना और बुद्धि का कार्य पदार्थों का निश्चय करना है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हृदय और बुद्धि के द्वारा जो विभिन्न व्यापार होते हैं, इन दोनों के व्यापारों का एकत्र ज्ञान करने के लिए जो प्रत्यभिज्ञान करना पड़ता है उसे कौन करता है तथा उस प्रत्यभिज्ञान द्वारा इंद्रियों को तदनुकूल दिशा कौन दिखलाता है। इन सारे कार्यों को करने वाला मनुष्य का जड़ शरीर तो हो नहीं सकता। क्योंकि जब शरीर की चेतन क्रिया नष्ट हो जाती है, आत्मा शरीर से निकल जाता है, उस समय शरीर के रह जाने पर भी उपर्युक्त प्रकार के कार्य नहीं होते हैं।

कल जिसने कार्य किया था आज भी वही 'मैं' कार्य कर रहा हूँ, इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान जड शरीर से उत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि जड़ शरीर में प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। यह प्रत्यभिज्ञान की शक्ति शरीराधिष्ठित चेतन आत्मा के मानने पर ही सिद्ध हो सकती है। प्रत्येक क्षण प्रत्येक कार्य 'मैं' या 'अहं' भाव की उत्पत्ति इस बातकी साक्षी है कि शरीर से भिन्न कोई चेतन पदार्थ भी है, जो सदा 'अहं' का अनुभव करता रहता है। संभवतः कुछ भौतिकवादी यह प्रश्न कर सकते हैं कि हृदय, बुद्धि,

मन, इन्द्रिय और शरीर इनके समुदाय का नाम ही अहं या मैं है। इनके समुदाय से भिन्न कोई अहं और मैं नहीं। पर विचार करने पर यह गलत मालूम होगा क्योंकि किसी मशीन के भिन्न भिन्न कल पुर्जों के एकत्रित करने पर भी उसमें गति नहीं आती है। जो गुण पृथक २ नही पाया जाता है, वह पदार्थों के समुदाय में कहाँ से आ जायेगा ? जब चेतन क्रिया के कार्य इंद्रिय, बुद्धि, हृदय और शरीर में पृथक २ नहीं पाये जाते हैं तो फिर ये एकत्रित होने पर कहाँ से आ जायेंगे ?

तर्क से भी यह बात साबित होती है कि शरीर, बुद्धि, हृदय और इंद्रियों के समुदाय का व्यापार जिसके लिए होता है वह इस समुदाय से भिन्न कोई अवश्य है जो सब बातों को जानता है। वास्तव में शरीर तो एक कारखाना है। इंद्रियाँ, बुद्धि, मन और हृदय प्रभृति उसमें काम करने वाले हैं। पर इस कारखाने का मालिक कोई भिन्न ही है, जिसे आत्मा कहा जा सकता है। अतएव प्रतीत होता है कि मानव शरीर के भीतर भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कोई सूक्ष्म पदार्थ है, जिसके कारण वह विश्व के पदार्थों को जानता तथा देखता है, क्योंकि यह शक्ति प्राणी में ही पाई जाती है। यद्यपि आजकल विज्ञान के द्वारा निर्मित अनेक मशीनों में चलने, फिरने, दौड़ने और विभिन्न प्रकार के काम करने की शक्ति देखी जाती है, पर उनमें भी सोचने विचारने और अनुभव करने की शक्ति नहीं पाई जाती।

सचेतन प्राणी ही लाभ, हानि, गुण, दोष आदि का पूरा पूरा

विचार करता है, भौतिक पदार्थ नहीं। इसलिए अनुभव के आधार पर यह डंके की चोट से कहा जा सकता है कि शरीर से भिन्न चेतन स्वरूप, अमूर्तिक, अनेक गुणों का धारी आत्म तत्त्व है। यदि इसे आत्म तत्त्व न माना जावे तो स्मरण, विकार, संकल्प, विकल्प आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। सज्ञानी प्राणी ही पहले देखे हुए पदार्थ को देखकर कह देता है कि यह वही पदार्थ है जिसे मैंने अमुक समय में देखा था, मशीन या अन्य प्रकार के इंजनों में इसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। यह स्मरण शक्ति ही बतलाती है कि पूर्व या उत्तर समय में देखने वाला एक ही है जो आज भी वर्तमान है। इसी प्रकार ज्ञान, सकल्प, विकल्प, राग द्वेष प्रभृति भावनायें, काम क्रोध आदि विकार भी आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। प्रमेयरत्नमालाकार ने आत्मा की सिद्धि इस प्रकार की है—

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात्सिद्धः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥

अर्थ—तत्काल उत्पन्न हुए वालक को स्तन पीने की इच्छा होती है। इच्छा प्रत्यभिज्ञान के विना नहीं हो सकती है। प्रत्यभिज्ञान स्मरण के विना नही हो सकता। और स्मरण अनुभव के विना नहीं होता। अतः अनुभव करने वाला आत्मा है। अनेक व्यक्ति मरने पर व्यंतर हो जाते हैं। ये स्वयं किसी के सिर आकर कहते हैं कि हम अमुक व्यक्ति हैं, इससे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। अनेक व्यक्तियों को पूर्व जन्म का स्मरण भी होता है। यदि आत्मा अनादि नहीं होता तो फिर यह पूर्व जन्म का स्मरण कैसे

होता ? पृथ्वी, अप, तेज, वायु आकाश इन पांच भूतों के साथ आत्मा की व्याप्ति नहीं है। अर्थात् अचेतन के साथ आत्मा की व्याप्ति नहीं है। अतएव आत्मा शरीर से भिन्न है।

यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है। अपने प्राप्त शरीर के बराबर है तथा समस्त शरीर में आत्मा का अस्तित्व है। शरीर के किसी एक प्रदेश में आत्मा नही है, वह अविनाशी है, अत्यंत आनंद स्वभाव वाला है तथा लोक और अलोक को देखने वाला है। इसमें संकोच और विस्तार की शक्ति है जिससे शरीर छोटा होता है तो वह छोटे आकार में व्याप्त रहता है। शरीर बड़ा होता है तो बड़े आकार में व्याप्त हो जाता है। कविवर बनारसी-दास ने आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि—

चेतनवंत अनन्त गुन, पर्यय सकल अनंत।
अलख अखंडित सवगत, जीव दरव चिरतंत॥

सारांश यह है कि यह आत्मा चेतन है, अनन्त गुण और पर्यायों का धारी है, अमूर्तिक है, अखण्डित है, सभी प्राणियों में इसका अस्तित्व है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का श्रद्धान करने से विषयों से विरक्ति होती है तथा आत्मा के उत्थान की ओर प्राणी अग्रसर होता है। यहां आचार्य ने युक्तिपूर्वक जीव का स्वभाव सिद्ध कर बतलाया है।

जदि ण य हवेदि जीओ तो को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि।
इंदियविसया सव्वे को वा जाणदि विसेसेण॥ १८३॥

अगर जीव न हो तो अपने सुख दुःख को कौन भोगे और कौन

जाने। तथा इंद्रिय के स्पर्शादि विषय हैं उन सबको विशेष रीति से कौन जाने।

सारांश यह है कि चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जो दुःख सुख को, अपने तथा इंद्रिय के विषय को जाने, वही जीव है। इससे बड़ा प्रत्यक्ष कौनसा हो सकता है कि मृत्यु के बाद शरीर में सभी इंद्रियां रहती हैं। किन्तु एक जीव के बिना वे इन्द्रियां ज्ञान नहीं कर पातीं। इसलिए इससे जीव का सद्भाव अवश्य सिद्ध होता है। आत्मा के सद्भाव की सिद्धि के लिये आगे कहते हैं कि—

संकप्पमओ जीवो सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेयदि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥१८४॥

जो जीव है वह संकल्पमयी है, पुनः संकल्प है वह सुख दुःखमय है। उस दुःखमय संकल्प को जो जाने वह जीव है और यह देह में सर्वत्र मिला हुआ है। और उसको भी जानने वाला जीव है।

जीव देह से मिला हुआ सर्व कार्य को करता है—

देहमिलिदो वि जीवो सव्वकम्माणि कुव्वदे जह्मा।
तह्मा पयट्टमाणो एयत्तं बुज्झदे दोह्नं ॥ १८५ ॥

यह जीव देह में मिला हुआ ही सर्व कर्म, नोकर्म रूप सर्व कार्य को करता है इसलिए उन कार्यों को करने वाले लोक को देह और जीव का एकपना प्रतीत होता है। भावार्थ यह है कि लोक को देह और जीव जुदा२ नहीं मालूम पड़ता है। दोनों मिले हुए दीखते हैं। दोनों के संयोग से ही कार्य की प्रवृत्ति दीखती है इसलिए वह दोनों को एक ही मानता है।

आचार्य ने बतलाया है कि इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा का मनन वे ज्ञानी जन ही कर सकते हैं जो बाहरी भौतिक वस्तु में रमण करने वाले आत्मा को अपने स्वरूप में देखने की रुचि रखते हैं। वह ज्ञानी इस प्रकार विचार करता है कि—

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्त णाणं दंसणमिदि णिच्चिदो होदि ॥१७०॥

जो कोई अपने आत्मा के द्वारा आत्म रूप ही अपने आत्मा को श्रद्धान करता है, जानता है, आचरता है, वह निश्चय से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हो जाता है ।

भावार्थ—जो कोई वीतराग ध्यान में परिणमन करता हुआ अपने अन्तरात्मा के भाव से मिथ्यात्व और रागादि भावों से रहित और केवल ज्ञानादि अनन्त गुणों से एकता रूप अपने शुद्ध आत्मा को निर्विकल्प होकर देखता है; शुद्धात्मा की परिणति से युक्त होकर विकार रहित ज्ञान के द्वारा उसे भिन्न जानता है तथा उसी में तन्मय होकर रमण करता है वही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है। इस सूत्र में अभेद नय की अपेक्षा आत्मा को ही तीन रूप कहा है। इससे जाना जाता है कि जैसे द्राक्ष आदि वस्तुओं से बना हुआ शर्बत एक रूप कहलाता है,वैसे ही अभेद की अपेक्षा से एक निश्चय रत्नत्रय स्वरूप ही मोक्ष मार्ग है, यह भाव है। ऐसा ही अन्य ग्रन्थों में भी इस आत्मा का नकशा बतलाया गया है।

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥

आत्मा में रुचि सम्यग्दर्शन है। उसी के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है तथा उसी आत्मा में ही स्थिरता पाना चारित्र है। यही मोक्ष का कारण योगाभ्यास है।

इस गाथा में निश्चय रत्नत्रय की दृढ़ता को बतलाया है। वास्तव में जैसा साध्य होता है वैसा ही साधन होता है। साधन वही शुद्ध आत्मा का ज्ञान आदि है। यद्यपि भेद नय से वह तीन रूप है तथापि अभेद रूप से एक रूप है। जैसे शर्बत कई वस्तुओं का होता है तथापि एक पान के नाम से कहा जाता है वैसे ही निश्चय रत्नत्रय आत्मा एक रूप से कहा जाता है। जैसे शर्बत पीने वाले को सर्व वस्तु का निश्चित स्वाद आता है जो इसमें मिली हुई हैं, इसी प्रकार रत्नत्रय रूप आत्मा का वह अनुभव करता है, जो आत्मा का ध्यान करता है। इसलिए जो आत्मा को इस जीवन में और परलोक में भी सुखी रखना चाहते है, उनके लिए उचित है कि वह सर्व प्रपंच जाल से मन हटाकर एक आत्म-भावना का ही मनन करे।

इस शरीर में आत्मा किस प्रकार रहता है, अब यह बतलाते हैं—

कल्लोळ्तोर्प पोगसु वर्णद गुणं काष्टांगळोळ्तोर्प के—
च्चेल्ला किञ्चिन चिन्हवा केनेयिरल्पालोळ्घृतच्छायेयें।
देल्लर वर्णिणपरंतुटी तनुविनोळ् चैतन्यमु बोधमुं।
सोल्लुं जीवगुणंगळेंदरूपिदे! रत्नाकराधीश्वरा!॥ ५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पत्थर में जो कांति दिखलाई पड़ती है वह सोने का गुण है। वृक्षों में अग्नि का अस्तित्व है। खौलते हुए दूध में जो मलाई का अंश दिखाई पड़ता है वह घी का चिन्ह है, सब लोग ऐसा जानते हैं। ठीक इसी प्रकार इस शरीर में चेतन स्वभाव, ज्ञान और दर्शन जीव के गुण हैं। आपने ऐसा समझाया है।

एक ग्रन्थकार ने कहा है कि—

> पाषाणेषु यथा हेम, दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
> तिलमध्ये यथा तैलं, देहमध्ये तथा शिवः ॥ २३ ॥
> काष्ठमध्ये यथा वन्हिः, शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
> अयमात्मा शरीरेषु, यो जानाति स पंडितः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार पाषाण में सोना, दूध में घी, तिल में तेल रहता है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा रहता है। जैसे काष्ठ में अग्नि शक्ति रूप से रहती है, शरीर में रहने वाली आत्मा को बुद्धिमान पंडित लोग उसी तरह अपने शरीर में अनुभव करता है। इस प्रकार भावना करने के लिए सबसे पहले आत्म-प्रतीति कर लेने वाले ज्ञानी जीव को विषय-कषाय को मन, वचन, काय के द्वारा हटाना चाहिए। उसके बाद मन की एकाग्रता के लिए व्यवहार रत्नत्रय को साधन बना लेना चाहिए। इस शरीर में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यरूप शक्ति आत्मा की है। अतः आत्मिक शक्ति का यथार्थ परिज्ञान करके बाह्य पदार्थों से ममत्व बुद्धि का त्याग कर देना चाहिए। एक कवि ने कहा है कि—

आतम हित जो करत हैं, सो तन को उपकार।
जो तन का हित करत हैं, सो जिय का अपकार॥

अर्थात् जो तप त्याग, पूजन, आदि के द्वारा आत्मा का कल्याण किया जाता है, वह शरीर का अपकार है। क्योंकि विषय निवृत्ति से शरीर को कष्ट होता है। धनादि की वाँछा का परित्याग करने से मोही प्राणी कष्ट का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि तप, ध्यान, वैराग्य से आत्म-कल्याण किया जाता है। इनसे शरीर का हित नहीं होता, अतः शरीर को पर वस्तु समझ कर उसके पोषण करने वालों को धन-धान्य की वांछा नहीं करनी चाहिए। धन-धान्य आदि परिग्रह तथा विषय-वासनाओं द्वारा शरीर का हित होता है, पर ये सब आत्मा के लिए अपकारक हैं, अतः आत्मा के लिए हित-कारक कार्यों को ही करना चाहिए।

इस प्राणी का आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं है। यह अशुद्ध अवस्था में शरीर में इस प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि, दही में घी, तिलों में तेल, पुष्पों में सुगन्ध, पृथ्वी में जल का अस्तित्व रहता है। इतने पर भी यह शरीर से बिल्कुल भिन्न है। जिस प्रकार वृक्ष पर बैठने वाला पक्षी वृक्ष से भिन्न है, शरीर पर धारण किया गया वस्त्र जैसे शरीर से भिन्न है, उसी प्रकार शरीर में रहने पर भी आत्मा शरीर से भिन्न है। दूध और पानी मिल जाने पर जैसे एक द्रव्य प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार कर्मों के संयोग से बद्ध आत्मा भी शरीर रूप मालूम पड़ता है। वास्तविक विचार करने पर यह आत्मा शरीर से भिन्न प्रतीत होगा। इसके

स्वरूप, गुण आदि आत्मा के स्वरूप, गुण की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न हैं। आत्मा जहाँ चेतन है, शरीर वहाँ अचेतन है, शरीर विनाशीक है, आत्मा नित्य है। अतः शरीर में सर्वत्र व्यापी आत्मा को समझ कर अपना क्रमिक आध्यात्मिक विकास करना चाहिए।

यदि भ्रमवश कोई व्यक्ति लकड़ी को अग्नि समझ ले, पत्थर को सोना मानले, मलाई को घी मानले तो उसका कार्य नहीं चल सकता है, इसी प्रकार यदि कोई शरीर को ही आत्मा मान ले तो वह भी अपना यथार्थ कार्य नहीं कर सकता है तथा यह प्रतिभास मिथ्या भी माना जायेगा। हाँ, जैसे लकड़ी में अग्नि का अस्तित्व, पत्थर में सोने का अस्तित्व, फूल में सुगन्ध का अस्तित्व सदा वर्तमान रहता है, उसी प्रकार संसारावस्था में शरीर में आत्मा का अस्तित्व रहता है। प्रबुद्ध साधक का कर्तव्य है कि वह शरीर में आत्मा के अस्तित्व के रहने पर भी उससे भिन्न आत्मा को समझे। शरीर को अनित्य क्षणध्वंसी समझ कर संसार में सुख, आनन्द, ज्ञान दर्शन-रूप आत्मा को ही उपादेय समझना चाहिये। अतएव लोभ, मोह, माया, मान, क्रोध आदि विकारों को तथा वासनाओं को छोड़ना चाहिए।

जब जीव शरीर को ही आत्मा मान लेता है तो वह मृत्यु पर्यंत भी भोगों से निवृत्त नहीं होता। कविवर भर्तृहरि ने अपने वैराग्य-शतक में बताया है—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः ।
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ॥

शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने।
अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥

अर्थात् बुढ़ापे के कारण भोग भोगने की इच्छा नहीं रहती है, मान भी घट गया है, बराबरी वाले चल बसे-मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं। जो घनिष्ट मित्र अवशिष्ट रह गये हैं वे भी अब बुड्ढे हो गये हैं। बिना लकड़ी के चला भी नहीं जा सकता, आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता हैं। इतना सब होने पर भी हमारा शरीर कितना निर्लज्ज है कि अपनी मृत्यु की बात सुनकर चौंक पड़ता है। विषय भोगने को वांछा अब भी शेष है, तृष्णा अनन्त है, जिससे दिन रात सिर्फ मनसूबे बाँधने में व्यतीत होते हैं।

यह जीवन विचित्र है.इसमें तनिक भी सुख नहीं। बाल्यावस्था खेलते खेलते बिता दी, युवावस्था तरुणी नारी के साथ विषयों में गँवा दी और वृद्धावस्था आने पर आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ बेकाम हो गयीं जिससे घर बाहर कोई भी आदर नहीं करता। बुढ़ापे के कारण चला भी नहीं जाता है। इस प्रकार का असमर्थ अवस्था में आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति करना कठिन हो जाता है। शरीर में रहते हुए भी आत्मा को शरीर से भिन्न समझ उसे पृथक शुद्ध रूप में लाने का प्रयत्न करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। जैसे अशुद्ध मलिन सोने को आग में तपा कर सोहागा डालने से शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार इस अशुद्ध आत्मा को भी त्याग और तप के द्वारा निर्मल किया जा सकता है। जो प्राणी यह समझ लेता है कि विषय भोग और वासनाएँ आत्मा की मलिनता को बढाने

वाली है वह इनका त्याग अवश्य करता है। यह जीव अनादि काल से इन विषयों का सेवन करता चला आ रहा है, पर इनसे तनिक भी तृप्ति नही हुई, क्योंकि मोह और लोभ के कारण यह अपने रूप को भूला हुआ है। कविवर दोलतराम जी ने कहा है–

मोह-महामद पियो अनादि। भूल आप को भरमत वादि ॥

संसारी जीव मोह के वश में होकर मनुष्य, देव, तिर्यंच और नरक गति में जन्म-मरण के दुःख उठा रहे हैं, इन्हें अपने स्वरूप का यथाथ परिज्ञान नही। अतः विषयभोगों से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। परमार्थप्रकाश मे भी कहा है कि जो जीव आज इस पंचम काल मे सम्पूर्ण पर-वस्तु को आत्मा से हटा कर एकाग्रता से ध्यान मे रत रहता है, रुचि रखता है, उसको ही आत्म दर्शन हो सकता है। इसो प्रकार परमात्मप्रकाश में कहा है कि—

अप्पा झायहि णिम्मलउ कि बहुएं अण्णेण।
जो झायंतहं परम-पउ लब्भइ एक्क खणेण ॥ ९७ ॥

योगीन्द्र आचार्य कहते है कि जो निर्मल आत्मा को ही ध्यावे, उसके ध्यान करने से अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्ति हो जावे। इसलिए हे योगी ! तू निर्मल आत्मा का ही ध्यान कर। बहुत पदार्थ से क्या। देश, काल, पदार्थ आत्मा से भिन्न है। उससे कुछ प्रयोजन नहीं है। विकल्प जाल के प्रपंच से क्या फायदा। एक निज स्वरूप को ध्यावो। परमात्मा का ध्यान करने वालों को क्षण मात्र में मोक्ष पद मिलता है।

भावार्थ—इस गाथा का सार यह है–आचार्यों ने यह बतलाया है कि सब शुभ अशुभ सकल्न विकल्परहित निज स्वरूप का ध्यान करने से ही मोक्ष मिलता है। इसलिए वही हमेशा ध्यान करने योग्य है। ऐसा ही वृहद् आराधना शास्त्र में कहा है। सोलह तीर्थंकरों को एक ही समय तीर्थंकरों के उत्पत्ति के दिन पहले चारित्र ज्ञान की सिद्धि हुई। फिर अन्तमुहूर्त में मोक्ष हो गया। यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि–

प्रश्न—यदि परमात्मा के ध्यान से अन्तमुहूत में मोक्ष होता है तो हमें ध्यान करने से मोक्ष क्यों नहीं होता ?

उत्तर—इसका समाधान इस तरह है कि जैसा निर्विकल्प सुख वज्रवृषभ संहनन वाले को चौथे काल मे होता है, वैसा अब नही हो सकता है। ऐसा ही दूसरे ग्रन्थों में कहा है कि श्री सर्वज्ञ वीत-राग देव इस पचम काल में शुक्लध्यान का निषेध करते हैं। इस समय धर्म ध्यान हो सकता है, शुक्लध्यान नहीं हो सकता है। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी दोनों ही इस समय नहीं हैं। सातवाँ गुणस्थान है। ऊपर के गुणस्थान नही है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस कारण परमात्मा के ध्यान से अन्तमुहूर्त में मोक्ष हो जाता है वह अब नहीं है इसलिए संसार-स्थिति घटाने के वास्ते धर्म ध्यान की आराधना करनी चाहिए जिससे परम्परया मोक्ष मिल जाय। इस समय वहुत से नास्तिक, अज्ञानी, धर्मद्रोही लोग इस प्रकार कहते हैं कि इस काल में कोई धर्मध्यान या शुक्लध्यान नहीं है और मुनि भी नहीं हैं। परन्तु कुन्दकुन्द आचार्य अपने मोक्ष पाहुड

में कहते हैं कि आज पंचम काल में भी मुनि है और वे धर्म ध्यान करके इन्द्र पद को प्राप्त करते हैं।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥ ७३ ॥

कुछ ऐसे मनुष्य हैं कि जो क्रिया से रहित हैं, जिनका चारित्र मोह का उदय प्रवल है और व्रत और समिति से रहित हैं और हमेशा मिथ्या अभिप्राय से भरे हुए हैं, शुद्ध भाव से अत्यन्त भ्रष्ट हैं ऐसे लोग कहते है कि इस समय पंचम काल है, यह काल ध्यान योग्य नहीं है।

वे प्राणी कैसे हैं सो बतलाया गया है कि—

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७४ ॥

पूर्वोक्त ध्यान का अभाव मानने वाले जीव कैसे है ? सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित है, अभव्य हैं, मोक्ष से रहित है और संसार के इन्द्रिय सुखों में आसक्त हैं ऐसे लोग इस समय ध्यान का काल नहीं मानते हैं। फिर भी आचार्य इस ध्यान का काल न कहने वाले उनको बतलाते है-पंच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति का स्वरूप जो जानते नहीं है,उनके हृदय में धर्म भावना नहीं है, उनके लिए आचार्य फिर भी कहते हैं कि—

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥ ७५ ॥

पाँच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति का जो मूढ़ अज्ञानी स्वरूप नहीं जानते हैं और आचार से रहित हैं ऐसे लोग ही इस काल में ध्यान का अभाव मानते हैं अर्थात् ऐसे लोग मूढ़ और अज्ञानी हैं। आगे आचार्य कहते हैं कि पंचम काल में धर्म ध्यान होता है और जो नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा गाथा से प्रकट करते हैं—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥ ७६ ॥

इस भरतक्षेत्र में दुस्सम काल नामक पंचम काल में साधु अर्थात् मुनि को धर्मध्यान होता है। यह धर्मध्यान आत्म स्वभाव में स्थिति है। अर्थात् धर्मध्यान पूर्वक जो आत्मा में स्थित है, उस मुनि को धर्मध्यान होता है। जो यह नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं। फिर कहते हैं कि आज पंचम काल में भी रत्नत्रय का धारी मुनि होकर स्वर्ग में लौकान्तिक देव और इन्द्रपद पाकर वहाँ से चय करके मोक्ष जायेंगे। ऐसा जिनसूत्र में कहा है कि—

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाणवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥ ७७ ॥

आज इस पंचम काल में जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय शुद्धि से संयुक्त होते हैं, वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्र और लौकान्तिक पद को प्राप्त होते है। और पुनः वहाँ से चय करके निर्वाण पद को प्राप्त होते है।

केवल एकान्ती और नास्तिक लोग कहते हैं कि इस पंचम काल में मुनि नहीं हैं। तो कुन्दकुन्द आचार्य ने इस प्रकार कहा है कि उनका वचन असत्य है। वे मिथ्यादृष्टि, नास्तिक या भगवान के वचन को लोप करने वाले है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार जिनको संसार निकट करके जन्म-जरा-मृत्यु से अलग होना है,उनको ऊपर कहे कथन के अनुसार इन्द्रिय विषय को मर्यादित करके आत्म प्रभावना को बढ़ाने की कोशिश करनी चाहिए।

जिनके मन में राग रहित सिद्धात्मा की भावना नही है, उनका शास्त्र,पुराण, तपश्चरण क्या कर सकते है। उनके बारे में योगीन्द्र आचार्य ने परमात्मप्रकाश में कहा है कि—

अप्पा गियमणि गिम्मलउ गियमें वसइण जासु।
सत्थ-पुराणई तव-चरणु मुक्खु वि करहि कि तासु ॥६८॥

जिसके मन में निर्मल आत्मा निश्चय से नहीं रहता, उस जीव के शास्त्र, पुराण, तपस्या भी क्या कर सकती है, कुछ नहीं कर सकती है। वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुद्ध भावना जिसकी नहीं है, उसके शास्त्र पुराण आदि सब व्यर्थ हैं।

प्रश्न—क्या बिल्कुल ही निरर्थक हैं?

उत्तर—ऐसा है कि बिल्कुल तो नहीं है। उनके लिये व्यर्थ है, जो वीतराग सम्यक्त्वस्वरूप निज शुद्ध आत्मा की भावना रहित हो। तब तो वे मोक्ष के लिए ही बाह्य कारण है। यदि वे वीतराग सम्यक्त्व के अभाव रूप है तो पुण्य बन्ध के कारण हैं, जो मिथ्यात्व रागादि सहित हो तो पाप बन्ध के कारण हैं, जैसे कि रुद्र आदि

विद्यानुवाद नाम के दसवें पूर्व तक शास्त्र पढ़कर भ्रष्ट हो जाते है। इसलिए वीतराग निर्विकल्प सिद्धात्म तत्व के जानने पर समस्त द्वादशांग शास्त्र जाना जाता है क्योंकि जैसे रामचन्द्र, पाराडव भरत आदि महान पुरुष भी जिनराज की दीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढ़कर जो शुद्ध परमात्मा है, उसके ध्यान में 'लीन हुए तिष्ठे थे इस लिए वीतराग स्व संवेदन ज्ञान से अपने आत्मा का जानना ही सार है। आत्मा के जानने से सब जानना सफल है। इस कारण जिन्होने अपनी आत्मा जानी अथवा निर्विकल्प समाधि उत्पन्न हुई, उन्होंने सबको जाना। ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि मेरा स्वरूप पर से जुदा है। और मेरे रागादि मेरे से दूसरे हैं मेरे नहीं हैं। इसलिए आत्मा के जानने से सब भेद जाने जाते हैं। जिसने अपने को जान लिया, उसने विभिन्न सब पदार्थ जान लिये। सब लोकालोक जान लिये। वस्तुतः आत्मा के जानने से सब जाना गया। अथवा वीतराग निर्विकल्प परम समाधि के बल से केवलज्ञान को उत्पन्न करके जैसे दर्पण में घटपटादि पदार्थ झलकते है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी दर्पण में सब लोक अलोक भासते है। इससे यह बात निश्चित हुई कि आत्मा के जानने से सब जाना जाता है। सारांश यह है कि हमें बाह्य सब परिग्रह छोड़कर सब तरह से अपने सिद्धात्मा की भावना करनी चाहिए। ऐसा ही कथन समयसार में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने किया है। 'जो पस्सदि' इत्यादि गाथा में लिखा है कि जो निकट संसारी जीव है, वह स्व सम्यक्ज्ञान से अपने आत्मा को अनुभव करता हुआ सम्यग्दृष्टि से अपने को देखता है,

वह सब जैन शासन को देखता है, ऐसा जिन सूत्र में कहा है। कैसा वह आत्मा है? रागादिक और ज्ञानावरणादिक से रहित है। अन्य भाव जो नर-नरकादिक पर्याय, उनसे रहित है, विशेष अर्थात् गुण-स्थान सब स्थानों-भेदों से रहित है। ऐसे आत्मा के स्वरूप को जो देखता है वह सब जिनशासन का मर्म जानने वाला होता है। इस प्रकार जो जीवात्मा रुचिपूर्वक अपनी आत्मा को जानता है, अनुभव करता है, वह शीघ्र ही इस संसार-दुःख से छुटकारा पा सकता है। इसलिए हे भव्य जीव! बाह्य प्रपंच को त्याग करके सम्पूर्ण पर वस्तु से भिन्न अपने निज स्वरूप का ध्यान करना ही श्रेष्ठ है। यही इस गाथा सूत्र का सार है।

ज्ञानी जीव को भेदज्ञानी होना चाहिए—

मत्ताकल्लने सोदिसल्कनकमं काणवंते पालं क्रमं—
वेत्तोळिपं मथनंगेयळ् धृतमुमं काणवंते काष्ठगळं॥
ओत्तंवं पोसेदग्नि काणवतेरदिं मेय्वेरे वेरानेनु।
त्तित्तभ्यासिसेलेम्म काणवुदरिदे? रत्नाकराधीश्वरा!॥६॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

जिस प्रकार पत्थर के शोधने से सोना, दूध के क्रमपूर्वक मंथन से नवनीत तथा काष्ठ के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर अलग है और मैं अलग हूं, इस भेद विज्ञान का अभ्यास करने से क्या अपने आप आत्मा को देख सकना असाध्य है?

विवेचन—आत्मा और शरीर इन दोनों के स्वरूप-चिन्तवन के

द्वारा भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है। यह आत्मा स्वोपार्जित कर्म परम्परा के कारण इस शरीर को प्राप्त करता है। शरीर और आत्मा इन दोनों के चिन्तवन द्वारा अनादि बद्ध आत्मा शुद्ध होता है। जब जीव यह समझ लेता है कि यह शरीर, ये सुन्दर वस्त्राभूषण, यह सुन्दर पुस्तक, यह सुन्दर मकान, ये चमकते हुए सुन्दर बर्तन, यह बढ़िया टेबुल प्रभृति समस्त पदार्थ स्वभाव से जड़ हैं, इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है । तो यह अपने चैतन्य सत् स्वभाव में स्थित हो जाता है।

अज्ञानी जीव मोह के कारण अपने साथ बंधे हुए शरीर को और नये बंधे हुए धन सम्पत्ति पुत्र आदि को अपना समझता है। तथा यह जीव मिथ्यात्व राग द्वेष. क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभावों के संयोग के कारण अपने को रागी द्वेषी लोभी आदि समझता है, पर वास्तव में यह बात नहीं है। यह स्त्री पुत्र आदि आत्मा के नहीं हैं। आत्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल जीव रूप नहीं हो सकता है। आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञाता दृष्टा है।

देह और आत्मा के भेद विज्ञान को जानकर तथा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विकार रहित चमत्कारी आत्मा का अनुभव करना भेद विज्ञान है। भेद विज्ञानी अपनी बाह्य आँखों से शरीर को देखता है तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मा को देखता है। जो संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव हैं, उनकी दृष्टि और प्रवृत्ति इस देह की ओर होती है। इसलिए किसी को धनी, किसी को दरिद्री, किसी

को मोटा, किसी को बलवान, किसी को कमजोर, किसी को सच्चा, किसी को झूठा, किसी को ज्ञानी, किसी को अज्ञानी के रूप में देखते हैं। पर ये सब आत्मा के धर्म नहीं, ये व्यवहार केवल शरीर, धन आदि बाह्य पदार्थ के निमित्त से होता है। जिसकी दृष्टि जैसी होगी उसे वस्तु वैसी दिखलाई पड़ेगी। एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोण से देख सकते है। जैसे एक सुन्दर स्वस्थ गाय को देखकर चमार कहेगा कि इसका चमड़ा सुन्दर है। कसाई कहेगा कि इसका मांस अच्छा है। ग्वाल कहेगा कि यह दूध देने वाली है। किसान कहेगा कि इसके बछड़े बहुत मजबूत होंगे। कोई तत्वज्ञ बुद्धि कहेगा कि आत्मा की कैसी विचित्र २ प्रवृत्तियां हैं, कभी यह मनुष्य शरीर में आबद्ध रहता है तो कभी पशु शरीर में।

पुद्गल पदार्थों पर दृष्टि रखने वाले को अनन्त शक्तिशाली आत्मा भी देह रूप दिखलाई पड़ता है। आध्यात्मिक भेद विज्ञान की दृष्टि वाले को प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाला यह शरीर भी चैतन्य आत्म-शक्ति की सत्ता का धारी तथा उसके बिलास-मन्दिर के रूप में दिखलाई पड़ता है। भेद विज्ञान की दृष्टि प्राप्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार इस शरीर में ही होता है। भेद विज्ञान द्वारा आत्मा के जान लेने पर भौतिक पदार्थों से आस्था हट जाती है। स्वामी कुन्दकुन्द ने समयसार में भेद विज्ञानी की दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि॥ ७८॥

मै निश्चय से शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ, मै अपने आत्म स्वरूप में स्थित एवं तन्मय होता हुआ भी इन सभी काम क्रोधादि आस्रव भावों का नाश करता हूँ।

जीव के साथ बन्ध रूप क्रोधादि आस्रव भाव क्षणिक है, विनाशीक हैं, दुःख रूप हैं, ऐसा समझकर भेद विज्ञानी जीव इन भावों से अपने को हटाता है । भेद विज्ञान द्वारा एक मै शुद्ध हूँ, चैतन्य निधि हूँ, कर्मो से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, मेरा स्वभाव त्रिकाल में भी किसी के द्वारा विकृत नही होता है। ऐसा विचारता है।

मोह के विकार से उत्पन्न हुए शरीर अथवा अन्य बाह्य पदार्थ ये मेरे नहीं हैं, पौद्‌गलिक भाव मुझसे बहुत दूर हैं, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है मेरी शक्ति अच्छेद्य और अभेद्य है,अनुपम सुख का भण्डार मेरा यह आत्मा है। वर्णादि या रागादि इससे अलग हैं। जैसे घड़े में घी रखने से घडा घी का रूप धारण नहीं कर सकता है,उसी प्रकार आत्मा के इस शरीर में रहने पर भी पुद्‌गल का कोई भी रूप रस आदि गुण इसमें नहीं आता है । और आत्मा का चेतन गुण भी इस शरीर में नहीं पहुंचता है । आत्मा और शरीर-कर्म साथ रहते हुए भी परस्पर में असम्बद्ध हैं । दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध नही है, संयोग सम्बन्ध है जो कभी भी दूर किया जा सकता है। जब आत्मा मोक्ष को अपने से भिन्न मानने लगता है तो निश्चय छूट जाता है । मिथ्या मोह से ग्रसित आत्मा जब तक अपने को नहीं पहचानता तब तक कर्मबद्ध रहता है तथा कषाय और विकार रूपी चोर आत्म धन को चुराते रहते हैं;किंतु जब यह आत्मा

जग जाता है तो चोर अपने आप भाग जाते हैं। आत्मा में जितना सुख है वही वास्तविक है। पराधीन जितना सुख है वह दुःख रूप है इसलिए सुख को आत्माधीन करना चाहिए। भेदज्ञानी आत्मा को सदा सजग, अमूल्य, निर्विकारी, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी समझता है।

आत्म-सुख का कारण

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव मांहि न तातें शिवमग लाग्यो चहिये॥

इस जीव के लिए कल्याण स्वरूप सुख है, वह हित-कल्याण आकुलता बिना कहा जाता है। जन्म आदि का संक्लेश-दुःख मोक्ष में नहीं है इसलिए मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए।

आकुलता ही दुःख का कारण है। आकुलता के द्वारा अनेक पर्याय धारण करते हुए संसार में भ्रमण करता है। आचार्यों ने कहा है कि देवादि ये चार गतियाँ हैं। इस प्रकार यह जीव संसार में विषय वासना के आधीन होकर इन चारों गतियों में हमेशा भ्रमण किया करता है। इसी से यह जीव हमेशा गाड़ी के समान संसार में परिभ्रमण कर रहा है। कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकायमें कहा है कि—

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा॥ १२६॥

देवगति वाले जीव चार समूह रूप से चार प्रकार के हैं। और मनुष्य कर्मभूमि और भोगभूमि वाले हैं। तिर्यंच गति वाले बहुत तरह के हैं। नारकी पृथ्वी के भेद प्रमाण हैं।

विशेषार्थ—देवों के चार भेद हैं-भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक। मनुष्यों के दो भेद हैं-एक वे जो भोगभूमि में जन्मते हैं। दूसरे वे जो कर्मभूमि में पैदा होते हैं। तिर्यंच वहुत प्रकार के हैं। पृथ्वी आदि पांच एकेंद्रिय, डांस आदि दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चार इंद्रिय ऐसे तीन प्रकार के विकलत्रय तिर्यंच है। जल में चलने वाले, भूमि में चलने वाले तथा आकाश में उड़ने वाले ऐसे द्विपद, चौपद आदि पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं। रत्न, शर्करा, वालुका, पंक, धूम, तम, महातम, ऐसी सात पृथ्वी हैं, जिनमें सात नरक हैं, उनके निवासी नारकी हैं। यहाँ सूत्र का भाव यह है कि जिन जीवों ने सिद्ध गति को प्राप्त नहीं किया, अथवा सिद्ध के समान अपना शुद्ध आत्मा है इस भावना से शून्य है, उन जीवों ने जो नरकादि चार गति रूप नामकर्म वांधा है, उसके उदय के आधीन ये जीव देव आदि गतियों में पैदा होते हैं।

इस गाथा में यह दिखलाया है कि चार तरह की गति या जीवन की अवस्था जगत भर में पाई जाती है। कर्म वन्धन सहित जीव इनमें से किसी अवस्था को धारण करता हुआ संसार के दुःख और सुखों को भोगता है और राग द्वेष मोह के कारण नये कर्मों को वाँधता है। जैन सिद्धान्त में चार आयु कर्म व चार ही गति नामकर्म वताये है। जव एक जीव किसी शरीर को त्यागता है, तव आगे के लिए जैसा आयु कर्म वाँधा जाता है, उस ही आयु के अनुकूल गति का उदय हो जाता है। इन्हीं के उदय की प्रेरणा से विशेष गति की ओर खिंचा हुआ चला जाता है। आयु के उदय

से किसी गति में बंधा हुआ रहता है व गति के उदय से विशेष अवस्था प्राप्त होती है। एक जीव चार में से एक ही प्रकार की आयु का बंध आगे के लिए करता है, यद्यपि गति में चारों का ही बंध अपने परिणामों के अनुसार करता रहता है तथापि जिस आयु का उदय शुरू होता है, उस ही गति का उदय तब उस आयु के साथ हो जाता है।

देवों की अवस्था विशेष पुण्य के उदय से अन्यों से विलक्षण होती है। अस्थि, मांस, रुधिर रहित दिव्य चमकता हुआ आहारक वर्गणाओं का बना हुआ उनका वैक्रियक शरीर बहुत सुडौल, परम सुन्दर मनुष्य के आकार के समान पाँच इंद्रिय और मन सहित होता है। हाथ, पग, मुख, नासिका, चक्षु, कर्ण, मस्तक आदि सब मनुष्य के समान आकार के होते हैं। उनके सींग, पूँछ आदि वीभत्स व कई हाथ आदि ऐसा रूप नही होता है। उनमें इस जाति कर्म का उदय होता है जिससे वे अपने शरीर के कई शरीर व चाहे जैसे अच्छे या बुरे शरीर बना सकते है। पुण्य के उदय से उनको श्वास बहुत देर पीछे आता है तथा भूख भी बहुत दिनों पीछे लगती है। यदि एक सागर की आयु हो तो पन्द्रह दिन पीछे श्वास होगा व एक हजार वर्ष पीछे भूख लगेगी। उनको बाहर से कोई वस्तु खाने की जरूरत नहीं पड़ती, न उन्हें मुख चलाना पड़ता है। उनके कण्ठ में ऐसी कुछ शुभ वर्गणाएं होती है जिनसे अमृत की बूंदें झड़ जाती हैं और तुरंत भूख मिट जाती है। इनके शरीर में रोग, व निगोदिया जीव नहीं होते। काम सेवन की इच्छा उच्च

देवों में कमती कमती होती जाती है। सोलह स्वर्ग के ऊपर अह-मिंद्र देवों मे बिलकुल काम इच्छा होती ही नही, न वहाँ देवियाँ ही होती है। देवों में कोई देव किसी अन्य देव की देवी के साथ कुशील भाव नहीं करता है, न एक दूसरे की सम्पत्ति चुराते है, जो अपने २ पुण्य के उदय से प्राप्त है, उस ही में सन्तोष रखते है। उनके चित्त मे दूसरे की ऋद्धि, विभूति देखकर मानसिक दुःख रहता है तथा जब आयु में छः मास शेष रहते हैं, तब उनके आभूषणादि की कांति उनको मंद मालूम पड़ती है तब वे तिर्यंच आयु बाधकर मध्य लोक में आकर पृथ्वी जल तथा वनस्पतिकायिक जीव हो जाते है या पंचेन्द्री सैनी पशु हो जाते हैं। देवों में इन्द्रियों के भोग की सामग्री बहुत होती है और एक प्रकार का भोग एक इन्द्रिय द्वारा एक समय में होता है अतएव उनके इसको छोड़ दूसरे को, दूसरे को छोड़ तीसरे को भोगने की बहुत आकुलता रहती है। देवियों की आयु देवों के मुकाबले थोड़ी होती है—सोलहवे स्वर्ग की देवी की आयु पचपन पल्य की होती है जब कि वहीं बाईस सागर की उत्कृष्ट आयु देव की होती है और एक सागर दश कोड़ाकोड़ी पल्य का होता है। इस कारण एक देव को अपनी नियोगिनी बहुत सी देवियों का मरण पुनः पुनः देखना पड़ता है जिसका वियोग उनके चित्त में रहता है। देवगति में भी जो मिथ्यादृष्टि व विषयलम्पटी है वे दुखी हैं, वहाँ भी वे ही सुखी व सन्तोषी रहते है जो सम्यग्दृष्टि और तत्वज्ञानी हैं। जैसे देवगति पुण्य के उदय को जीव के साथ अनगिनती वर्षों तक रखती है, वैसे ही नरकगति पाप के उदय को अनगिनती वर्षों

तक रखती है ।

नरक की सात पृथ्वियां हैं । उनमें नारकी महा भयानक शरीर के आकार रखने वाले पंचेन्द्रिय सैनी पैदा होते हैं । मूल में उनके भी शरीर का आकार मनुष्य के समान होता है परन्तु उनमें अपने ही शरीर को अनेक आकार रूप बदलने की शक्ति है । इससे वे इच्छानुसार सिंह, स्याल, भेड़िया आदि अनेक भयानक पशु का रूप रख लेते हैं । नारकी एक दूसरे को देखकर क्रोधित हो जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को नाना प्रकार के दुःख देते हैं । नरक की भूमि बड़ी दुर्गंधमय होती है, वहाँ पानी महा खारी होता है । वे नारकी निरंतर भूख प्यास की वेदना से आकुल रहते हैं । नरक की पृथ्वी की मिट्टी व नदी का खारी जल खाते पीते हैं तथापि उनकी भूख प्यास मिटती नहीं है । जैसे देवगति में यह संसारी प्राणी दश हजार वर्ष की आयु से लेकर तेतीस सागर की आयु तक सुख भोगता है, वैसे नरक गति में नारकी दश हजार वर्ष की आयु से लेकर तेतीस सागर की आयु तक दुःख भोगता है । तिर्यंच गति कुछ कम पाप के उदय से होती है । एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि से लेकर पंचेन्द्रिय सैनी पशु, घोड़ा, बन्दर हाथी, आदि सब इस गति में हैं । इनकी पराधीन व दुःखमय अवस्था सबको प्रत्यक्ष प्रगट है । ये तिर्यंच जो क्षुद्र होते हैं, उनको अनेक प्रकार से मनुष्यों के व्यापारों से अपने प्राण देने पड़ते हैं, माँसलोलुपी मनुष्यों के कारण पंचेन्द्री सैनी बकरे, भैंसे, गाय आदि पशु बड़ी निर्दयता से वध किये जाते हैं, शेर हिरन आदि का शिकार किया जाता है । इस गति के अपार दुःख

बिचारने से शरीर में रोमांच खड़े हो जाते हैं।

मनुष्य गति कुछ पुण्य, कुछ पाप दोनों के उदय से होती है। ये मनुष्य ढाई द्वीपों में पैदा होते हैं। इनमें तीस भोगभूमियां है जहां सदा ही युगल स्त्री पुरुष साथ २ पैदा होते हैं। जब इनकी आयु नौ मास शेष रहती है, तब स्त्री के गर्भ रहता है। नौ मास पूर्ण होने पर एक युगल-पुत्र और कन्या को जन्म देकर दोनों साथ ही मरते हैं। पुरुष को छींक आती है और स्त्री को जंभाई। और वे मर जाते हैं और शरद ऋतु के बादलों की तरह उनके शरीर आमूल विलीन हो जाते हैं। तब नवजात बालक तीन दिन तक अंगूठा चूसकर बैठने लगते हैं और उसके छह दिन बाद ठीक तरह चलना शुरू कर देते है। कल्पवृक्षों से मन के अनुसार वस्तु प्राप्त हो जाती है। मन्द कषाय से सन्तोष के साथ ये अपने दीर्घ जीवन को बिताते हैं इसलिए मर कर देवगति में ही जाते है। उनका शरीर धातुमय होते हुए भी छेदा भेदा नहीं जा सकता, अशुचि से रहित होता है अतः शरीर में मूत्र, विष्ठा का आस्रव नहीं होता। वे बड़े मधुर भाषी, कुल जाति के भेद से रहित और दरिद्रता से रहित होते है। वहाँ तिर्यंच भी होते हैं किन्तु वे भी मन्द कषायी और युगल रूप ही होते हैं। वहाँ गाय, सिह, भेड़िया, रीछ, कबूतर, मोर आदि सभी जाति के पशु-पक्षी होते है। किंतु न उनमे क्रूरता होती है और न वे मांस-भक्षण करते हैं, बल्कि दिव्य तृणों और कल्पवृक्षों के फलों का भक्षण करते है। ढाई द्वीप मे एक सौ आठ विदेह क्षेत्र हैं, जहाँ सदा कर्म भूमि रहती है। जहां असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या, शिल्प इन

छः कर्मों से आजीविका हो तथा मोक्ष मार्ग के लिए क्रियाए पालना सभव हो वह कर्म भूमि है। भरत तथा ऐरावत ढाई द्वीप में दस हैं, इनमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का चक्र चलता रहता है। अवसर्पिणी के पहले, दूसरे, तीसरे काल में तथा उत्सर्पिणी के चौथे पांचवें, छठे काल में भोगभूमि की रचना होती है। शेष तीन कालों में कर्मभूमि होती है। ढाई द्वीप के बाहर असख्यात द्वीप समुद्रों में युगल तिर्यंच पैदा होते है इसलिए यहां भी भोग भूमि है। अन्त के आधे स्वयंभूरमण द्वीप व पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमियाँ है।

इस तरह चारों गतियों में ये जीव कर्मबन्ध सहित होते हुए पूर्व मे वांधे हुए कर्मो का फल भोगते हुए नये कर्मो को भी हर एक गति में बांधते रहते हैं। जहाँ तक मोह का उपशम या नाश नही होता है, वहाँ तक संसारी जीव हर एक समय बिना किसी अन्तर के अपने तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर कषाय के उदय के आधीन रागद्वेषमई भावों से कर्मो का वंध अन्तमुहूर्त की स्थिति से लेकर सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक बाँधा करते है। चारों ही गतियों में क्रमसहित ज्ञान होता है व विषयवांछा होती है जो कभी तृप्त नहीं होती है। इससे यह संसारी प्राणी सदा दुखी ही रहता है। श्री कुलभद्र आचार्य ने सारसमुच्चय में कहा है—

अनेकशस्त्वया प्राप्ता विविधा भोगसम्पदः।
अप्सरामरसंकीर्णे दिवि देवविराजिते ॥
पुनश्च नरके रौद्रे रौरवाऽत्यन्तभीविदे।
नाना प्रकार दुःखौघैः संस्थितोऽसि विधेर्वशात् ॥

तिर्यग्गतौ च यद्दुःखं प्राप्तं छेदनभेदनैः ।
न शक्तस्तत् पुमान् वक्तुं जिह्वाकोटिशतैरपि ॥
संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं यन्न प्राप्तमनेकधा ।
देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता जन्तुनाऽनिशं ॥
चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन् संसारेऽत्यन्तभीतिदे ।
सुखदुःखान्यवाप्तानि भ्रमता विधियोगतः ॥
एवंविधमिदं कष्टं ज्ञात्वात्यन्तविनश्वरम् ।
कथं न यासि वैराग्यं धिगस्तु तव जीवितम् ।
जीवितं विद्युत्तुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥
शक्रचापसमाः भोगाः सम्पदो जलदोपमाः ।
यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम् ॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तूने देवगति में देव और देवियों से भरे हुए स्थान मे नाना प्रकार को भोग सम्पदाएँ बार बार पाई हैं तो भी तृप्त नहीं हुआ । अत्यन्त भयानक, क्रूर भाव से पूर्ण नरक में भी कर्मों के उदय से जाकर नाना प्रकार के दुःखों में पड़ा है । तिर्यंच गति में छेदन भेदन आदि से जो जो दुःख तूने पाया है,उसको करोड़ों जवानों से भी कोई मनुष्य नही कह सकता है । इस ससार में भ्रमते हुए इस जीव को देव, मनुष्य व तिर्यंच गति में ऐसा कोई सुख नहीं जो नही मिला हो, परन्तु तृप्त नहीं हुआ । कर्मों के उदय से चारों ही गतियों में इस भयानक संसार के भीतर घूमते हुए अनेक सुख तथा दुःख पाये है ।

इस प्रकार अत्यंत क्षणभंगुर व कष्टमय संसार की अवस्था को जानकर क्यों नहीं वैराग्य भाव को प्राप्त करता है। यदि वैराग्य धारण नहीं करेगा तो तेरा जीवन धिक्कार के योग्य है। यह जीवन बिजली के समान चंचल है, पदार्थों का संयोग स्वप्न के समान है, स्नेह संध्या की लाली के समान है तथा शरीर तृण पर पड़े हुए जल-बिन्दु के समान क्षणभंगुर है। ये भोग इन्द्र-धनुष के समान है, सम्पत्ति मेघों के समान है, जवानी जल की रेखा के समान है। ये सब ही चीजे क्षणभंगुर हैं।

इसलिए ज्ञानी जीव को पंचम गति-मोक्ष को ही उपादेय जान उसी की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना योग्य है।

आगे दिखलाते हैं कि गति नामा नामकर्म व आयुकर्म के उदय से प्राप्त जो देव आदि गतियाँ हैं, उनमें आत्मा का आत्म स्वभाव नहीं है। वे आत्मा की विभाव या अशुद्ध अवस्थाएँ है। अथवा जो कोई वादी ऐसा कहते है कि जगत में एक जीव की अन्य अवस्थाएं नहीं होती है, देव मर कर देव ही होता है, मनुष्य मर कर मनुष्य ही होते हैं। इसका निषेध करने के लिए कहते है—

यह संसारी आत्मा इस प्रकार आकुलता के कारण संसार में चार गतियों में भ्रमण करके अनेक प्रकार के दुःख भोगता है।

इसलिए हे भव्य जीव! अगर तुझे इसका नाश करने की मन में उत्कंठा है तो इस मोह के आवरण को दूर कर, तभी आत्मा के राग द्वेष का नाश होगा। जहाँ राग द्वेष का अभाव है, वहीं सुख दुःख के समान भाव होते है। वहीं आकुलता रहित आत्मिक सुख

अवश्य होता है। इस मोह की गांठों को खोलने से अविनाशी सुख रूप ही फल प्राप्त होता है।

जब यह आत्मा निर्मल होता है तो मोह के कारण जो परद्रव्य में और पर वृत्ति मे राग भाव होता है उसके अभाव से इंद्रियों के विषयों से वैराग्य भाव आता है । जब इंद्रिय विषयों से वैराग्य भाव होता है तो विषयरूप के अभाव से मन अपने आप निश्चल हो जाता है। जैसे समुद्र का पक्षी जहाज के ऊपर इधर उधर उड़ने के बाद आप ही निश्चल होकर ठहरता है । उसी प्रकार यह मन भी वैराग्य भाव से पर द्रव्य रूप इन्द्रिय विषय आधार के बिना निश्चल होता है। इस कारण आत्मा शुद्ध होता है। अतः यह परम सुख का कारण है।

अगुष्टं मोदलागि नेत्तिवरेगं सर्वांग सम्पूर्णं नु-
त्तं गज्ञानमयं सुदर्शनमयं चारित्र तेजो मयं ॥
मांगल्यं महिमं स्वयंभु सुखि निर्बाधं निरापेक्षि नि-
र्म्मगंबोल्परमात्मनेंद रुपिदे ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

परमात्मा तुम्हारे शरीर में पांव के अंगुल से लेकर मस्तिष्क तक सम्पूर्ण अवयवों में तिल में तेल की भांति भरा रहता है। वह अधिक से अधिक ज्ञान स्वरूप,सम्यग्दर्शन स्वरूप और सम्यक्चारित्र रूप ऐसा अत्यंत तेजस्वी प्रकाशमान स्वरूपवाला है। वह पुनः मंगल स्वरूप अतिशययुक्त कषाय रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त हो

गया है। वह सुख स्वरूप वाला विषयासक्ति से रहित ऐसा परमात्मा सम्पूर्ण शरीर में भर करके रहा हुआ है, ऐसा आपने कहा है।

विशेषार्थ—यह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति धारण करनेवाले सिद्धस्वरूप, स्थिर अचल, शुद्ध ज्ञानमय होने पर भी अनादि काल से लगे हुए पर द्रव्य आवरण से शुभ अशुभ राग द्वारा किया हुआ जो पर्याय है वह पर्याय चार प्रकार की है—एक नरक पर्याय, एक देव पर्याय, एक तिर्यंच पर्याय, एक मनुष्य पर्याय। ऐसे चार पर्याय धारण किए हुए उत्पाद व्यय रूप में प्रतिक्षण परिवर्तन वाला है। इस तरह से आत्मा शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा कभी मनुष्य गति, कभी देव गति, कभी तिर्यंच गति, कभी नरक गति इस तरह से गतियों में भ्रमण करता रहता है। इसके अतिरिक्त एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय को अथवा शुभ अशुभ नामकर्म के द्वारा उच्च नीच गति को प्राप्त करता है। जिस गति में नाम कर्म के उदय से जो पर्याय धारण करता है उस पर्याय से आत्मा उस शरीर के बराबर रहता है। एकेन्द्रिय शरीर नामकर्म के उदय से एकेन्द्रिय पर्याय धारण करता है और उसी के बराबर होता है। जब दो इन्द्रिय शरीर धारण करता है, तो उसके बराबर हो जाता है। तीन या चार इन्द्रिय शरीर धारण करता है, उसके बराबर रहने वाला हो जाता है। इससे भी सूक्ष्म, अत्यन्त सूक्ष्म शरीर धारण करने पर उसी शरीर के आकार में रहता है।

इस प्रकार उच्च नीच शरीर नामकर्म के उदय से आत्म जैसी राग परिणति में परिणमता है उसी प्रकार शरीर को धारण करने

वाला होता है । जब पूर्व पुण्य के उदय से मनुष्य पर्याय धारण करता है तब शुभाशुभ पुण्य और पाप को जानने की योग्यता इस पर्याय में प्राप्त होती है। इस तरह से आत्मा कर्मफल चेतना, ज्ञान चेतना वाला होकर इस संसार में परिभ्रमण करता है। कभी ज्ञान चेतना वाला अर्थात् स्व-पर आत्म स्वभाव को पहचानने वाला जब होता है तब उसको स्वपर का ज्ञान होता है और हेय उपादेय को समझने लगता है। और तब अनादि काल से इस शरीर के साथ दूध और पानी के समान एक क्षेत्रावगाह के रूप में रहने वाला अनन्तज्ञान का धारक यह आत्मा उसके अनुभव में प्रतीत होने लगता है।

आत्मा का अनुभव

यह आत्मा इस शरीर में रहते हुए ज्ञानी के अनुभव में किस तरह से आ जाता है यह बतलाते है। जैसे पानी से भरे हुए हण्डे में नमक डाल दिया जाय तो नमक उसमें घुलकर पानी के रूप में परिणत हो जाता है। अगर उस नमक को फिर निकालना चाहें तो वह हाथ में नहीं आता । जब उसी पानी को मुँह में डाल लेते हैं तब यह प्रतीत होता है कि इस पानी में नमक घुल गया है । यह दृष्टिगोचर नहीं है। इसी तरह यह ज्ञान स्वरूप आत्मा इस सम्पूर्ण शरीर में पानी और नमक के समान एक क्षेत्रानुरूप से मिलकर रहने वाला हो गया है। ऐसा समझ कर ज्ञानी जीव उसको प्रकट करने के लिए स्व पर का ज्ञान कर लेता है। तब वह उस अनुभव-

गोचर आत्म स्वरूप का अनुभव करता है और धीरे धीरे पर द्रव्य सम्बन्धी होने वाले मोह राग को दूर करने का प्रयत्न करता है। तब आत्म स्वरूप उसके अनुभव में आ जाता है। यह अज्ञानी के अनुभव में नहीं आता है।

अज्ञान की दशा

अज्ञानी जीव अनादि काल से स्व पर का ज्ञान न होने के कारण बाह्य शरीर को ही अपनी आत्मा मान रहा है। अनादिकाल से वह राग परिणति करके उसी की खुशामद में आदि अन्त रहित पर्याय को धारण करते हुए जन्म मरण के चक्कर में परिभ्रमण कर रहा है। जैसे हाथी को घास में चावल, घी, मिष्टान्न या लड्डू मिलाकर अगर उसके सामने रक्खे तो वह खाकर उसके स्वाद को नहीं समझता। वह खाकर घास की ही तारीफ करेगा, परन्तु मिष्टान्न की तारीफ नहीं करेगा। इसी तरह यह अज्ञानी आत्मा अनादि काल से आत्म स्वरूप की भावना की कल्पना न करके हमेशा ही बाह्य इन्द्रिय सुख के प्रति लालायित होकर सोचता रहता है कि ये ही मेरा स्वरूप है, इसके अलावा और कोई वस्तु नहीं है और इसी जड़ पुद्गल की आराधना करते हुए जड़ को प्राप्त हो गया है। जब तक जड़ में आत्म बुद्धि है, तब तक यह आत्मा जड़ के साथ अनन्त काल तक दुःख भोगता रहेगा। परन्तु उसको आत्मोन्नति के मार्ग की प्रतीति कभी नहीं हो सकती। अतः मनुष्य पर्याय प्राप्त होने के बाद अपने को स्वयं पहचानने की जरूरत है।

भो भव्याः ! भवकान्तारे पर्यटद्भिरनारतम् ।
अत्यन्तदुर्लभो ह्येषः धर्मः सर्वज्ञभाषितः ॥

करुणामयी सद्गुरु इस अज्ञानी जीव को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भव्य जीव ! सबसे पहले जीव का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है । जिससे आप अपनी पहचान होती है । जब तक अपनी अपने को खबर न हो, तब तक पर का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः स्व-पर का ज्ञान कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

सबसे प्रथम जीव का जीवन है। वस्त्र आहार आदि तो बाद में हैं। जीव है, सबसे पहले अपने को ऐसा समझ लेना पड़ेगा। वस्त्र आहार इत्यादि जीव के जीवन का साधन मात्र ही है। परन्तु जीवन चीज अलग है । वस्त्रादि जीव का जीवन नहीं है । धन कुटुम्ब और शरीर ये तमाम बातों से जीव भिन्न वस्तु है। इनमें से कोई एक पदार्थ भी जीव का नहीं है। यह काया, कामिनी, कुटुम्ब और कंचन ये चारों चीज मिलाने का प्रयत्न करता है, इनकी पहचान को ज्ञान मान लेता है और इसको प्राप्त करने के लिए अर्थात् मिलाने के लिए अत्यन्त उद्यम करता है। जीवन है वह जीव है। जीव का जीवन मर्यादा वाला है। और जीव अनादि अनन्त वाला है, इसका कोई आदि अन्त नहीं है।

जो इकट्ठा करता है, उसमें अज्ञान से 'मेरा है' ऐसी अपने अपने की बुद्धि करता है और कमा कर ढेर लगाता है। उसके प्रति राग द्वेष करता है, अनेक प्रकार के आर्त, रौद्र ध्यान करता है । फिर

भी पर द्रव्य की अपने लिए मर्यादा समझता है । यह मोह की महिमा है।

इस संसार में देखा जाय, तो अमर होने पर भी अमर कोई नहीं रहा । देव दानव चक्रवर्ती इन्द्र सबका जीवन नाशवान है, यह निश्चय है। जीव आज जीना चाहता है परन्तु अपने को कैसा जीना चाहिए, यह मालूम न होने के कारण जन्म मरण की कल्पना में अभी तक भ्रमण कर रहा है। परन्तु हमेशा जीने के वास्ते उसने प्रयत्न नहीं किया। संसार में जितनी वस्तु हैं, उनमें से हर एक वस्तु की जानकारी तो उसने कर ली परन्तु केवल अपने आत्मा की जानकारी अभी तक नहीं की।

एक जीव अनेक जीवपने को प्राप्त होता है। आज मनुष्य है। उसी पर्याय में अशुभ कर्म का बन्ध करके कभी एकेन्द्रिय पर्याय में जा करके एकेन्द्रिय कहलाता है। इस एकेन्द्रिय शरीर को छोड़कर दूसरा दो इन्द्रिय वाला जीव कहलाता है । इसी कल्पना से अनेक जीवन को प्राप्त होता है। कभी नारकी, कभी देव इनके भी जीवन को प्राप्त हो जाता है । इसका सार यह है कि जिस जिस जीवन में जाता है उस जीवन में साधन जुटाने की चेष्टा करता है, निर्वाह की चेष्टा करता है।

जीवन के निर्वाह के लिए चार वस्तुएं मिली हुई हैं—आहार शरीर, इन्द्रिय और विषय । आहार बिना तो शरीर ही नहीं चल सकता। शरीर आहार से बनता है । मनुष्य जीवन में, उस जीवन को उत्तेजित रखने वाले उस शरीर में विषय की चाह उत्पन्न होत

है। तब उसके लिये उसके साथ द्रव्य की आवश्यकता, स्त्री की आवश्यकता, कुटुम्ब की आवश्यकता होती है। जीव इन सबके लिये, एक एक साधन के लिये हमेशा प्रयत्न करता रहता है। आहार के जुटाने में अनेक प्रकार की युक्ति, अनेक प्रकार के साधन संग्रह करने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार, आहार, शरीर, इन्द्रिय, विषयों के लिये धन धान्यादि, काच, कंचन, काया, कुटुम्ब आदि परिवार इकट्ठा कर लेता है। उसके ऊपर अत्यन्त ममत्व बुद्धि करके इनका पालन पोषण करने के लिए अनेक निद्य काम करता है और देश विदेश में जाकर अनेक कूटनीति की क्रिया करता है। पर सब करते हुए पाप पुण्य की उसे तिल मात्र भी जानकारी नहीं रहती। ऐसे जीव संसार में अज्ञान के वशीभूत होकर अनेक पाप करके फिर संसार में परिभ्रमण करते हैं।

जब जीव का जन्म हो जाता है, उस समय शरीर बहुत छोटा लेकर आता है, बाद में वही शरीर बड़ा होता है। यहाँ तक कि तीन तीन कोस तक का शरीर धारण करता है। अज्ञानी आत्मा इसका बोझा लेकर भटकता है। इतना ही नही, इसके साथ अपना कुटुम्ब कांच कंचन आदि भी घेरे रखता है। परन्तु इससे उसको दुःख मालूम नहीं होता।

एक बादशाह बहुत जुल्मी था और विलासी भी था। वह धर्म आदि कुछ नहीं मानता था। एक दिन वह बीमार पड़ गया। अन्त-काल नजदीक आ गया। बादशाह की वृद्धा माता के मन में विचार आया कि यदि किसी रीति से खुदा का आशीर्वाद प्राप्त हो जाय,

तो मेरा पुत्र जल्दी अच्छा हो जाय । बादशाह के मन में धर्म के प्रति या अल्लाह के नाम के प्रति अरुचि थी इसलिए माता ने विचार किया कि किसी तरह से बादशाह की रुचि धर्म में करनी चाहिए। माता ने युक्ति सोचकर कहा—बेटा ! तेरे बाप दादा की मृत्यु हो गई और उनका कफन भी फट गया है। उसी माफिक तेरी भी जिन्दगी है। क्या तुझे यह नहीं दीखता । तेरे बाप दादा यहाँ से कुछ नहीं ले गये, केवल फटा हुआ कफन यहाँ रह गया है, इसी प्रकार तू भी जा रहा है । जाते समय कुछ अपने साथ तो ले जा । जहाँ पर तेरे बाप दादा गये हैं, वहाँ पर ही तू जायेगा। अपने बाप दादा के लिए कुछ तो ले जा। जब तू जा रहा है तो कुछ न कुछ बाँध करके ले जा। ये कफन ले ले अपने साथ। इतना ही उसकी माता ने उसको समझाया।

बादशाह की माता बेगम ने इतना कह करके बादशाह के हाथ में कपड़े आदि ले जाने के लिए दिये। बादशाह ने पूछा-माता जी ! क्या यह भी चीज जाते समय ले जाते है।

माता ने कहा—हाँ, इतना खजाना है, इतना लश्कर है, यह सभी अपने साथ ले जाओ। क्योंकि तुम्हारे जाने के बाद इसकी रक्षा कौन करेगा। यह सभी चीज तुम्हारे लिए ही है । तब बादशाह आँख खोल करके उसी समय कहता है कि अरे, इतनी चीजों में से मेरे बाबा कोई भी चीज नही ले गये। तो मै कैसे ले जा सकता हूँ। बादशाह ने कहा—माता जी ! यह सभी यहाँ पर ही रहने वाला है। उस समय उसकी मां बोली कि तेरे खुदा की मर्जी। तब बादशाह

बोला—ऐ खुदा ! तुझको मैंने इन्द्रिय भोगों और कुटुम्ब की लालसा में अब तक ठुकरा दिया था, विषय कषाय में रत होकर अभी तक समझा था कि ये मेरी चीजें है किन्तु इनमें कुछ भी मेरे साथ जाने वाला नहीं है, आक़वत में (परलोक में) केवल खुदा ही मदद करता है। लेकिन मैंने उस खुदा को ही भुला दिया। खुद ही खुदा है। मैंने अब तक खुद को ही भुला दिया था। अब भी यदि मै खुद को जान लूं तो मैं ही खुदा बन जाऊं। खुद को न पहचान करके मै पर वस्तुओं में ही फँस गया। इसलिए मुझे सुख और शान्ति कभी नहीं मिली। और इतनी लम्बी जिन्दगी मैंने यों ही गंवा दी। काश ! यह बात मैं पहले समझ गया होता,। लेकिन अब पछताने से क्या लाभ है। अब भी वक्त है—

गई सो गई अब राख रही को

इसका सार यही है कि अनादि काल से अभी तक मैने जो इस जड़ पदार्थ को इकट्ठा किया, वह मर्यादा लेकर के आया है और यह रूपी पदार्थ है जब कि मेरा आत्मा अरूपी है। रूपी के साथ अरूपी का सम्बन्ध कभी नहीं बन सकता। जो मैंने कमाया है, वह सब अन्त समय में यहीं पर रह जाता है। शरीर, इन्द्रिय, विषय, कंचन, कामिनी व कुटुम्ब आदि अनेक भवों में मैने प्राप्त किये है किन्तु जाते समय वहाँ का वहीं छोड़ करके गया हूं। मै सबको एक अज्ञानी बालक के समान छोड़ कर चला गया, कुछ भी मेरे साथ नहीं गया। अभी तक मैने जितना कमाया है उसमें से एक चीज भी मेरे लिये कल्याणकारी या सुख देने वाली साबित नही हुई। उद्यम.

तो वहुत किया परन्तु उद्यम केवल खिलौना ही वन गया अर्थात् व्यर्थ ही रहा । इसी तरह से अनादि काल से जन्म मरण करके अव मनुष्य पर्याय पाई परन्तु मेरी जिन्दगी व्यर्थ ही चली गई । परन्तु आज मै जा रहा हूँ, 'जाना निश्चित है, लेकिन जाते समय मैं क्या ले जा रहा हूँ, कुछ भी नही । यह शरीर भी कब्र या चिता तक जायगा, मै मुट्ठी बाँधकर आया था और हाथ पसार कर जा रहा हूँ । जितनी चीजे इकट्ठी की थी, उनमें से कोई भी मेरे साथ नहीं जा रही है । मै अकेला हो जा रहा हूँ । नौकर लोग विचारते थे कि राजा सभी के रक्षक है, राज्य के मालिक है, किन्तु आज उन-का राजा हमेशा के लिए जा रहा है ।

यही दशा सब की होने वाली है । जो आया है वह जायगा । विचार करके देखा जाय तो इस संसार में हमारी दशा घूँस के समान है । जैसे घूँस मिट्टी खोद करके ढेर लगाती है, इसी तरह से मनुष्य जीवन भर इन्द्रिय सुख के लिये मिट्टी का ढेर लगाता है किन्तु आयु के अवसान में यह ढेर यहाँ का यहीं रह जाता है । जिस प्रकार खाली हाथ आया था, उसी प्रकार खाली हाथ चला जाता है ।

अज्ञानी मानव की दशा

अज्ञानी जीव यही समझता है कि जो भी मैंने इकट्ठा किया है, वह सभी मेरे साथ ही जायगा । मैं इसका धनी हूँ, मेरा ही यह है, अज्ञानी यही भावना करता हुआ इस संसार में विषय वासना बढ़ाने के अनेक उद्यम करता है ।

एक बुढ़िया की एक लड़की थी, वह उसे बड़ा प्यार करती थी, उसके लिये अच्छे अच्छे वस्त्र जेवर आदि बनवाती थी। फिर उस-का विवाह भी अच्छे घराने में कर दिया, परन्तु आयु कर्म समाप्त होने से लड़की देवलोक सिधार गई। तो उस बुढ़िया ने उस लड़की के प्रति प्रेम अधिक होने के कारण उसके कपड़े आदि बाध करके रख लिये। एक दिन की बात है, गर्मी का समय था, कोई एक मनुष्य कहीं से चला आ रहा था। बुढ़िया ने रास्ते मे उस मनुष्य से पूछा– बेटा! तुम कहाँ से आ रहे हो। वह गर्मी के मारे परेशान तो था ही, झुंझलाकर बोला–'मैं मिट्टी (मशान) से आया हूँ।' बुढिया ने फिर पूछा—'तो तुम कहाँ जाओगे'। तो उस आदमी ने फिर झुंझलाकर कहा—'मशान में जाऊँगा।' बुढ़िया सुन करके बहुत खुश हुई। बोली– 'बेटा! तुम श्मशान में जा रहे हो। मेरी लड़की भी वहीं है। बेटा! मेरी लड़की के जेवर वस्त्रादि मशान में पहुँचा दोगे? आदमी ने कहा कि मै वहीं जा रहा हूँ, निकाल कर दे दो। बुढ़िया घर गई और लाकर बोली—सभी जेवर वस्त्रादि मेरी लड़की को दे देना। उस आदमी ने कहा कि अच्छा, आपकी लड़की को दे दूँगा।

बुढ़िया ने उसको राजी खुशी विदा किया। वह हजारों रुपये के जेवर कपड़ा आदि लेकर के चम्पत हो गया। रास्ते में वह चर्ख चलाने वाले एक किसान से पानी पीने के लिए उसके पास पहुँचा। उधर थोड़ी देर में बुढ़िया घर पहुँची और सब किस्सा अपने पुत्र को बताने लगी। सुनकर लड़का बड़ा गुस्सा हुआ, वह घोड़े पर बैठ

करके रास्ते में उसे ढूंढने के लिए गया । वह उसी कुए पर पहुँचा जहाँ वह आदमी पानी पीने के लिये गया था। उसने घोड़ा पेड़ से बाँधा और किसान से जाकर उस आदमी के बारे में पूछने लगा। इधर वह उस लड़के के घोड़े को लेकर चम्पत हो गया । तब वह वहाँ से लौट कर आ कर देखता है कि वह घोड़ा भी नही और आदमी भी नही है। विचारा घर लौट आया तो बुढ़िया ने पूछा— बेटा! क्या सारा सामान लौटा लाये ?

कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार में जिसे अपना समझते हैं, उसे काल हमसे छीन ले जाता है, एक कौड़ी तक हमारे साथ नहीं जाता। सब यहीं रह जाता है। पर द्रव्य पर इच्छा करना कि यह सारी वस्तु मेरे साथ जायेगी केवल मिथ्या भ्रम है। इस तरह अज्ञानवश हम सोचते अवश्य है परन्तु स्व और पर वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने का हमको अवसर ही प्राप्त नही हुआ।

बुद्धिमान् व्यक्ति को कभी मोह नही करना चाहिए। क्योंकि स्व-पर का ज्ञान न होने के कारण संसारी जीव संसार में अटके हुए है। तत्त्व भावना में कहा है कि—

विख्यातौ सहचारितापरिगतावाजन्मना यौ स्थिरौ।
यत्रावार्यरयौ परस्परमिमौ विश्लिष्यतोंगांगिनौ ॥
खेदस्तत्र मनीषिणा ननु कथं बाह्ये विमुक्ते सति।
ज्ञात्वेतीह विमुच्य तामनुदिनं विश्लेषशोकव्यथा ॥ २६ ॥

ये दोनों शरीर तथा शरीरधारी जीव बड़े मशहूर हैं। अनादि काल से साथ साथ चले आ रहे है, जन्म से लेकर मरण पर्यंत

दोनों स्थिर अर्थात् साथ-साथ रहते हैं। इन दोनों को एक दूसरे से पृथक करना बड़ा ही कठिन है। तो भी इन दोनों का परस्पर वियोग हो जाता है। तब बाहरी वस्तु स्त्री पुत्रादि के छूट जाने पर बुद्धिमान पुरुष को क्यों शोक करना चाहिए ? ऐसा जानकर प्रतिदिन बाहरी वस्तुओं के वियोग के शोक को छोड़ देना ही उचित है।

भावार्थ—यहाँ पर आचार्य ने स्त्री पुत्रादि के मोह के नाश का व उनके शोक के नाश का उपाय बताया है कि बुद्धिमान प्राणी को यह विचारना उचित है कि यह शरीर, जिसका इस अशुद्ध ससारी जीव के साथ अनादि काल का सम्बन्ध है, वह भी एक भव में जन्म से लेकर मरण पर्यंत रहता है, यद्यपि वह फिर कर्मों के उदय से प्राप्त हो जाता है तो भी फिर मरण होने पर छूट जाता है। हम यदि चाहें कि इस शरीर का सम्बन्ध न हो तो हमारे वश की बात नही है। कर्मों के उदय से बारबार इनका सम्बन्ध होता ही रहता है, और छूटता रहता है। जब कर्मों का बंध बिल्कुल नहीं रहता है तब सदा के लिये शरीर का सम्बन्ध छूट जाता है। तात्पर्य यह है कि वह शरीर जिसके साथ यह जीव परस्पर दूध पानी की तरह मिला हुआ है एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध किये है, वह भी जब छूट जाता जाता है, तब स्त्री, पुत्र, मित्रादि व घर राज्य आदि जो बिल्कुल बाहरी पदार्थ हैं, उनका सम्बन्ध क्यों नहीं छूटेगा ? जो वस्तु अपनी नहीं है, उसके चले जाने का क्या खेद ? इसलिए बुद्धिमानो को कभी भी अपने किसी माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र व मित्र के वियोग पर या धन के चले जाने पर शोक नही करना चाहिए। इनका सम्बन्ध

जो कुछ है भी वह शरीर के साथ है। जब यह शरीर छूटेगा तब इनके छूटने का क्या विचार ? इसलिए पर पदार्थों के संयोग में हर्ष व वियोग में शोक न करना ही बुद्धिमानी है !

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्यपंचाशत में कहते हैं :—

> तडिदिव चलमेतत् पुत्रदारादि सर्वं ।
> किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ॥
> स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य ।
> व्यभिचरति कदाचित् सर्वभावेषु नूनं ॥

ये पुत्र स्त्री आदि सर्व पदार्थ बिजली के समान चंचल हैं। इनमें से किसी के नाश होने पर बुद्धिमानों को शोक क्यों करना चाहिए, अर्थात् शोक कभी न करना चाहिये। क्योंकि निश्चय से सर्व जगत के पदार्थों का यह स्वभाव है कि उनमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य होता रहता है। जैसे अग्नि में से उष्णता कभी नहीं जाती, वैसे पदार्थों से उत्पत्ति, नाश व स्थितिपना कभी नहीं मिटता। हर एक पदार्थ अपने मूल रूप में मूलपने से स्थिर रहता है परन्तु अवस्थाओं की अपेक्षा नाश होता है और जन्मता है। पुरानी अवस्था मिटती व नई अवस्था पैदा होती है। जगत में सब अवस्थाऐं ही दिखलाई पड़ती है। जो किसी का मरण हुआ है उसका अर्थ यह है कि उसका जन्म भी हुआ है तथा जिसमें मरण व जन्म हुआ है वह वस्तु स्थिर भी है। जैसे कोई मानव मरकर कुत्ता जन्मा। तब मानव-जन्म का नाश हुआ, कुत्ते के जन्म का उत्पाद हुआ परन्तु वह जीव वही है, जो मानव में

था, कुत्ते में वही है। ऐसा स्वभाव जानकर ज्ञानी को सदा समता-भाव रखना चाहिए।

परभाव से भिन्न ग्रात्म स्वरूप का ज्ञानी को सदा मनन करना चाहिए ।

जो पुरुष मोक्ष का इच्छुक है वह ज्ञानस्वरूप ग्रात्मा का जानने वाला होता है। इसके बाद ममता भाव का त्यागी होकर वीतराग भावों का ग्राचरण करता है। इस प्रवृत्ति की रीति इस तरह है कि मैं निज स्वभाव से ज्ञायक हूँ। इस कारण समस्त पर वस्तुओं के साथ मेरा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, मेरा यह गुण मेरे में है, मैं इसक स्वामी हूँ। इसलिए मेरे किसी पर वस्तु में ममत्व भाव नही है। समस्त ज्ञेय पदार्थो का जानना ही मेरा स्वभाव है, इस कारण वे ज्ञेय इन्द्रियों से ऐसे मालूम होते है कि मानों प्रतिमा की तरह गढ़ दिये हैं या लिखे हैं। या मेरे में समा गये है। या कीलित हैं या डूब गये हैं या पलट गये है। इस तरह मेरे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। ग्रन्य कोई भी सम्बन्ध नही है। इसलिए मै मोह को दूर कर यथाशक्ति अपने स्वरूप को निश्चल होकर आप ही ग्रंगीकार करता हूँ। मेरे स्वरूप में त्रिकाल सम्बन्धी ग्रनेक प्रकार के ग्रति गम्भीर सभी द्रव्य पर्याय एक ही समय में प्रत्यक्ष हैं ग्रौर मेरा यह स्वरूप ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का स्वरूप है तो भा स्वाभाविक सम्बन्ध ज्ञायक शक्ति से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है। मेरा स्वरूप इसी प्रकार का था। मोह के वशीभूत होकर ग्रन्य का ग्रन्य जाना। इसी कारण मैं ग्रज्ञानी हुग्रा। इस कारण ग्रप्रमादी होकर स्वरूप को स्वीकार

करता हूं और सम्यग्दर्शन से अखण्ड भगवान की आत्मा को हमारा भाव नमस्कार होवे। तथा जो अन्य जीव इस परमात्म भाव को स्वीकार किये हुए हैं उन्हें भी भाव नमस्कार हो। जितना मेरे आत्मा के साथ जड़ शरीर है उतने बराबर मेरी आत्मा उसके साथ मित्र के भाव से दूध में घी जिस प्रकार व्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर में व्याप्त है। जब ज्ञानी जीव स्वभाव से आत्म स्वरूप का ज्ञान कर लेता है वह शीघ्र ही इस संसार बन्धन से मुक्त होकर अपनी अखण्ड शान्ति को पाता है।

परम सामायिक

विसिलिं कंदद वेंकियं सुडद नीरं नांददुग्रासि मे—
दिसलु' वारद चिन्मयं मरेदु तन्नोळ्पं परध्यानदिं ॥
पसिविंदी वहुवाधेयिं रुजेगळ केडागुवीमैय्गेसं—
दिसिदं तन्नने चिंतिसल्सुखियला ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥८८

हे रत्नाकराधीश्वर !

हे भगवान ! हे वीतराग प्रभु ! इस शरीर में स्थित मेरा निज स्वरूप धूप से कभी सूखने वाला नही है, अग्नि से कभी जलने वाला नहीं है, पानी से सड़ने वाला नही है, तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा टुकड़े होने वाला नहीं है, ऐसा जो ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्मा है वह पर-वस्तु के चिन्तन से अपने स्वरूप को भूल कर धूप से, प्यास से, अनेक बाधाओं से, रोगों से नाश को प्राप्त होने वाले इस शरीर में फँसा हुआ है। अपने आपका ही अपने अन्दर रत हो करके अगर

यह जीव ध्यान करेगा तो आप ही सुखी होगा।

इस श्लोक में आचार्य ने बताया है कि ज्ञानी आत्मा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा को पर वस्तु या ध्येय या इंद्रिय विषय सम्बन्धी भोगों से भी भिन्न मानता है। वह भोगों से विरक्त होकर परम वीतराग, परम हितैषी, सत् स्वरूप ज्ञानदर्शनचारित्र रूप अपने स्वरूप का इस प्रकार चिन्तवन करता है कि—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चावि से णत्थि ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥

जीव के रूप, गंध, रस और स्पर्श कुछ भी नहीं है, शरीर और संस्थान भी नहीं है; राग, द्वेप, मोह भी नहीं हैं; आस्रव और कर्म भी नही है, जीव के वर्ग नही, वर्गणा नही, कोई स्पर्धक नहीं

है । अनुभाग स्थान, उदय स्थान, मार्गणा स्थान, विशुद्धि स्थान, जीव स्थान अथवा गुण स्थान भी नही है क्योंकि यह सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाम है। शुद्ध निश्चय से मेरी आत्मा का इनसे कोई भी सम्बन्ध नही है। इस प्रकार स्व-पर भाव से भिन्न आत्म-स्वरूप का जिस समय एकाग्रता से ज्ञानी जीव विचार करता है वह शीघ्र ही पर द्रव्य से छुटकारा पाकर सहजानन्द अखण्ड अविनाशी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार चित्त को एकाग्र करना ही परम शान्ति लाभ की प्राप्ति करना है ।

भावार्थ—आत्मा के जानने से ही सुख उत्पन्न होता है। भोगों का अनुराग पराधीनता है । भोगों के भोग से कभी तृप्ति नही होती। जैसे सैकड़ों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता है । जो ज्ञानी जीव इस आत्म स्वरूप में सदा लीन रहता है, उन्ही को आत्म स्वरूप का अनुभव हो सकता है । इसलिए भव्य जीवात्मन्! तू सदा इसमें सन्तुष्ट हो, इसी से ही तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। इस प्रकार अध्यात्म सुख में ठहर कर निज स्वरूप की भावना करना चाहिए। आत्म सुख का अर्थ है मिथ्यात्व विषय कषाय आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन छोड़कर आत्मा में लीन होना । यह निश्चय नय का कथन है।

जो जीव सांसारिक भोगों को सर्प के समान भयंकर और दुख-दायी समझता है वह शरीर, संसार और भोगों के स्वरूप को समझ कर उनसे विरक्त हो जाता है। वह विचार करता है—यह

शरीर असंख्यात परमाणुओं का पिण्ड है। जीव का कार्माण शरीर और तैजस शरीर के साथ आदि से संयोग सम्बन्ध है। सूक्ष्म होने से ये शरीर इन्द्रियगम्य नहीं है। इसके अलावा जीव के एक स्थूल शरीर होता है। मनुष्य तथा तिर्यंचों के जो स्थूल शरीर होता है, वह औदारिक शरीर कहलाता है और देव तथा नारकियों के वैक्रियिक शरीर होता है। ये सभी शरीर जड़ हैं, अचेतन हैं। यथार्थ मे ये जीव के नही है। शरीर में जितने पुद्गल परमाणु हैं, वे सभी स्वतन्त्र द्रव्य है। किन्तु अज्ञान से जीव शरीर को अपना मान रहा है। शरीर के साथ जीव की जो एकत्व बुद्धि है, वही इस अज्ञान का कारण है। इसके फलस्वरूप जीव के अपने विकार भाव के अनुसार नये नये शरीर का संयोग हुआ करता है और उससे यह दुःख उठाया करता है। अतः इस दुःख से बचने का उपाय यह है कि जीव पर में ममत्व बुद्धि का परित्याग करे।

वह जगत के स्वरूप के बारे में विचार करता है कि छह द्रव्यों के समूह का नाम संसार है। शरीर,स्त्री, पुत्र, धन आदि पर-वस्तु संसार नहीं, किन्तु मैं उन द्रव्यों का कुछ कर सकता हूँ या वे मेरा कुछ कर सकते है, यह मान्यता ही संसार है। वस्तुतः जीव की विकारी अवस्था ही संसार है, और यह विकारी अवस्था ही दुःख का कारण है। भोग जीव की परद्रव्य बुद्धि से उत्पन्न विकारी भाव हैं। इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं, भोगों की सामग्री भी पौद्गलिक है। किन्तु उनमें जीव की जो आसक्ति और सुखानुभव करने की मिथ्या मान्यता है, वह मोहनीय कर्म के कारण पैदा हुई जीव की

विभाव परिणति है । आत्मा में अनन्त सुख भरा हुआ है । वह मोहनीय कर्म के कारण अनुभव में नहीं आ रहा । अपने अनन्त सुख को भूलकर जीव इन्द्रियों के द्वारा सुखानुभव के मिथ्या भ्रम में पड़ रहा है । और फिर ये इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक हैं, पराधीन हैं, विनाशीक है, जब कि आत्मिक सुख नित्य, स्वाधीन और सदा रहने वाले हैं । इन्द्रिय सुखों का परिणाम दुःख है, जबकि आत्मिक सुख का परिणाम भी सुख है । तब इन्द्रिय सुखों की–भोगों की इच्छा न करके आत्म-सुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये ।

इस प्रकार ज्ञानी जीव अपने अन्दर लवलीन होकर आत्म स्वरूप का अन्वेषण करता है । जैसे दूध का मूल स्वरूप समझ करके दूध में घी है यह निश्चय होने के वाद उसको मथने की क्रिया दूसरे के द्वारा सीख करके वह मथन क्रिया करने की चेष्टा करता है तब मथन के द्वारा घी निकल करके आ जाता है, इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार मार्ग ये दो मोक्ष के मार्ग आचार्यो ने वताये हैं । आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए आचार्य ने अज्ञानी जीवों के लिये व्यवहार मार्ग बताया है । यह व्यवहार मार्ग साधक के लिए प्रथम साधन अवस्था है । इसी साधन के द्वारा वह अपने लक्ष्य विन्दु को प्राप्त करता है, वह मूल स्वरूप की प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर व्यवहार रत्नत्रय को साधनभूत बना लेता है । जब ठीक से साधन बन जाता है, तब वह व्यवहार को गौण करके अपने स्वरूप का चिन्तन कर अपने शुद्ध परमार्थ पद को प्राप्त कर लेता है, तब वह सुखी हो जाता है ।

बडलेंबी जडनं लयप्रकरनं निश्चेष्ठनं दुष्टनं।
पडिमातें पेणनं महात्मनहहा तन्नोंदु सामर्थ्यदिं ॥
नडेयिप्पं रथिकंबोलें तुर्डियिपं मादंगिकंबोल्विसु—
विळ्वुवं जोहटि गंवोलें कुशलनो! रत्नाकराधीश्वरा! ॥६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

नाश के व्यापार की परम्परा से रहित होकर भी जड़ शरीर को प्राप्त कर यह चेतन आत्मा उसका सचालक है, जैसे चेतन सारथी जड़ रथ मे बैठकर उसका संचालन करता है, उसी प्रकार आत्मा ही इस शरीर का सचालन कर रहा है अर्थात् आत्मा शरीर के सम्बन्ध से नाना प्रकार के कार्यों को करता है।

भावार्थ—अनादि कालीन कर्मों के सम्बन्ध से इस आत्मा को शरीर की प्राप्ति होती चली आ रही है। कभी इसे एकेन्द्रिय जीव का शरीर मिला, कभी दो इन्द्रिय जीव का, कभी तीन इन्द्रिय जीव का, कभी चार इन्द्रिय जीव का शरीर मिला है। अब मनुष्य भव और पंचेन्द्रिय शरीर बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुआ है। इस शरीर को प्राप्त कर आत्म-कल्याण करना चाहिए। इस पौद्गलिक शरीर का संचालक चैतन्य आत्मा है। जब तक इसके साथ आत्मा का सयोग है, तब तक यह नाना प्रकार के कार्य करता है। आत्मा के अलग होते ही इस शरीर की संज्ञा मुर्दा हो जाती है।

शरीर के भीतर रहने पर भी आत्मा अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, उसका ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव सदा वर्तमान रहता है।

परमात्म प्रकाश में बताया है कि यह जीव शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से सदा चिदानन्द स्वभाव है, पर व्यवहार नय की अपेक्षा से वीत-राग निर्विकल्प-स्वसंवेदन-ज्ञान के अभाव के कारण रागादि रूप परिणमन करने से शुभाशुभ कर्मों का आस्रव कर पुण्यवान और पापी होता है। यद्यपि व्यवहार नय से यह पुण्य-पाप-रूप है, पर परमात्मा की अनुभूति से बाह्य पदार्थों की इच्छा को रोक देने के कारण उपादेय रूप परमात्म पद को पुरुषार्थ द्वारा यह प्राप्त कर लेता है।

संसारी जीव शुद्धात्मज्ञान के अभाव से उपार्जित ज्ञानावरणादि शुभाशुभ कर्मों के कारण नर नरकादि पर्यायों में उत्पन्न होता है, विनशता है और आप ही शुद्ध ज्ञान से रहित होकर कर्मों को बांधता है। किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा शक्ति रूप में यह शुद्ध है, कर्मों से उत्पन्न नर नरकादि पर्याये इसकी नहीं है और स्वयं भी यह जीव किसी कर्म को नहीं बाँधता है। वास्तव में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को ग्रहण नहीं कर सकता, बाँध नहीं सकता। जीव के अनादि से पुद्गल कर्म के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव में विकार की योग्यता है अतः उस विकार का निमित्त पाकर नवीन पुद्गल कर्म स्वतः बधते हैं। इसलिये केवल व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव में कर्मों का बन्ध होता है, ऐसा माना है। जब तक व्यवहार के ऊपर दृष्टि रहती है, तब तक यह जीव संसार में भ्रमण करता है, पर जब व्यवहार को छोड़ निश्चय पर आरूढ़ हो जाता है, उस समय संसार छूट जाता है।

यों तो व्यवहार और निश्चय सापेक्ष हैं। जब तक साधक की दृष्टि परिष्कृत नहीं हुई है तब तक उसे दोनों दृष्टियों का अवलम्बन करना आवश्यक है।

जब आत्मा की दृढ़ आस्था हो जाती है, दृष्टि परिष्कृत हो जाती है और तत्त्वज्ञान का आविर्भाव हो जाता है, उस समय साधक केवल निश्चल दृष्टि प्राप्त कर आत्मा को शुद्ध बुद्ध चेतन समझता हुआ इस कर्म सन्तति को नष्ट कर देता है। मनुष्य शरीर की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है,इसे प्राप्त कर साधना द्वारा कर्म सन्तति को अवश्य नष्ट कर स्वतंत्र होना चाहिए। यह मनुष्य शरीर आत्मा की प्राप्ति में बड़ा सहायक है।

भावार्थ— इस जीव को जो मानव शरीर प्राप्त हुआ है इसकी सार्थकता केवल आत्म साधन करने से है, यह इन्द्रिय विषय भोग भोगने के लिये नही है। जब मानव विवेक के द्वारा अपनी बुद्धि से इस मानव पर्याय के उद्देश्य को देखता है तब इस शरीर के द्वारा स्व-पर ज्ञान प्राप्त करके विवेक के साथ काम करता है। इस मानव शरीर की उपयोगिता केवल एक बाह्य साधन के लिए या संयम साधन के लिए मानी गई है। जैसे कोई मूर्ख मनुष्य गन्ना खा करके उसके बीच की गांठ को बेमतलब समझ करके फैंक देता है, परन्तु वही गाँठ अगर किसान के हाथ पड़ जाय तो वह किसान उस गांठ को जमीन में डाल करके उसको पानी देकरके उससे फर भी गन्ना प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य-पर्याय प्राप्त होने के बाद उसमें इन्द्रिय सुख नहीं भोगता है।

परन्तु गन्ने के अन्दर जैसे रस छिपा रहता है, उस रस को जैसे किसान विधि पूर्वक पुनः प्राप्त कर लेता है और छिलके को छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव शरीर को हेय और निन्द्य समझ कर भी शरीर में अनादि काल से बद्ध हुए क्षीर नीर के समान एक रूप होने वाले आत्म-स्वरूप को अपने संयम द्वारा–स्वपर ज्ञान द्वारा–प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है, वह भगवान के अनेकान्त मत द्वारा क्रियात्मक रूप से इस आत्मा को जुदा करने का हमेशा प्रयत्न करता है। स्वपर का ज्ञानी होने के बाद वह समझता है कि जो वस्तु अनेकान्त स्वरूप है, अनेक धर्म रूप है सो ही नियम से कार्य करती है। लोक में अनेक धर्मों से युक्त पदार्थ हैं वही कार्य करने वाले देखे जाते हैं। अर्थात् लोक में नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि अनेक धर्मयुक्त वस्तु है। वे कार्यकारी दीखती है। जैसे मिट्टी से घड़ा आदि बनता है, यदि वह सर्वथा एक मिट्टी रूप तथा अनित्य रूप ही हो जाये तो घट आदि बन नहीं सकता है। उसी प्रकार समस्त वस्तु जानना। इसी प्रकार स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है कि सर्वथा एकान्त वस्तु के कार्य का नाम नहीं है।

एयंतं पुणु दव्वं कज्जं ण करेदि लेसमित्तं पि।
जं पुणु ण करदि कज्जं तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥

जो एकान्त स्वरूप द्रव्य है वह लेश मात्र भी कार्य को नहीं करता। जो कार्य नही करता वह द्रव्य नहीं है। वह शून्य के समान है। अर्थात् जो अर्थक्रिया स्वरूप हो वही परमार्थ रूप वस्तु कहा गया

है। जो अर्थक्रिया रूप नहीं है वह आकाश के फूल के समान है। इस प्रकार ज्ञानी जीव अनेकान्त रूप से अपनी आत्म सिद्धि को करने के लिए प्रयत्न करता है।

इसलिए भव्य जीव ! यदि तू आत्म-सुख की प्राप्ति करना चाहता है तो सम्पूर्ण पर वस्तु के मोह को त्याग कर अपने आत्म-स्वरूप को कर, उसी का ही ध्यान कर, उसी के मनन करने से आत्मा को सुख और शान्ति मिलती है। योगेन्द्र आचार्य ने भी अपने शिष्य को सम्बोधन करते हुए इस प्रकार कहा है कि—

जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्लहि मोहु।
मोह-कसाय-विवज्जियउ पर पावहि सम-बोहु ॥४२॥

हे जीव ! जिस मोह से अथवा मोह को उत्पन्न करने वाली वस्तु से मन में कषाय होवे तो उस मोह और कषाय दोनों को छोड़। फिर तुझे संबोधि अर्थात् आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होगी।

भावार्थ—निर्मोह निज शुद्धात्मा के ध्यान से निर्मोह निज शुद्धात्म तत्त्व से विपरीत मोह को हे जीव! छोड़। जिस मोह से अथवा मोह पैदा करने वाले पदार्थ से कषाय रहित परमात्म तत्त्व-रूप ज्ञानानन्द स्वभाव के विनाशक क्रोधादि कषाय होते है, इन्ही से संसार है। इसलिए मोह कषाय के अभाव होने पर ही रागादि रहित निर्मल ज्ञान को तू पा सकेगा। ऐसा दूसरी जगह भी कहा है। "तं वत्थु" इत्यादि। अर्थात् वह वस्तु मन वचन काय से छोड़नो चाहिए जिससे कषाय रूपी अग्नि उत्पन्न हो, अथवा उस वस्तु को अंगीकार करना चाहिए, जिससे कषायें शांत हों। तात्पर्य यह है कि विषया-

दिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियों का संग सब तरह से मोह कषाय को उपजाते है, इससे ही मन में कषाय रूपी अग्नि दहकती रहती है। वह सब प्रकार से छोड़ना चाहिए। सत्संगति तथा शुभ सामग्री (कारण) कषायों को उपशमाती हैं, कषाय रूपी अग्नि को बुझाती है, इसलिए उस संगति वगैरह को अंगीकार करना चाहिए।

हे अज्ञानी आत्मा ! अनादि काल से अपने स्व स्वरूप को दूर करके अत्यन्त निन्द्य गीले चमड़े को लपेट करके उसी में आनन्द मानते हुए, निंद्य पर्याय को धारण करते हुए अनन्त दुःख को पा रहा है। इस बात को बतलाने के लिए आत्मा को सम्बोधन करते हुए कवि नीचे का श्लोक कहता है कि—

वीलिदर्पं तनुवेंब पंदोवल कूपासंगळं तोट्टुता-
नेळिदर्पं तनुगूडि संचरिपना मेय्गूडि तच्चोळ्पुमं ॥
केलिदर्पं तनुगूडि वत्तुगे जीवं पेसि सुज्ञानदिं ।
पोळिदर्पं शिवनागियें चदुरनो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आत्मा शरीर रूपी गीले चमड़े के कवच को धारण किए हुए है क्योंकि कर्मो के कारण आत्मा शरीर के साथ संचरण करता है। अपने रूप का विचार करने एवं शरीर की जुगुप्सा करने से सज्ज्ञान में प्रवेश करता है। इस आत्मा की शक्ति अपरिगणनीय है।

विवेचन—आत्मा के साथ अनादिकालीन कर्म प्रवाह के कारण

सूक्ष्म कार्माण शरीर रहता है, जिससे यह शरीर में आबद्ध दिखलाई पड़ता है। मन, वचन और काय की क्रिया के कारण कषाय-राग, द्वेष, क्रोध मान आदि भावों के निमित्त से कर्म परमाणु आत्मा के साथ बंधते है। योग शक्ति जैसी तीव्र या मन्द होती है वैसी ही संख्या में कम या अधिक कर्म परमाणु आत्मा की ओर खिंच कर आते है। जब योग उत्कृष्ट होता है, उस समय कर्म परमाणु अधिक तादाद में और जब योग जघन्य होता है, उस समय कर्म परमाणु कम तादाद में जीव की ओर आते है। इसी प्रकार तीव्र कषाय के होने पर कर्म परमाणु अधिक समय तक आत्मा के साथ रहते हैं, तथा तीव्र फल देते हैं। मन्द कषाय के होने पर कम समय तक रहते हैं और मन्द ही फल देते हैं।

योग और कषाय के निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म बन्धते हैं तथा इनका समुदाय कार्माण शरीर कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को घातता है, इसी वजह से जीवों के ज्ञान में तरतमता देखी जाती है, कोई विशेष ज्ञानी होता है तो कोई अल्पज्ञानी। दर्शनावरण जीव के दर्शन गुण प्रकट होने मे रुकावट डालता है। क्षयोपशम से जीव मे दर्शन गुण की तरतमता देखी जाती है। वेदनीय के उदय से जीव को सुख और दुःख का अनुभव होता है, मोहनीय के उदय से जीव मोहित होता है, इसके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के उदय से जीव को सच्चे मार्ग की प्रतीति नही

होती है, उसे आत्म कल्याणकारी मार्ग दिखलायी नहीं पड़ता है। यही आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण को रोकता है। आत्मा और उसमें मिले कर्मों के स्वरूप की दृढ़ आस्था जीव में यही कर्म नहीं होने देता है। चारित्र मोहनीय का उदय जीव को कल्याणकारी मार्ग पर चलने में रुकावट डालता है। दर्शन मोहनीय के उपशम या क्षय होने पर जीव को सच्चे मार्ग का भान भी हो जाय तो भी यह कर्म उसको उस मार्ग का अनुसरण करने में बाधक बनता है।

आयु कर्म जीव को किसी निश्चित समय तक मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी के शरीर में रोके रहता है। उसके समाप्त या बीच में छिन्न हो जाने से जीव की मृत्यु कही जाती है। नाम कर्म के निमित्त से जीव के अच्छा या बुरा शरीर तथा छोटे बड़े सम-विषम, सूक्ष्म-स्थूल, हीनाधिक आदि नाना प्रकार के अंगोपांग की रचना होती है। गोत्र कर्म के निमित्त से जीव उच्च या नीच कुल में पैदा हुआ कहा जाता है। अन्तराय के कारण इस जीव को इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आती है। इस प्रकार इन आठों कर्मों के कारण जीव शरीर धारण करता है, इस शरीर में किसी निश्चित समय तक रहता है, सुख या दुःख का अनुभव भी करता है। इसे अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति में नाना प्रकार की रुकावटे भी आती हैं। संसार में इस तरह कर्मों का ही नाटक होता रहता है।

पुरुपार्थी साधक इस तरह कर्मों की लीला से बचने के लिए अपनी साधना द्वारा उदय में आने के पहले ही कर्मों को नष्ट कर देते है। इस कर्म प्रक्रिया के अवलोकन से यह बात भी सिद्ध हो

जाती है कि इस संसार का रचयिता कोई नहीं है; किन्तु स्वभावानुसार संसार के सारे पदार्थ बनते हैं और बिगड़ते हैं।

जैनागम में मूलतः कर्म के दो भेद बताये हैं—द्रव्य और भाव। मोह के निमित्त से जीव राग, द्वेष, क्रोधादि रूप जो परिणाम होते हैं, वे भाव कर्म तथा इन भावों के निमित्त से जो कर्म रूप परिणमन करने की शक्ति रखने वाले पुद्गल परमाणु खिचकर आत्मा से चिपट जाते हैं वे द्रव्य कर्म कहलाते हैं। भाव कर्म और भाव कर्मों के निमित्त से द्रव्य कर्म बंधते हैं। द्रव्य कर्म के मूल ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ भेद हैं। उत्तर भेद ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के तिरानवे, गोत्र के दो और अन्तराय के पांच भेद हैं। उपर्युक्त आठ कर्मों के भी घातिया और अघातिया ये दो भेद हैं।

घातिया कर्मों के भी दो भेद हैं—सर्वघाती और देशघाती जो जीव के गुणों का पूरी तरह से घात करते हैं, उन्हें सर्वघाती और जो कर्म एकदेश घात करते हैं, उन्हें देशघाती कहते हैं। ज्ञानावरण की ५ प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की ९ प्रकृतियाँ, मोहनीय की २८ और अन्तराय की ५ इस प्रकार कुल ४७ प्रकृतियाँ, घातिया कर्मों की हैं। इनमें से २६ देशघाती और २१ सर्वघाती कहलाती हैं। घातिया कर्म पाप कर्म माने गये हैं। इन कर्मों का फल सर्वदा जीव के लिए अकल्याणकारी ही होता है। इनके कारण जीव सदा उत्तरोत्तर कर्म-बन्ध को करता ही रहता है। अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं।

जीव की ओर आकृष्ट होने वाले कर्म परमाणुओं में प्रारंभ से लेकर अन्त तक मुख्य दश क्रियाऐं—अवस्थाएं होती हैं। इनके नाम बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निर्धत्ति और निकाचना है।

बन्ध—जीव के साथ कर्म परमाणुओं का सम्बद्ध होना बन्ध है। इसके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग ये चार भेद हैं। यह सबसे पहली अवस्था है, इसके बिना अन्य कोई अवस्था कर्मों में नहीं हो सकती है।

इस प्रथम अवस्था में कर्म बन्ध होने के पश्चात् योग और कषाय के कारण चार बातें होती हैं। प्रथम ज्ञान, सुख आदि के घातने का स्वभाव पड़ता है, द्वितीय स्थिति–काल मर्यादा पड़ती है कि कितने समय तक कर्म जीव के साथ रहेगा। तृतीय कर्मों में फल देने की शक्ति पड़ती है और चतुर्थ वे नियत तादाद में ही जीव से सम्बद्ध रहते है। इन चारों के नाम क्रमशः प्रकृति बन्ध–स्वभाव पड़ना, स्थिति बन्ध–काल मर्यादा का पड़ना, अनुभागबन्ध-फलदान शक्ति का होना और प्रदेश बन्ध-नियत परिमाण में रहना है। अनुभाग बन्ध की अपेक्षा कर्मो में अनेक विशेषताऐं होती हैं। कुछ कर्म ऐसे है जिनका फल जीव में होता है, कुछ का फल विपाक शरीर में होता है और कुछ का फल इन दोनो में। कुछ कर्म ऐसे भी होते है जिनका फल किसी विशेष जन्म में मिलता है, तथा कुछ का किसी क्षेत्र विशेष में विपाक फल होता है। इस दृष्टि से जीव विपाकी, शरीर विपाकी, भवविपाकी और क्षेत्र विपाकी ये चार भेद

कर्मों के हैं।

उत्कर्षण–प्रारम्भ में कर्मों में पड़ी स्थिति-समय मर्यादा और अनुभाग-फलदान शक्ति के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं। जीव अपने पुरुषार्थ के कारण कितनी ही बंधी कर्म प्रकृतियों की स्थिति और फलदान शक्ति को बढ़ा लेता है।

अपकर्षण—पुरुषार्थ द्वारा कर्मों की स्थिति और फलदान-शक्ति को घटाना अपकर्षण है। यदि कोई जीव अशुभ कर्म बांध कर शुभ कर्म करता है तो उसके बन्धे हुए अशुभ कर्म की स्थिति और फल-दान शक्ति कम हो जाती है, इसी का नाम अपकर्षण है। जब यही जीव उत्तरोत्तर अशुभ कर्म करता रहता है तो उसके बन्धे हुए अशुभ कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति बढ़ जाती है। अभिप्राय यह है कि उत्कर्षण और अपकर्षण इन दोनों क्रियाओं के द्वारा किसी भी बुरे या अच्छे कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति घटायी या बढ़ायी जा सकती है।

कोई जीव किसी बुरे कर्म का बन्ध कर ले, तो वह अपने शुभ कर्मों द्वारा उस बुरे कर्म के फल और मर्यादा को घटा सकता है। और बुरे कर्मों का बन्ध कर उत्तरोत्तर कलुषित परिणाम करता जाय तो बुरे भावों का असर पाकर पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति और फलदान शक्ति और बढ़ जायेगी। कर्मों की इन क्रियाओं के कारण किसी बड़े से बड़े पाप या पुण्य कर्म के फल को कम या ज्यादा मात्रा में शीघ्र अथवा देरी में भोगा जा सकता है।

सत्ता—कर्म बंधते ही फल नहीं देते। कुछ समय पश्चात् फल

उत्पन्न करते है. इसी का नाम सत्ता है। जैनागम में इस फल मिलने के काल का नाम आबाधा काल बताया गया है। इस काल का प्रमाण कर्मो की स्थिति-समय मर्यादा पर आश्रित है। जिस प्रकार शराब पीते ही तुरंत नशा उत्पन्न नहीं करती है; किन्तु कुछ समय बाद नशा लाती है उसी प्रकार कर्म भी बन्धते ही तुरंत फल नहीं देते हैं, किन्तु कुछ समय पश्चात् फल देते हैं। इस काल को सत्ता या आबाधा काल कहते हैं।

उदय—विपाक या फल देने की अवस्था का नाम उदय है। इसके दो भेद हैं—फलोदय और प्रदेशोदय। जब कोई भी कर्म अपना फल देकर नष्ट होता है तो उसका फलोदय और उदय होकर भी बिना फल दिये नष्ट होता है, तो उसका प्रदेशोदय कहलाता है।

उदीरणा— पुरुषार्थ द्वारा नियत समय से पहले ही कर्म का विपाक हो जाना उदीरणा है। जैसे आमों के रखवाले आमों को पकने के पहले ही तोड़कर पाल में रख कर जल्दी पका लेते है, उसी प्रकार तपश्चर्या आदि के द्वारा असमय में ही कर्मो का विपाक कर देना उदीरणा है। उदीरणा में पहले अपकर्षण क्रिया द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर दिया जाता है, जिससे स्थिति के घट जाने पर कर्म नियत समय के पहले ही उदय में आ जाता है।

संक्रमण—एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति के रूप में बदल जाना संक्रमण है। कर्म की मूल प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता है, ज्ञानावरण कभी दर्शनावरण के रूप में नहीं बदलता

और न दर्शनावरण कभी ज्ञानावरण के रूप में। संक्रमण कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों में ही होता है। पुरुषार्थ द्वारा कोई भी व्यक्ति असाता को साता के रूप में बदल सकता है। आयु कर्म की अवान्तर प्रकृतियों में भी संक्रमण नहीं होता है।

उपशम—कर्म प्रकृति को उदय में आने के अयोग्य कर देना उपशम है। इस अवस्था में बद्ध कर्म सत्ता में रहता है, उदित नहीं होता।

निधत्ति—कर्म में ऐसी क्रिया का होना जिससे वह उदय और संक्रमण को प्राप्त न हो सके निधत्ति है।

निकाचना—कर्म में ऐसी क्रिया का होना, जिससे उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय ये अवस्थाएं न हो सकें, निकाचना है। इस अवस्था में कर्म अपना सत्ता में रहता है तथा अपना फल अवश्य देता है।

इस प्रकार कर्मों के कारण आत्मा इस शरीर में बद्ध रहता है। यह स्वयं कर्मों का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है। अन्य कोई ईश्वर कर्म-फल नहीं देता है। जब इसे तत्वों के चिन्तन से शरीर की अपवित्रता का ज्ञान हो जाता है तो यह अपने स्वरूप को समझ कर अपना हित साधन कर लेता है। जो शरीर के अनित्य और अशुचि स्वरूप का चिन्तन करता है, वह विरक्ति पाकर आत्मा की निजी परिणति को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में यह शरीर हाड़, मांस रुधिर, पीव, मल और मूत्र आदि निन्द्य पदार्थों का समुदाय है। नाना प्रकार के रोग भी इसे होते रहते हैं। यदि कुछ दिन इसे

अन्न पानी न मिले तो इसकी स्थिति नही रह सकेगी। शीत, आतप आदि की बाधा भी यह नहीं सह सकता है।

इस अपवित्र शरीर को यदि समुद्र के जल से स्वच्छ किया जाय तो भी यह शुद्ध नही हो सकता है। समुद्र का जल समाप्त हो जायगा पर इसकी गन्दगी दूर न हो सकेगी। कविवर भूधरदास ने शरीर के स्वरूप को वर्णन करते हुए बताया है—

मात-पिता रज वीरज सों उपजी सब सात कुधात भरी है।
माखिन के पर माफिक बाहर चम के बेठन बेढ़ घरी है॥
नाहि तो आय लगैं अब ही बक वायस जीव बचैं न घरी है।
देह दशा यहि दीखत भ्रात घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥

यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से मिलकर बना है, इसमे अस्थि, मांस, मज्जा, मेद आदि भरे हुए है। मक्खियों के पंख जैसा बारीक चमड़ा चारो ओर से लपेटा हुआ है, अन्यथा बिना चमड़े के मास पिण्ड को क्या कौवे छोड़ देते ?, कभी के खा जाते। शरीर की इस घिनौनी दशा को देखकर भी मनुष्य इससे विरत नहीं होता है, पता नही उसकी बुद्धि किसने हर ली है ?

यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि इसके स्पर्श से कोई भी सुगन्धित और पवित्र वस्तु अपवित्र हो जाती है। इस बात की पुष्टि के लिए शास्त्रों मे एक उदाहरण आता है, जिसे यहाँ उद्धृत कर उक्त विषय का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की जाती है।

एक दिन एक श्रद्धालु शिष्य गुरु के पास दीक्षा ग्रहण करने के

लिए आया। गुरु ने उससे कहा कि मैं तुमको तभी दीक्षा दूंगा, जब तुम संसार की सबसे अपवित्र वस्तु ले आओगे। शिष्य गुरु के आदेश को ग्रहण कर अपवित्र वस्तुओं की तलाश मे चला। उसने अपने इस कार्य के लिए एक मित्र से सहायता ली। सर्व प्रथम वे दोनों बाजार में जहाँ शराब और माँस बिकते थे, गये, पर वे वस्तुएं भी उन्हें अपवित्र न जचीं। अनेक खरीदने वाले उन्हें खरीद-खरीद कर अपने घर ले जा रहे थे।

वे दोनों बहुत विचार-विनिमय के पश्चात् टट्टी घर मे गये और मनुष्य का मल लेने लगे। मल ग्रहण करते ही दीक्षा ग्रहण करने वाले शिष्य के मन में विचार आया कि यह तो सबसे अपवित्र नहीं है। मनुष्य जो सुन्दर सुन्दर सुस्वादु भोजन ग्रहण करता है, जो संसार में पवित्र, भक्ष्य, सुगन्वित माने जाते है, यह उन्हीं का रूपान्तर है। इस शरीर के स्पर्श और संयोग होने से ही उन सुन्दर दिव्य पदार्थो का यह रूप हो गया है। अतः जिस शरीर में इतनी बड़ी अपवित्रता है कि जिसके संयोग से ही दिव्य पदार्थ भी अस्पृश्य हो गये हैं तो फिर इस शरीर से बड़ा अपवित्र और निन्द्य कौन हो सकता है? यह मल अपवित्र नहीं, बल्कि अपवित्र यह शरीर है, जिसके संयोग से दिव्य पदार्थो की यह अवस्था हो गई है?

इस प्रकार बड़ी देर तक सोच-विचार कर वह मल को छोड़कर गुरु के पास खाली हाथ आया और नत मस्तक हो बोला—गुरुदेव! इस संसार में इस शरीर से अपवित्र और निन्द्य कोई वस्तु नहीं। मैंने अनुभव से इस बात को हृदयंगम कर लिया है, अतः अब शुद्ध

और पवित्र बनाने वाली दीक्षा दीजिये। गुरु ने प्रसन्न होकर कहा कि अब तुम दीक्षा के अधिकारी हो, अतः मैं दीक्षा दूंगा।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि शरीर के स्वरूप-चिन्तन से बोधवृत्ति जाग्रत होती है, अतएव इसके वास्तविक रूप का विचार करना चाहिए।

आत्म शक्ति का विचार

यूरं ह्रारियोळ्ळद्दियूर्ध्वगमनं गेट्टुर्विंयोळिबळ्दु दू-
ळ्वारे सन्सुळिगाळियिंदुरुळ्ळवोल्कर्मंगळि नांदु मे ।।
यूभारंदाळ्ळुरे कर्ममोयहेडेगे सुचिप्रिपेंनंतन्लद्दा-
नारी संसृपियारो सोबुकने नां रत्नाकराधीश्वरा ! ।।११।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

कपास को पानी में डुबा देने से उसकी ऊपर उठने वाली शक्ति नष्ट हो जाती है, कपास हवा के साथ ऊपर उड़ने का प्रयत्न करता है, पर होता यही है कि उस पर धूल आकर और जम जाती है। इसी प्रकार योग-कषायों के कारण यह आत्मा विकृत हो कर्म रूपी धूल को ग्रहण कर भारी हो जाता है, जिससे शरीर प्राप्त कर नीचे की ओर दबता चला जाता है। भावार्थ यह है कि शुद्ध, बुद्ध और निष्कलंक आत्मा में वैभाविक शक्ति के परिणमन के कारण योग कषायरूप प्रवृत्ति होती है, जिससे द्रव्य कर्म-ज्ञानावरणादि और नोकर्म-शरीर की प्राप्ति होती है। यह शरीर पुनः संसार परिवर्तन का कारण बन जाता है, अतः इस परिवर्तन को दूर करने के लिए

सोचना चाहिए कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और यह संसार क्या है? क्या इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती?

विवेचन:—प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः या सायंकाल एकान्त में बैठ कर अपने सम्बन्ध में विचार करना चाहिए कि मैं कौन हूं? मेरा क्या कर्तव्य है? यह संसार क्या है? मुझे जन्म मरण के दुःख क्यों उठाने पड़ रहे हैं? कवि ने इस श्लोक में जीव की शुद्धता और अशुद्धता का विचार बतलाया है। जीव शुद्ध, निर्विकार, निरंजन शुद्ध परमात्मा अखण्ड सिद्ध समान होते हुए भी अनादि काल से बाह्य जड़ वस्तु के निमित्त से अपनी शक्ति को दबा करके कर्मों के आधीन हो रहा है। इसलिए जब आत्मा को अपनी शक्ति का विचार आता है तब आत्मा सुख को प्राप्त करने का विशुद्ध विचार कर लेता है। तब उसके अन्दर स्व-पर का ज्ञान हो जाता है। अशुद्धता, शुद्धता का कारण स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बतलाया है—

सव्वे कम्मणिवद्धा संसरमाणा अणाइकालम्हि।
पच्छा तोडिय बंधं सुद्धा सिद्धा धुवा होंति॥ २०२॥

सब जीव अनादि काल से कर्म से बंधे हुए हैं इसलिए संसार में भ्रमण करते हैं। बाद में कर्म के बन्धन को तोड़ कर सिद्ध हो जाते हैं। तब वे शुद्ध और निश्चल हो जाते हैं।

जिस बन्धन से ये जीव बंधे हैं, उस बन्धन का स्वरूप इस प्रकार है:—

जो अण्णोण्णपवेसो जीव पएसाण कम्मखंधाणं।
सव्व बंधाणं वि लओ सो बंधो होदि जीवस्स॥२०३॥

जीव के प्रदेश और कर्म के स्कन्धों का परस्पर प्रवेश होना, एक क्षेत्र रूप सम्बन्ध होना तथा प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूप सर्व प्रकार के बंधों का एक रूप होना यह जीव का बन्ध कहलाता है।

सब द्रव्यों में जीव द्रव्य ही एक उत्तम द्रव्य है, यह बतलाते है—

उत्तमगुणाण धामं सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परमतच्चं जीवं जाणेहि णिच्छयदो ॥२०४॥

जीव द्रव्य उत्तम गुण का धाम है अर्थात् ज्ञानादि उत्तम गुण इसी में है । पुनः सब द्रव्यो में ये ही द्रव्य प्रधान है-सर्व द्रव्यों को जीव ही प्रकाशित करता है । पुनः सर्व द्रव्यों में जीव ही परम तत्व है । अनन्त ज्ञान सुख आदि का भोक्ता ये ही है । ऐसे हे भव्य ! तू निश्चय से जान ।

आगे जीव ही परम तत्व है यह कहते है कि—

अंतरतच्च जीवो बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।
णाणविहीणं दव्वं हियाहियं णेय जाणादि ॥२०५॥

जीव ही अन्तर तत्व है । शेष जो सर्व द्रव्य हैं बाह्य तत्व हैं। वे ज्ञान से रहित हैं । जो ज्ञान से रहित है वह द्रव्य हेय उपादेय वस्तु को कैसे जाने अर्थात् जीव तत्व के बिना सर्व शून्य है । इसलिए सर्व को जानने वाला तथा हेय-उपादेय का जानने वाला जीव ही परम तत्व है ।

पुद्गल द्रव्य का स्वरूप–

सव्वो लोयायासो पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो ।
सुहमेहिं वायरेहिं य णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं ॥ २०६ ॥

लोकाकाश के सम्पूर्ण प्रदेश सूक्ष्म बादर पुद्गल द्रव्यों से भरे हुए हैं। वह पुद्गल द्रव्य अनेक शक्तियों से युक्त है अर्थात् शरीरादि अनेक प्रकार की परिणमन शक्ति से युक्त जो सूक्ष्म बादर पुद्गल उससे सर्व लोकाकाश भरा हुआ है। जो रूप रस गन्ध स्पर्श परिणाम स्वरूप से इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य है वह सर्व पुद्गल द्रव्य है। वह द्रव्य संख्या की दृष्टि से जीव राशि से अनन्त गुणा है।

पुद्गल द्रव्य जीव द्रव्य का उपकारक है—

जीवस्स बहुपयारं उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं ।
देहं च इंदियाणि य वाणी उस्सासणिस्सासं ॥ २०८ ॥

पुद्गल द्रव्य जीव का बहुत बड़ा उपकारी है। देह, इन्द्रिय, वाणी, श्वासोच्छ्वास ये सब पुद्गल के उपकार हैं अर्थात् पुद्गल द्रव्य के कारण होते हैं।

अर्थात् संसारी जीव का जो देह आदि है वह पुद्गल द्रव्य के द्वारा निर्मित है। इससे जीव का जीवत्व है, यही उपकार है।

अण्णं पि एवमाई उवयारं कुणदि जाव संसारं ।
मोह अणाणमयं पि य परिणामं कुणइ जीवस्स ॥२०९॥

पुद्गल द्रव्य जीव का पूर्वोक्त के अतिरिक्त अन्य भी उपकार करता है। जब तक इस जीव का संसार है, तब तक यह अनेकों

उपकार करता है। मोह परिणाम, परद्रव्य से ममत्व परिणाम, तथा अज्ञानमय परिणाम, सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि अनेक प्रकार के परिणाम करता है। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ कुछ परिणाम विशेष लेना चाहिए।

इसी प्रकार जीव का भी जीव परस्पर उपकार करता है, व्यवहार में भी हम परस्पर उपकार देखते हैं। आचार्य शिष्य का, शिष्य आचार्य का, माता पिता पुत्र का, पुत्र माता पिता का, मित्र मित्र का, स्त्री पति का इत्यादि प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इस परस्पर उपकार में पुण्य पाप ही प्रधान कारण है। इसी प्रकार जीव भी अनादि काल से पर द्रव्य में परिणति किए हुए है। और वह पर द्रव्य भी पुण्य और पाप की भावना से निमित्त बनता है।

इस प्रकार ज्ञानी जीव को इस विषय के अनुसार सारा विचार करके जीव और पुद्गल के स्वरूप को समझ लेना चाहिए और इस शरीर से अपने निज स्वरूप को पृथक करने के लिए हमेशा स्व-पर की भावना करनी चाहिए। इसके लिये जीव को विचार करना चाहिए कि यह बाह्य वस्तु हेय है, यही अनादि काल से संसार का कारण हो गई है। कहा भी है कि—

अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः, कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

शरीर, सम्पत्ति, सम्बन्धी, स्त्री पुत्र बन्धु बांधव, महल-मकान ये कोई भी शाश्वत नहीं हैं। जब मृत्यु निकट आ जाती है तब वह सभी यहीं का यहीं रह जाता है। इसलिए मनुष्य को सबसे पहले

धर्म-संग्रह करना चाहिए। और आत्म स्वरूप का भी विचार करना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः या सायंकाल एकान्त में बैठकर अपने सम्बन्ध में विचार करना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या कर्तव्य है ? यह संसार क्या है ? मुझे जन्म मरण के दुःख क्यों उठाने पड़ रहे हैं। इस प्रकार विचार करने से व्यक्ति को अपना यथार्थ रूप ज्ञात हो जाता है। वह कर्मों से उत्पन्न हुए विकार और विभाव को अच्छी तरह जान लेता है। शास्त्रों में संसार के लिये चार प्रकार की उपमाएँ बतायी गयी हैं; जिनके स्वरूप चिन्तन द्वारा कोई भी व्यक्ति सज्ज्ञान-लाभ कर सकता है।

पहली उपमा संसार की समुद्र से दी है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं; वैसे ही विषय वासना की लहरें उत्पन्न होती हैं। समुद्र जैसे ऊपर से सपाट दिखलाई पड़ता है, पर कहीं गहरा होता है और कहीं अपने भँवरों में डाल देता है। उसी प्रकार संसार भी ऊपर से सरल दिखलाई पड़ता है, पर नाना प्रकार के प्रपंचों के कारण गहरा है, और मोह रूपी भँवरों में फँसाने वाला है। इस संसार में समुद्र की वड़वाग्नि के समान माया तथा तृष्णा की ज्वाला जला करती है, जिसमें संसारी जीव अहर्निश झुलसते रहते हैं।

संसार की दूसरी उपमा अग्नि के समान बताई है, जैसे अग्नि ताप उत्पन्न करती है, आग से जलने पर जीव को बिलबिलाहट होती है, उसी प्रका यह संसार भी जीव को त्रिविध—दैहिक,

दैविक, भौतिक ताप उत्पन्न करता है तथा सांसारिक तृष्णा से दग्ध जीव कभी भी शान्ति और विश्राम नहीं पाता है। अग्नि जैसे ईंधन डालने से उत्तरोत्तर प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार अधिकाधिक परिग्रह बढ़ाने से सांसारिक लालसाएँ बढ़ती चली जाती हैं। पानी डालने से जिस प्रकार आग शांत हो जाती है, इसी प्रकार संतोष या आत्म-चिन्तन रूपी जल से संसार के सताप दूर हो जाते हैं।

तीसरी उपमा संसार की अधकार से दी गई है। जैसें अंधकार में प्राणी को कुछ नहीं दिखलाई पड़ता है, इधर उधर मारा मारा फिरता है, आँखों के रहते हुए भी कुछ नहीं देख पाता है, वैसे ही संसार में अविवेक रूपी अंधकार के रहते हुए प्राणी चतुर्गतियों में भ्रमण करता है, आत्मा की शक्ति के रहते हुए मोहान्ध बनता है।

संसार की चौथी उपमा शकट चक्र–गाड़ी के पहिये से दी गई है। जैसे गाड़ी का पहिया बिना धुरे के नहीं चलता है, उसी प्रकार यह संसार मिथ्यात्व रूपी धुरे के बिना नहीं चलता है। मिथ्यात्व के कारण ही यह जीव जन्म-मरण के दुःख उठाता है। जब इसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है तो सहज में कर्मों से छूट जाता है।

जीव को संसार से विरक्ति निम्न बारह भावनाओं के चिन्तन से भी हो जाती है। संसार का यथार्थ स्वरूप इन भावनाओं के चिंतन से अवगत होजाता है। शरीर और आत्मा की भिन्नता का परिज्ञान भी इन भावनाओं के चिंतन से होता है। आचार्यो ने भावनाओं को माता के समान हितैषी बताया है। भावनाओं के चिंतन से शांति, सुख की प्राप्ति होती है, आत्म कल्याण की प्रेरणा मिलती है।

अनित्य भावना—शरीर, वैभव, कुटुम्ब, महल-मकान, परिवार मित्र, हितैषी सब विनाशीक हैं। जीव सदा अविनाशी है, इसका स्वाभावतः इन पदार्थों से कोई सम्बन्ध नही। इस प्रकार संसार की अनित्यता का चिन्तन करना अनित्य भावना है।

अशरण भावना—जब मृत्यु आता है तो जीव को कोई नहीं बचा सकता है। केवल एक धर्म ही इस जीव को शरण दे सकता है। कविवर दौलतराम जी ने इस भावना का सुन्दर निरूपण किया है—

सुर-असुर खगाधिप जेते। मृग ज्यों हरि काल दलै ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई। मरते न बचावै कोई॥

अर्थ—इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती, आदि सभी मृत्यु रूपी सिंह के मुंह में हरिण के समान असहाय होजाते हैं। मणि,मंत्र तंत्र अमोघ औषध तथा नाना प्रकार के दिव्योपचार मृत्यु आने पर रक्षा नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार बार बार चिन्तन करना अशरण भावना है। अभिप्राय यह है कि बार-बार यह विचारना कि इस जीव को मृत्यु के मुख से कोई नहीं बचा सकता है, यह सुख दुःख का भोगने वाला अकेला ही है, यह अशरण भावना कहलाता है।

संसार भावना—द्रव्य और भाव कर्मों के कारण आत्मा ने इस संसार में चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया है। संसार रूपी शृंखला से कब मैं छूटूंगा, यह संसार मेरा नहीं,मैं मोक्ष स्वरूप हूं। इस प्रकार चिन्तन करना संसार भावना है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस

भावना का वर्णन करते हुए कहा है—

> श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतैः ।
> तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखा संभारभस्मीकृतैः ॥
>
> मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः ।
> संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये विभ्राम्यते प्राणिभिः ॥

इस दुर्गतिमय संसार में जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकों में तो ये शूली, कुल्हाड़ी, घानी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी आदि से पीड़ा को प्राप्त हुए नाना प्रकार के दुःखों को भोगते हैं और तिर्यंच गति में भूख, प्यास, उष्णता आदि की बाधाओं को सहते हुए अग्नि की शिखा के भार से भस्म रूप खेद और दुःख पाते हैं। मनुष्य गति में अतुल्य खेद के वशीभूत होकर नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार देव गति में राग भाव से उद्धत होकर कष्ट सहते हैं।

तात्पर्य यह है कि संसार का कारण अज्ञान है। अज्ञान भाव से पर द्रव्यों में मोह तथा राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है, इससे कर्म बन्ध होता है और कर्म बन्ध का फल चारों गतियों में भ्रमण करना है। इस प्रकार अज्ञान भावजन्य संसार का स्वरूप बार बार विचारना संसार भावना है।

एकत्व भावना—यह मेरा आत्मा अकेला है, यह अकेला आया है, अकेला ही जायेगा और किये कर्मों का फल अकेला ही भोगेगा। इसके सुख दुःख को बांटने वाला कोई नहीं है। कहा भी है—

एकः श्वाभ्र भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोज भृंगः ।
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिकं छिद्यमानः कृपाणैः ॥
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान् ।
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥

यह आत्मा आप अकेला ही देवांगना के मुखरूपी कमल की सुगन्धि लेनेवाले भ्रमर के समान स्वर्ग का देव होता है और अकेला आप ही तलवार, छुरी आदि से छिन्न भिन्न किया हुआ नरक में रुधिर को पीता है तथा अकेला ही क्रोधादि कषाय रहित होकर कर्मों को बांधता है और अकेला ही ज्ञानी, विद्वान, पंडित होकर समस्त कर्मरूप आवरण के अभाव होने पर ज्ञान रूपी राज्य को भोगता है।

कर्म-जन्य संसार को अनेक अवस्थाओं को यह आत्मा अकेला ही भोगता है, इसका दूसरा कोई साथी नही। इस प्रकार वार बार सोचना एकत्व भावना है।

अन्यत्व भावना—यह आत्मा परपदार्थों को अपना मान कर संसार में भ्रमण करता है, जब उन्हें अपने से भिन्न समझ अपने चैतन्य भाव में लीन हो जाता है तो इसे मुक्ति मिल जाती है। अभिप्राय यह है कि इस लोक में समस्त द्रव्य अपनी अपनी सत्ता को लिये भिन्न भिन्न है। कोई किसी में मिलता नहीं है किन्तु परस्पर में निमित्त नैमित्तिक भाव से कुछ कार्य होता है, उसके प्रेमवश यह जीव परपदार्थों में अहंभाव और ममत्व करता है। जब इस जीव को

अपने स्वरूप के पृथक्त्व का प्रतिभास हो जाता है तो अहंकार भाव निकल जाता है। अतः बार बार समस्त द्रव्यों से अपने को भिन्न भिन्न चिन्तवन करना अन्यत्व भावना है।

अशुचि भावना—यह शरीर अपवित्र है, मल-मूत्र की खान है, रोगों का घर है, वृद्धावस्थाजन्य कष्ट भी इसे होता है, मैं इससे भिन्न हूँ, इस प्रकार चिन्तवन करना अशुचि भावना है। आत्मा निर्मल है, यह सर्वदा कर्ममल से रहित है, परन्तु अशुद्ध अवस्था के कारण कर्मों के निमित्त से शरीर का सम्बन्ध होता है। यह शरीर अपवित्रता का घर है, इस प्रकार बार बार सोचना अशुचि भावना है।

आस्रव भावना—राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि आस्रव के कारण है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा आस्रव रहित केवलज्ञान स्वरूप है, तो भी अनादि कर्म के सम्बन्ध से मिथ्यात्वादि परिणामस्वरूप परिणत होता है। इसी परिणति के कारण कर्मों का आस्रव होता है। जब जीव कर्मों का आसव कर भी ध्यानस्थ हो अपने को सब भावों से रहित विचारता है तो आस्रव भाव से रहित हो जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने आस्रव भावना का वर्णन करते हुए बताया है:—

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पंचविषयाः।
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च॥
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम्।
स्रुवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम्॥

प्रथम तो मिथ्यात्व रूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे काम के सहकारी पंचेन्द्रिय के विषय, चौथे प्रमाद विकथा,पांचवें मन-वचन कायरूप योग, छठे व्रतरहित अविरति रूप परिणाम और सातवें आर्त, रौद्रध्यान ये सब परिणाम नियम से पापरूप आस्रव को करने वाले है। यह पापास्रव अत्यन्त दुःखदायक है, चारों गतियों में भ्रमण कराने वाला है। शुभास्रव भी बन्ध का कारण है, अतः आस्रव के स्वरूप का बार बार चिन्तन करना आस्रव भावना है।

संवर भावना – जीव ज्ञान-ध्यान में प्रवृत्त होने से नवीन कर्मों के बंधन में नही पड़ता है, इस प्रकार का विचार करना संवर भावना है। राग, द्वेष रूप परिणामों से आस्रव होता है, जब जीव अपने स्वरूप को समझ कर राग-द्वेष से हट जाता है और स्वरूप चिंतन में लीन हो जाता है, तब सँवर भावना होती है।

निर्जरा भावना—ज्ञान सहित क्रिया करना निर्जरा का कारण है, ऐसा चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

लोक भावना—लोक के स्वरूप की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का विचार करना लोक भावना है। इस लोक में सभी द्रव्य अपने अपने स्वभाव में स्थित रहते है। इनमें आत्म द्रव्य पृथक है। इसका स्वरूप यथार्थ जानकर अन्य पदार्थो से ममता छोड़ना लोक भावना है।

बोधिदुर्लभ भावना—इस भ्रमणशील संसार में सम्यग्ज्ञान या सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होना दुर्लभ है। यद्यपि रत्नत्रय आत्मा की

वस्तु है, परन्तु अपने स्वरूप को न जानने के कारण यह दुर्लभ हो रहा है, ऐसा विचारना बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्म भावना—धर्मोपदेश ही कल्याणकारी है, इसका मिलना कठिन है, ऐसा विचारना धर्म भावना है अथवा आत्म धर्म का चिन्तन करना धर्म भावना है।

तनुवे स्फाटिक पात्रेयिंद्रियद मोत्तं ताने सद्वर्ति जी—
वनवे ज्योतियदर्कें पज्जळिसुवा सुज्ञानमे रस्मियिं ॥
विनितुं कूडिदोडेनो रस्तियोदविंगे देव ! निन्नेन्न चिं—
तनेगळ्नोडे घृतंबोलेएगो वोलला ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१२७

हे रत्नाकराधीश्वर !

इस शरीर की उपमा दीपक से दी जा सकती है। इन्द्रियाँ इस दीपक की वत्ती हैं और सम्यग्दर्शन इस दीपक की लौ। इस दीपक का प्रयोजन क्या प्रकाश करना–भेद विज्ञान की दृष्टि प्राप्त करना नहीं है ? क्या इस प्रकार का मेरा चिन्तन दीपक के स्नेह (तेल या घी) के समान नहीं है ?

विवेचन—तत्व चिन्तन द्वारा भेद विज्ञान की दृष्टि उपलब्ध होती है। इस दृष्टि की प्राप्ति का प्रधान कारण रत्नत्रय है, यही रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वास्तविक धर्म है। वस्तुतः पुण्य-पाप को धर्म, अधर्म नहीं कहा जा सकता है। मोह के मन्द होने से जीव की जिन पूजन, गुरु भक्ति, एवं स्वाध्याय आदि में प्रवृत्ति होती है। इससे पुण्यास्रव होता है, पर ये वास्तविक

धर्म नही हैं। क्योंकि सभी प्रकार का राग अधर्म है, चाहे शुभ राग हो या अशुभ राग, कर्म बन्ध ही करेगा। तथा राग परिणति भी हेय है।

पर-सम्बन्ध और क्षणिक पुण्य पाप के भाव से रहित अक्षय सुख के भण्डार आत्मा की प्रतीति करना ही धर्म है। धर्मात्मा या ज्ञानी जीव को पराश्रय रहित अपने स्वाधीन स्वभाव की पहले प्रतीति करनी होती है, पश्चात् जैसा स्वभाव है उस रूप होने के लिए अपने स्वभाव में देखना होता है। यदि कोई शुभाशुभ भाव आ जाये तो उसे अधर्म समझ छोड़ना चाहिए। पर-वस्तु और देहादि की क्रियाऐं सब पररूप हैं, ये आत्मरूप नहीं हो सकतीं। पुण्य-पाप का अनुभव दुःख है, आकुलता है, क्षणिक विकार है। आत्मा का धर्म सर्वदा अविकारी है, धर्म रूप होने के लिए आत्मा को पर की आवश्यकता नहीं। पर से भिन्न अपने स्वभाव का श्रद्धान होने से धर्मात्मा स्वयं ही ज्ञानरूप में परिणत होता है, उसे कोई भी संयोग अधर्मात्मा या अज्ञानी नहीं वना सकता है।

जैसे पुद्गल की स्वर्ण रूप अवस्था का स्वभाव कीचड़ आदि पर पदार्थों के संयोग होने पर भी मलिन नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा का धर्म ज्ञान, वल, दर्शन, और सुख रूप है, क्षणिक राग इसका धर्म कभी नहीं हो सकता। जब जीव अपने को सुखी और स्वाधीन समझ लेता है और पर में सुख की मान्यता को त्याग देता है तो उसकी धर्मरूप परिणति हो जाती है। जीव जब पाप भाव को छोड़ कर पुण्य भाव करता है तो राग रूप ही परिणति होती है,

जिससे कर्म के सिवा और कुछ नही होता। भले ही पुण्योदय से देव, चक्रवर्ती हो जाय, किन्तु स्वभाव से च्युत होने के कारण अधर्मात्मा ही माना जायेगा।

जब तक जीव अपने को पराश्रय और विकारी मानता है तब तक उसकी दृष्टि पुण्य पाप की ओर रहती है, पर जब त्रिकाल असंग स्वभाव की प्रतीति करता है तो विकार का क्षय हो जाता है ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा भासित होने लगता है। पर द्रव्यों से राग करना, उनके साथ अपने संयोग मानना दुःख रूप है और दुःख कभी भी आत्मा का धर्म नहीं हो सकता है।

यह भी सत्य है कि आत्मा को किसी बाह्य सयोग से सुख नहीं मिल सकता है। यदि इसका सुख पर-वस्तुजन्य माना जायेगा तो सुख संयोगी वस्तु हो जायेगा। पर यह तो आत्मा का स्वभाव है, किसी के संयोग से उत्पन्न नहीं होता। पर पदार्थो के संयोग से सुख की निष्पत्ति आत्मा में मानी जाये तो नाना प्रकार की बाधाएँ आयेंगी। एक वस्तु जो एक समय में सुख का कारण है वही वस्तु दूसरे समय में दुःखोत्पादक कैसे हो जाती है? पर संयोग से उत्पन्न सुखाभास दुःख रूप ही है। खाने, पीने, सोने, गप्प सप्प करने, सैर करने, सिनेमा देखने, नाच गाना देखने एवं स्त्री सहवास आदि से जो सुखोत्पत्ति मानी जाती है वह वस्तुतः दुःख है। जैसे शराबी नशे के कारण कुत्ते के मूत्र को भी शरबत समझता है उसी प्रकार मोही जीव भ्रमवश दुःख को सुख मानता है। प्रवचनसार में कुन्द-कुन्दाचार्य ने कहा है—

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहि लद्धं तं सौक्खं दुक्खमेव तथा ॥

जो इन्द्रियों से होने वाला सुख है, वह पराधीन है, वाधा सहित है, नाश होनेवाला है, पाप-बंध का कारण है तथा चंचल है,इसलिए दुःख रूप है।

आत्मिक सुख अक्षय, अनुपम, स्वाधीन, जरा रोग मरण आदि से रहित होता है। इसकी प्राप्ति किसी अन्य वस्तु के संयोग से नहीं होती है । यह तो त्रिकाल में ज्ञानानंद रूप पूर्ण सामर्थ्यवान् है । अज्ञानता के कारण जीव की दृष्टि जब तक संयोग पर है, दुःख को सुख समझता है किन्तु जिस क्षण पराश्रित विकारभाव हट जाता है, सुखी हो जाता है। यह सुख कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि उस-के स्वरूप स्थित सुख का अक्षय भण्डार खुल जाता है।

जीव का सबसे बड़ा अपराध है आत्मा से सुख को भिन्न मानना, इस अपराध का दण्ड है संसार रूपी जेल । जीव में जब यह श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि मेरा सुख मुझमें है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र भी मुझमें ही है, मेरा स्वरूप सर्वदा निर्मल है तो वह सम्यग्दृष्टि माना जाता है। पर से भिन्न अपने स्वतन्त्र रूप को जान लेने पर जीव सम्यग्ज्ञानी और पर से भिन्न स्वरूप में रमण करने पर सम्यक् चारित्रवान् कहा जाता है। अतएव आध्यात्मिक शास्त्रों के अनुसार स्वतन्त्र स्वरूप का निश्चय, उसका ज्ञान, उसमें लीन होना और उससे विरुद्ध इच्छा का त्यागना ये चार आत्म प्राप्ति की

आराधनाएँ हैं और निर्दोष ज्ञानस्वरूप में लीन होना आत्मा का व्यापार है।

तात्पर्य यह है कि आत्मा सामान्य, विशेषस्वरूप है, अनादि, अनन्त ज्ञान स्वरूप है। इस सामान्य की समय समय पर जो पर्यायें होती है, वे विशेष है। सामान्य ध्रौव्य रह कर विशेष रूप में परिणमन करता है। यदि पुरुषार्थी जीव विशेष पर्याय में अपने स्वरूप की रुचि करे तो विशेष शुद्ध और विपरीत रुचि करे कि जो रागादि दोषादि है, वह मै हूँ तो विशेष अशुद्ध होता है। भेद विज्ञानी जीव क्रमबद्ध होने वाली पर्यायों में राग नहीं करता, अपने स्वरूप की रुचि करता है। सभी द्रव्यों की अवस्थाएँ क्रमानुसार होती हैं, जीव उन्हें जानता है, पर करता कुछ नहीं है। जब जीव को अपने स्वरूप का पूर्ण निश्चय हो जाता है, अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जान लेता है तो अपनी ओर झुक जाता है, निमित्त या सहकारी कारण इस आत्मा को अपने विकास के लिए निरन्तर मिलते रहते हैं। अतः भेद विज्ञान की ओर अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए।

इस श्लोक मे कवि ने अज्ञानी भव्य संसारी जीवों के लिए भेदज्ञान की तरफ झुकने का तरीका बताया है। शरीर और आत्मा अनादि काल से दूध और पानी की तरह से मिले हुए है और जीव उस शरीर के प्रति राग होने के कारण रात दिन ममकार का भाव करता है। इसी कारण उसका अनादि काल से रूपी पदार्थ के प्रति सम्बन्ध गाढ़ होने से भीतर के अपने निज अनुभवरूपी अमृत के समान सुख और शान्ति को कम करनेवाले निजी स्वभाव की

प्रतीति नहीं हो रही है। इसलिए आचार्यों ने जीवों को स्व-पर भेद-ज्ञान करने का उपदेश दिया है। इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि सबसे पहले संसारी जीव स्व-पर-भेदज्ञान की रुचि करने के लिए किस व्यवहार और निश्चय का सहारा लेता है—

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवहिं चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥

धर्म आदि छः द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का जानना सम्यग्ज्ञान है। तप में उद्योग करना चारित्र है। यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है।

वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए जीव आदि पदार्थों के सम्बन्ध में भले प्रकार श्रद्धान करना तथा जानना ये दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियों में समान होते हैं परन्तु साधु तपस्वियों का चारित्र आचार सार आदि चारित्र ग्रन्थों में कहे हुए मार्ग के अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त छठे सातवें गुणस्थान के योग्य पाँच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति व छः आवश्यक आदि रूप होता है। गृहस्थों का चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार पंचम गुणस्थान के योग्य दान, शील, पूजा या उपवास आदि रूप या दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमा रूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण है। वह व्यवहार मार्ग अपने और दूसरे परिणमन के आश्रय है—इसमें साधन और साध्य भिन्न होते हैं, इसका ज्ञान व्यवहार के आश्रय से होता है। जैसे सुवर्ण-पाषाण में से सुवर्ण निकालने के लिए अग्नि बाहरी साधन है, तैसे

यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का बाहरी साधन है। जो भव्य जीव निश्चय नय के द्वारा भिन्न साधन और साध्य को छोड़कर स्वयं ही अपने शुद्ध आत्मतत्व के भले प्रकार श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव रूप अनुष्ठान में परिणमन करता है वह निश्चय मोक्षमार्ग का आश्रय करने वाला है। उसके लिए भी यह व्यवहार मोक्षमार्ग बाहरी साधन है।

भावार्थ—इस गाथा में आचार्य ने व्यवहार मोक्षमार्ग को इसीलिए बताया है कि जो निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु ऐसी भूमि में ठहरे हुए है जहाँ पर अशुभ कार्यों के व मोह के बादल बहुत तीव्र आ रहे है जिससे उनकी दृष्टि निश्चय मोक्षमार्ग पर जम ही नही सकती है, उन जीवों को निश्चय मार्ग पर लाने व अशुभ मार्ग या संसार मार्ग की भूमिका से हटाने के लिए व्यवहार मोक्ष मार्ग हस्तावलंबन रूप है। इसके सहारे से निश्चय मोक्ष मार्ग का लाभ एक साधक को हो सकता है। शुद्ध आत्मा रूप मेरा स्वभाव निश्चय से है, इसी बात का ज्ञान व श्रद्धान करने के लिए यह आवश्यक है कि जीवादि सात तत्वों का ज्ञान श्रद्धान हो। आस्रव व बंध तत्व से जीव के अशुद्ध होने व संवर व निर्जरा तत्व से जीव के शुद्ध होने के उपाय विदित है। मोक्ष से अपनी शुद्ध अवस्था प्रगट होती है। इस तरह भेद रूप पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने से जब मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम होता है तब आत्मा का यथार्थ श्रद्धान होता है। यही निश्चय सम्यग्दर्शन है व तब ही ज्ञान भी निश्चय सम्यग्ज्ञान कहलाता है। गृहस्थ व मुनि दोनों को

यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समान हो सकते है, परन्तु चारित्र में भेद है-मुनि का चारित्र पंच महाव्रत रूप है, जहाँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग का पूर्णतया पालन है, जहाँ सर्व महारम्भ का त्याग है, जहाँ एकांत निर्जन स्थानों में निवास है, यह सव व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र, जो अपने स्वरूप में आचरण रूप है, उसका इसीलिए वाहरी साधन हो जाता है कि इस व्यवहार चारित्र से मन के संकल्प विकल्प हटते है और उपयोग निराकुल होकर अपने आत्मा के अन्दर तल्लीन हो जाता है। गृहस्थ श्रावक पूजा दान सामायिक उपवासादि व ग्यारह प्रतिमा रूप से जो अपने अपने योग्य व्यवहार चारित्र पालते है उसका भी उद्देश्य निश्चय चारित्र का लाभ है। गृहस्थजन पूजा सामायिकादि के द्वारा परमात्म गुणों का विचार करते हुए यकायक स्वात्मानुभव में जव तल्लीन हो जाते हैं तव निश्चय चारित्र का लाभ पा लेते है।

निश्चय मोक्ष मार्ग आत्मा के भाव मे लवलीनता रूप है, इसके लाभ में जो जो वाहरी उपाय सहकारी हों वे सव ही व्यवहार मोक्ष मार्ग हैं। जो अपना हित करना चाहें उनको उचित है कि व्यवहार को सहारा देने वाला जानकर जव तक निश्चय मार्ग में दृढ़ता से वरावर जमना न हो तव तक इस व्यवहार मार्ग रूपी सेवक की सहायता लेना नहीं त्यागे, यही वह रक्षक है जो विषय कषाय रूपी चोरों के आक्रमणों से वचाता है, तथापि साधक को अपना लक्ष्य विन्दु निश्चय मोक्ष मार्ग को ही वनाना योग्य है क्योंकि साक्षात् मोक्ष का व आनन्द का उपाय यही है। सारांश यह है कि जैसे

समुद्र में पवन के कारण निरन्तर लहरें उठती है और नष्ट होती है। किन्तु व्यापारी यही विचार करता है कि ये लहरें शान्त हो जांय और मेरा जहाज कुशलता पूर्वक पार हो जाय, जिससे कि मेरे जहाज को कोई क्षति न पहुँचे। इसी प्रकार साधक सोचता है कि इन्द्रिय और मन के विकार शान्त हो जांय, जिससे परमानन्द स्वरूप आत्मा निज स्वरूप में रमण करता हुआ भव सागर के पार हो जाय। इसी तरह निश्चय मोक्ष मार्ग के साधक व्यवहार मोक्ष मार्ग को साधते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक कर लेना ये ही आत्म कल्याण का मार्ग है।

शरीर का मोह छोड़ो—

तनुवें ताम्र निवासमो मळल वेट्टोळ्तोडि बीडं वरु-
ळ्मनमोल्दिर्प वोलिंदो नाळेयो तोडकं नाळिदो ईगळो।
घन दोड्डं ववोलोड्डियोड्डळिवमेय्योळ्मोसा वेकिर्द्पै।
नेनेदिर्जीवने मेलेनेंदरुपिदै! रत्नाकराधीश्वरा! ॥१३॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

यह शरीर क्या ताम्बे के द्वारा निर्मित घर है? बालू के पहाड़ पर मकान बनाकर यदि कोई मनुष्य उस मकान से ममता करे तो उसका यह पागलपन होगा। इसी प्रकार नाश होने वाले बादलों के समान इस क्षणभगुर शरीर पर मोहग्रस्त जीव क्यों प्रेम करता है? मोह को छोड़ कर जीव आत्म तत्व का चिन्तन करे, हे प्रभो! आपने ऐसा समझाया।

इस संसारी प्राणी ने अपने स्वभाव को भूल कर पर पदार्थों को अपना समझ लिया है, इससे यह स्त्री, पुत्र, धन दौलत और शरीर से प्रेम करता है, उन्हें अपना समझता है। जब मोह का पर्दा दूर हो जाता है, स्वरूप का प्रतिभास होने लगता है तो शरीर पर से इसकी आस्था उठ जाती है। मोह के कारण ही सारे पदार्थों में ममत्व बुद्धि दिखलाई पड़ती है।

यहाँ कवि ने शरीर का मोह त्याग करने के लिए कहा है। यह जीव ईंट या पत्थर के बने हुए घर पर मोह करता है, इसी प्रकार इस अत्यन्त अपवित्र शरीर के प्रति मन में धारणा बनाली है कि यह मेरा शरीर शास्वत सुख देने वाला है। वस्तुतः यह शरीर क्षणिक और नाशवान है इसलिए इस शरीर के द्वारा धर्म साधन के अलावा कुछ भी काम नही बन सकता है। अतः इस शरीर के द्वारा आत्म. कल्याण करना ही उचित है क्योंकि—

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः।
साध्यंते सुखकारणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः।
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते।
लाभः केन न मन्यते बत तदा लोकस्थितिं जानता ॥१८॥

यदि इस दुर्गंध से भरे हुए तथा मलीन शरीर से सुख को करने वाली स्वर्ग और मोक्ष की संपत्तियाँ प्राप्त की जाती है तब क्या हानि होती है। यदि निदनीय निर्माल्य के द्वारा सुखदाई रत्न मिल जावे तब जगत की मर्यादा को जाननेवाले किस पुरुष के द्वारा लाभ न माना जायेगा ?

यहाँ आचार्य बतलाते है कि यह शरीर परम अपवित्र दुर्गंधमय है–हाड़, चाम, मांस, रुधिर आदि का बना हुआ है । निरन्तर अपने करोड़ों रोमों से और मुख्य नव द्वारों से मैल को ही निकालता है, पवित्र जल चंदनादि पदार्थ भी जिसकी संगति में आकर मलिन हो जाते है, तथा यह ऐसा कच्चा है, जैसे कच्ची मिट्टी का घड़ा । जरा भी रोग शोक आदि क्लशों की ठोकर लगती है कि यह शरीर खंडित हो जाता है । इस शरीर में रात दिन बाधाऐ रहती है, कभी भूख, कभी प्यास, कभी आलस्य सताता है, कभी चिता की आग में जला करता है । शरीराधीन इन्द्रियों के भोग की चाह महान जलन पैदा करती है । इष्ट पदार्थो का वियोग परम आकुलित कर देता है । इस शरीर का मोह जीव को नरक निगोद की दुर्गति में पटक देने वाला है । तथापि जो कोई बुद्धिमान प्राणी हैं वे ऐसे शरीर से मोह नही करते किन्तु इसको स्थिर रखते हुए इसके द्वारा परम सुख-दाई मोक्ष पद या साताकारी स्वर्ग पद प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि बिना मानव देह के उच्च स्वर्ग पदों का व मुक्ति पद का लाभ नहीं हो सकता है । इसमे वे अपनी कुछ हानि नही मानते हैं, क्योंकि यह देह तो बहुत कष्टप्रद है व शीघ्र मरण के आधीन है। इसका मोह तो उल्टी हानि करता है, तब यही उचित है कि इसको चाकर की तरह अपने वश में रक्खा जाय और इसको ध्यान स्वाध्याय आदि तप साधन में लगा दिया जाय । तब आत्म ज्ञान के बल से यहाँ भी कष्ट नही और फल ऐसा मिले कि जिसकी जरूरत थी व जिसके बिना ससार में महादुखी था वह मिल जाय । यदि किसी के पास

कोई निरर्थक वस्तु ऐसी हो जिसका रखना निंदनीय हो, व जिससे कोई मतलब न निकलता हो तब यदि कोई कहे कि यह वस्तु तू दे दे और बदले में सुखदाई अमोलक रत्न तू ले ले तो बुद्धिमान् मानव जरा भी संकोच व देर न करेगा और बड़ा ही लाभ मानकर उस रत्न को ले लेगा।

कहने का प्रयोजन यह है कि बुद्धिमान प्राणी को उचित है कि इंद्रियों के विषय भोगों में इस शरीर को रमाकर अपना बुरा न करें। यह शरीर तो काने साठे (गन्ने) के समान है जिसको खाने से मजा नहीं आता है परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो मीठे २ साठों को पैदा करता है। इसी तरह इस शरीर के भोगने में शान्ति नहीं मिलती है किन्तु यदि इसे तप संयम ध्यान में लगा दिया जावे तो मोक्ष के अपूर्व सुखों को व स्वर्ग के साताकारी सुखों को पैदा कर देता है। इसलिए शरीर से मोह छोड़कर आत्म हित करना ही श्रेय है। श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में कहते हैं—

अजिनपटलगूढं पंजरं कीकसानाम् ।
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ़ ! गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं ।
कथमिह मनुजानां प्रीत ये स्याच्छरीरम् ॥१३॥

हे मूढ प्राणी ! इस संसार में यह मनुष्यों का शरीर चर्म के पर्दे से ढका हुआ हाड़ों का पिंजरा है, बिगड़ी हुई पीप की दुर्गंध से खूब भरा हुआ है तथा रोग रूपी सर्पों का घर है और काल के मुख में

बैठा हुआ है, तब ऐसे शरीर से किस तरह प्रेम किया जावे ?

श्री पद्मनंदि मुनि शरीराष्टक में कहते हैं—

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद् वपुर्मे
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्वदर्शि ।
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ॥७॥

यद्यपि यह शरीर ऐसा अपवित्र क्षणिक है सो ऐसा ही रहो परन्तु यदि परम गुरु का वचन जो तत्व को दिखलाने वाला है मेरे मन में रहे तो उसके प्रभाव से अर्थात् उस उपदेश पर चलने से मुझे इसी शरीर के द्वारा अनुपम और अविनाशी आनन्द से भर पूर मोक्ष लक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त हो जावे ।

जैन दर्शन में वस्तु विचार के दो प्रकार बताये गये हैं—

प्रमाणात्मक और नयात्मक । नयात्मक विचार के भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद है । पदार्थ के सामान्य और विशेष इन दोनों अंशों को या अविरोध रूप से रहनेवाले अनेक धर्मयुक्त पदार्थ को समग्र रूप से जानना प्रमाण ज्ञान है । यह वही है, ऐसी प्रतीति सामान्य और प्रतिक्षण में परिवर्तित होने वाली पर्यायों की प्रतीति विशेष कहलाती है । सामान्य ध्रौव्य रूप में सर्वदा रहता है और विशेष पर्याय रूप में दिखलाई पड़ता है । प्रमाणात्मक ज्ञान दोनों अंशों को युगपत् ग्रहण करता है ।

नय ज्ञान एक-एक अंश को पृथक २ ग्रहण करता है । पर्यायों को

गौण कर द्रव्य की मुख्यता से द्रव्य का कथन किया जाना द्रव्यार्थिक नय है । यह नय एक है, क्योंकि इसमें भेद प्रभेद नहीं है। अंशों का नाम पर्याय है, उन अंशों में जो प्रभेदित अश है वह अंश जिस नय का विषय है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। पर्यायार्थिक नयों को ही व्यवहार नय कहते है। व्यवहार नय का स्वरूप 'व्यवहरणं व्यवहार:' वस्तु में भेद कर कथन करना बताया है। यह गुण, गुणी का भेद कर वस्तु का निरूपण करता है, इसलिए इसे अपर-मार्थ कहा है ।

व्यवहार नय के दो भेद है—सद्भूत व्यवहार नय और असद्-भूत व्यवहार नय। किसी द्रव्य के गुण उसी द्रव्य में विवक्षित कर कथन करने का नाम सद्भूत व्यवहार नय है। इस नय के कथन में इतना अयथार्थपना है कि यह अखण्ड वस्तु में गुण गुणी का भेद करता है । एक द्रव्य के गुणों का वलपूर्वक दूसरे द्रव्य में आरोपण किये जाने को असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। इस नय की अपेक्षा से क्रोधादि भावों को जीव के भाव कहा जायेगा। शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा से क्रोधादि जीव के गुण नही है, वे कर्मो के सम्वन्ध से आत्मा के विकृत परिणाम है। इन दोनों नयों के अनुपचरित और उपचरित ये दो भेद है। पदार्थ के भीतर की शक्ति को विशेष की अपेक्षा से रहित सामान्य दृष्टि से निरूपण किये जाने को अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है । अविरुद्धता पूर्वक किसी हेतु से उस वस्तु का उसी में पर की अपेक्षा से जहाँ उपचार किया जाता है, उपचरित सद्भूत व्यवहार नय होता है।

अबुद्धिपूर्वक होने वाले क्रोधादि भावों में जीव के भावों की विवक्षा करना, असद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय है। औदयिक क्रोधादि भाव जब बुद्धिपूर्वक हों, उन्हें जीव के कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। उदाहरण—कोई पुरुष क्रोध या लोभ करता हुआ यह समझ जाय कि मै क्रोध या लोभ कर रहा हूँ, उस समय कहना कि यह क्रोधी या लोभी है।

व्यवहार का निषेध करना निश्चय नय का विषय है। निश्चय नय वस्तु के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है। जैसे व्यवहार नय जीव को ज्ञानवान कहेगा तो निश्चय नय उसका निषेध करेगा। जीव ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है इसलिए वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नता में गुण गुणी का भेद करना ही मिथ्या है, अतः निश्चय नय उसका निषेध करेगा। यदि वह किसी विषय का विवेचन करेगा तो उसका विषय भी मिथ्या हो जायेगा। द्रव्यार्थिक नय का ही दूसरा नाम निश्चय नय है। निश्चय नय निषेध के द्वारा ही वस्तु के अवक्तव्य स्वरूप का प्रतिपादन करता है।

जीव का इस शरीर के साथ सम्बन्ध व्यवहार नय की दृष्टि से है, इसी नय की अपेक्षा देव पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, दान आदि धर्म है। एकान्तरूप से न केवल व्यवहार नय ग्राह्य है और न निश्चय नय ही। आचार्य ने उपर्युक्त पद्य में क्षणविध्वंसी शरीर के साथ जीव सम्बन्ध का संकेत करते हुए निश्चय नय की दृष्टि द्वारा अपने स्वरूप-चिन्तन का प्रतिपादन किया है। व्यवहार नय की अपेक्षा से

मोह आत्मा का विकृत स्वरूप है, निश्चय की अपेक्षा यह आत्मा का स्वरूप नहीं। अतः व्यवहारी जीव मोह के प्रबल उदय से शरीर को अपना समझ लेता है। किन्तु कुछ समय पश्चात् उसके इस समझने की निस्सारता उसे मालूम हो जाती है। जैसे बालू की दीवाल बन नहीं सकती या बनाते ही तुरन्त गिर जाती है, अथवा सुन्दर रग विरंगे मेघ पटल क्षण भर के लिए अपना मनमोहक रूप दिखलाते हैं, पर तुरन्त विलीन हो जाते है, इसी प्रकार यह शरीर भी शीघ्र नष्ट होने वाला है, इससे मोह कर पर भावों को अपना समझना, बड़ी अज्ञता है।

निश्चय नय द्वारा व्यवहार को त्याज्य समझ कर जो आत्मा के स्वरूप का मनन करता है तथा इतर द्रव्यों और पदार्थों के स्वरूप को समझ कर उनसे इसे अलिप्त मानता है, इसे अपने ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य, आदि गुणों से युक्त अखण्ड समझता है, अनुभव करता है वह शरीर में रहते हुए भी रागादि परिणामों को छोड़ देता है, अपने आत्मा में स्थिर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार व्यवहार नय के विषय है, अतः इनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं। मोह इन सब विकारों में प्रबल है, इसी के कारण अन्य विकारों की उत्पत्ति होती है तथा अविवेकी व्यवहारी अपने को इन विकारी से युक्त समझते हैं।

नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को अवगत करके आत्म द्रव्य की सत्ता सबसे अलग समझनी चाहिये। व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के कर्म आरम्भिक साधक के लिए करणीय हैं,

तभी यह शरीर के मोह से निवृत्त हो सकता है।

शरीर क्षणिक है

उंबूटं मिगिलागे येरुव हयं वेब्बल्के नीमूंगिनो—
ऌतुंबल्पोगुते मुग्गियुं मरणमक्कुं जीवकी देहवे ॥
ष्टं वाळ्द्ष्टद्दु लाभवी किडुब मेय्यं कोट्टु नित्यत्ववा—
दिंवं धमदे कोंववंचदुरने ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

भोजन अधिक करने से, घोड़े पर बैठ कर चलते समय ठोकर लगने से, नाक में पानी जाने से, जाते समय ठोकर लगने से, यह जीव अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः जीवात्मा ऐसे अनिश्चित शरीर से जितना काम लेगा उतना ही अच्छा समझा जायेगा। अर्थात् जो व्यक्ति इस नाशवान शरीर को देखकर शाश्वत भाव को प्राप्त होता है वही चतुर है क्योंकि पद पद पर इस शरीर के लिए मृत्यु का भय है। अतः इस क्षणभंगुर शरीर को प्राप्त कर प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

इस श्लोक में कवि ने शरीर के बारे में बतलाया है कि यह मानव शरीर अत्यन्त क्षणिक है क्योंकि इस आत्मा से कब इसका युद्ध होगा, कब सम्बन्ध छूटेगा, कब इसकी मर्यादा पूर्ण होगी इसका कोई भरोसा नहीं। इसलिए मानव शरीर को एक नौकर के समान आत्म साधन में सहायक बनाने अथवा इसको आत्म कल्याण के हेतु या संयम धारण के निमित्त हम साधन बना ले तो अनादि काल

से यह आत्मा सम्बन्ध करके जो दुःख उठा रहा है, उन दुःखों से यह छूट सकता है। वस्तुतः मनुष्य देह आत्म-साधन के लिए है।' इसलिए मानव को एक क्षण भी इस शरीर को या इनमें रहने वाले पंचेन्द्रिय विषयों को जहाँ तक हो वहाँ तक आत्म साधन के प्रति लगाना बुद्धिमानी का काम है। गुणभद्र आचार्य ने इस शरीर के बारे में कहा है कि—

व्यपदर्वमयं विरामविरसं मूलेप्यभोगोचितं,
विश्वक् क्षुत्क्षतपातकुष्टकुथिताद्युग्रामयैश्छिद्रितम्।
मानुष्य घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुन—
निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥'

यह मनुष्य शरीर ऐसा है कि घुने हुए गन्ने के समान है अर्थात् बीच में गन्ना खा करके गाँठ जैसे फेंक देते है और उसमें अनेक प्रकार के आपत्ति रूपी गांठे है पुनः अन्तकाल में विरस है। और इसको विचार करके देखा जाये तो भोगने योग्य भी नहीं है। सम्पूर्ण शरीर में क्षुदा गुड़ी इत्यादि अनेक भयकर रोग भरे हुए है। और यह क्षुद्र है। नाममात्र के लिए भी इसमे सुन्दरता नहीं है, यह आनन्द देने वाला नहीं है। इसलिए बुद्धिमान को इस शरार के द्वारा शीघ्र ही धर्म-साधन करके परलोक बीज समझ करके आगे के फल की प्राप्ति करना चाहिए।

इसी तरह आचार्य अमितगति ने कहा है कि जगत के जितने भी पर पदार्थ हैं, वे जड़ हैं और क्षणभंगुर हैं। इसी प्रकार

शरीर भी क्षणिक है। इसलिए क्षणभंगुर पदार्थ के प्रयत्न करना व्यर्थ है।

सव नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
कार्यं रूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा॥
यत्तत्रापि विधीयते वत कुतो मूढ प्रवृत्तिस्त्वया।
कृत्ये क्वापि हि केवलश्रमकरे न व्याप्रियते बुधाः॥८८॥

पानी में मिट्टी की पुतली के समान कठिन परिश्रम करके यत्न से बनाया गया संसार का सब काम क्षण भर में बिलकुल नाश हो जाता है। जब ऐसा है तब हे मूर्ख! तेरे द्वारा उसी संसारी कार्य में ही, बड़े खेद की बात है, क्यों प्रवृत्ति की जाती है ? बुद्धिमान प्राणी खाली बेमतलब परिश्रम करानेवाले कार्य में कभी भी व्यापार नहीं करते हैं।

जैसे मिट्टी की मूर्ति पानी में रखने से गल जाती है, वैसे संसार के जितने काम हैं वे सब क्षणभंगुर है। जब अपना शरीर ही एक दिन नष्ट होने वाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओं के रहने का क्या ठिकाना ? असल बात यह है कि जगत का यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नही होते, न नवीन पैदा होते है परन्तु उन द्रव्यों की जो अवस्थाएं होती है वे उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। अवस्थाएँ कभी भी स्थिर नहीं रह सकती है। हम सबको अवस्थाएँ ही दीखती है तब ही यह रात दिन जानने में आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक गिर पड़ा,

अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई । राजपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सब ही पदार्थ नाश होने वाले है। करोड़ों की सम्पत्ति क्षणभर में नष्ट हो जाती है। बडा भारी कुटुम्ब क्षणभर में काल के गाल में समा जाता है। यौवन देखते देखते विलय जाता है, बल जरा सी देर में जाता रहता है। संसार के सब ही कार्य थिर नही रह पाते है। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्यों के लिए उद्यम नहीं करता है। वह इन्द्र-पद व चक्रवर्ती-पद भी नहीं चाहता है क्योंकि ये पद भी नाश होने वाले है। इसलिए वह तो ऐसे कार्य को सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य अपने स्वाधीन व शुद्ध स्वभाव का लाभ है जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र हो जाता है तो फिर कभी मलीन नहीं हो सकता और तब यह अनन्तकाल के लिए सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमें परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचारशील होते है, वे सफलता देने वाले ही कार्यों का उद्यम करते हैं। इसलिए सुख के अर्थी जीव को आत्मानन्द के लाभ का ही यत्न करना उचित है।

सुभाषित रत्न संदोह में अमितगति महाराज कहते हैं—

एको मे शाश्वदात्मा सुखमसुखभुजा ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ॥
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे।
पर्यालोच्येति जीवः स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रय त्वम् ॥४१६॥

मेरा तो एक अपना ही आत्मा अविनाशी, सुखमयी, दुःखों का नाशक, ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय. भाई, स्त्री, सांसारिक सुख आदि मेरे से अन्य पदार्थ कोई भी मेरा नहीं है, क्योंकि यह सब कर्मो के द्वारा उत्पन्न हैं चंचल हैं, क्लेशकारी हैं। इन सब क्षणिक पदार्थों में मोह करना वृथा है । ऐसा विचार कर हे जीव! तू अपने हितकारी इस सच्चे मुक्ति के मार्ग का आश्रय ग्रहण कर।

विशेषार्थ—मनुष्य गति में अकाल मरण बताया गया है। देव, नारकी और भोगभूमि के जीवों का अकाल मरण नहीं होता है। आयु पूर्ण होने पर ही आत्मा शरीर से पृथक् होता है। मनुष्य और तिर्यंच गति में अकाल मरण होता है, जिससे बाह्य निमित्त मिलने पर कभी भी इस शरीर से आत्मा पृथक् हो सकता है।

शरीर प्राप्ति का मुख्य ध्येय आत्मोत्थान करना है। जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को प्राप्त कर अपना स्वरूप पहचान लेते हैं, अपनी आत्मा का विकास करते हैं, वस्तुतः वे ही इस शरीर को सार्थक करते है। इस क्षणभंगुर, अकाल मृत्यु से ग्रस्त शरीर का कुछ भी विश्वास नहीं कि कब यह नष्ट हो जायेगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा आत्म-कल्याण की ओर सजग रहना चाहिए। जो प्रवृत्ति मार्ग में रत रहने वाले हैं, उन्हें भी निष्कामभाव से कर्म करने चाहिए, सर्वदा अपनी योग प्रवृत्ति—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को शुद्ध अथवा शुभ रूप मे रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

कविवर बनारसीदास ने अपने बनारसी विलास नामक ग्रन्थ में

संसारी जीव को चेतावनी देते हुए कहा है :—

जामें सदा उतपात रोगन सों छीजे गात,
कछू न उपाय छिन-छिन आयु खपनो।
कीजे वहु पाप औ नरक दुःख चिन्ता व्याप,
आपदा कलाप में विलाप ताप तपनो॥
जामें परिगह को विषाद मिथ्या वकवाद,
विषै भोग सुख को सवाद जैसे सपनो।
ऐसो है जगतवास जैसो चपला विलास,
तामें तू मगन भयो त्याग धर्म अपनो॥

इस शरीर में सर्वदा रोग लगे रहते हैं, यह दुर्बल, कमजोर और क्षीण होता रहता है। क्षण क्षण में आयु घटती रहती है, आयु के इस क्षीणपने को कोई नहीं रोक सकता है। नाना प्रकार के पाप भी मनुष्य इस शरीर में करता है, जिससे नरक की चिन्ता भी इसे सदा बनी रहती है। विपत्ति के आने पर नाना प्रकार के संताप करता है, दुःख करता है, शोक करता है और अपने किये का पश्चा-ताप करता है। परिग्रह, धन-धान्य, वस्त्र, आभूषण, महल आदि के संग्रह के लिए रात दिन श्रम करता है, क्षणिक विषय-भोगों को भोगता है, इनके न मिलने पर कष्ट और बेचैनी का अनुभव करता है। यह मनुष्य भव क्षणिक है, जैसे आकाश में बिजली चमकती है, और क्षण भर में विलीन हो जाती है उसी प्रकार यह मनुष्य भव भी क्षण भर में नाश होने वाला है। यह जीव अपने स्वरूप को

भूलकर इन विषयों में लीन हो गया है। अतः विषय-कषाय का त्याग कर इस मनुष्य जीवन का उपयोग आत्म-कल्याण के लिए करना चाहिए।

संसार की अवस्था यह है कि मनुष्य मोह के कारण अपनी इस पर्याय को यों ही बरबाद कर देता है। प्रतिदिन सवेरा होता है और शाम होती है, इस प्रकार नित्य आयु क्षीण होती जा रही है। दिन रात तेजी से व्यतीत होते चले जा रहे है। जो सुखी है, जिनकी आजीविका अच्छी तरह चल रही है, जिनका पुण्योदय से घर भरा पूरा है, उन्हें कुछ भी मालूम नहीं होता। ये हंसते खेलते, मनोरंजन पूर्वक अपनी आयु को व्यतीत कर देते हैं। प्रतिदिन आंखों से देखते हैं कि कल अमुक व्यक्ति चल बसा, आज अमुक। जिसने जवानी में ऐश आराम किया था, हाथी घोड़ों की सवारी की थी, जिसके सौन्दर्य की सब प्रशंसा करते थे, जिसकी आज्ञा में नौकर-चाकर सदा तैयार रहते थे, अब वह बूढा हो गया है, उसके गाल पिचक गये है, सौदर्य नष्ट हो गया है, अनेक रोग उसे घेरे हुए हैं। अब नौकर-चाकरों की तो बात ही क्या, घर के कुटुम्बी भी उसकी परवाह नही करते हैं, सोचते हैं कि यह बूढ़ा कब घर खाली करे, जिससे हमें छुटकारा मिले।

प्रत्येक व्यक्ति आंखों से देखता है कि फलां व्यक्ति जो धनी था, करोड़पति था, जिसका वैभव सर्वश्रेष्ठ था, जिसके घर में सोने चांदी की बात ही क्या, हीरे-पन्ने, जवाहरात के ढेर लगे हुए थे, दरिद्र हो गया है। जिसकी प्रतिष्ठा समाज में थी, जिसका समाज सब

प्रकार से आदर करता था, जिसके बिना पंचायत का काम नहीं होता था, अब वही धन न रहने से सबकी दृष्टि में गिर गया है। जो पहले उसके पीछे रहते थे, वे ही अब उससे घृणा करते है, उसकी कटु आलोचना करते हैं और उसे सबसे अभागा समझते है।

इस प्रकार नित्य जीवन, मरण, दरिद्रता, वृद्धावस्था, अपमान, घृणा, स्वार्थ, अहंकार आदि की लीला को देखकर भी मनुष्य को विरक्ति नही होती, इससे बड़ा और क्या आश्चर्य हो सकता है ?

हम दूसरे को बूढा देखते हैं, पर अपने सदा युवा बने रहने की अभिलाषा करते है, दूसरों को मरते देखते हैं, पर अपने सदा जीवित रहने की भावना करते है, दूसरों को आजीविका से च्युत होते देखते हैं, पर अपने सदा आजीविका प्राप्त होते रहने की अभिलाषा करते हैं। यह हमारी कितनी बड़ी भूल है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस भूल को समझ जाय तो फिर उसे कल्याण करते देरी न हो।

कितने आश्चर्य की बात है कि दूसरों पर विपत्ति आयी हुई देखकर भी हम अपने को सदा सुखी रहने की बात सोचते है। मोह मदिरा के कारण प्रत्येक जीव मतवाला हो रहा है, अपने को भूले हुए हैं जिससे औरों को बूढा होते हुए देख तथा मरते हुए देख कर भी बोध प्राप्त नहीं होता है। खाना, पीना, आनन्द करना, मिथ्या आशाएं बांध कर अपने को संतुष्ट करना, अपने वास्तविक कर्तव्य के सम्बन्ध में कुछ नही सोचना कितनी भयकर भूल है। प्रत्येक व्यक्ति को वैराग्य प्राप्त करने के लिए संसार और शरीर इन दोनों का यथार्थ चिन्तन करना चाहिए।

शरीर किराये के मकान के समान है—

पुलुव्रोडोळ्पलवु पगल्परदनिर्दा दायमं पेत्तु बा-
ळ्नेलेयुळ्ळोदेडेगेय्दुला नेलेयवनोंवंते पाळमेय्योळि- ॥
दोंलर्वि पुण्यमणीमनं गळ्सिकोंडा देवलोकक्के पो- ।
गलोडं नोवरयंगो नोव तवगो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

एक व्यक्ति एक छोटा सा मकान किराये पर लेता है। उस मकान में रहकर वह नाना प्रकार की सम्पत्ति का अर्जन करता है। कालान्तर में धनी होकर जब वह व्यक्ति किसी बड़े मकान में चला जाता है तब पहले मकान का मालिक किराया नही मिलने के कारण अप्रसन्न हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव इस शरीर को छोड़कर अन्य दिव्य शरीर को प्राप्त करता है, तब पहले शरीर से सम्बन्ध रखने वाले सम्बन्धी अपने स्वार्थ को खतरे में जानकर दुखी होते हैं।

कवि ने इस श्लोक में शरीर को किराये के घर के समान बतलाया है। जैसे किरायेदार कई वर्षों तक रह करके जब उस मकान को छोड़कर जाता है, उस समय बहुत दिन से रहते रहते घर से, मालिकों से अधिक ममता होने के कारण छोड़ने में अत्यन्त दुःख होता है, उसी प्रकार अनादि काल से शरीर रूपी घर में रहते हुए आयु के अवसान आ जाने पर जब जीव को यह छोड़ना पड़ता है तब उसे अत्यन्त दुःख होता है। इसी से यह जीव पुनः पुनः इस

शरीर को धारण करके इस शरीर के मोह के द्वारा संसार में अनादि काल से चक्कर काट रहा है। यह अज्ञानी जीव इस नाशवान शरीर को सारभूत मान करके उसके लिये अनेक कष्ट उठाता है, अनेक उपाय करता है और उसके अन्दर सारभूत को ढूँढ़ता है परन्तु यह शरीर क्षणिक है, आयु के आधीन है, इसमें सारभूत कोई भी चीज नही मिल पाती है। इस प्रकार पदार्थ को सार मानकर अनादि काल से दुखी हो रहा है।

विषापहार स्तोत्र में कहा है कि यह जीव—

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्
धर्माय पापानि समाचरंति।
तैलाय बाला: सिकतासमूहम्
निपीडयंति स्फुटमत्वदीया: ॥ १३ ॥

वहिर्दृष्टि जन मोह और अज्ञान के कारण अन्यथारूप प्रवृत्ति करते है। सुख के लिए दुःख का आचरण करते है। सद्गुणों के लिए अवगुण को धारण करते है। धर्म की प्राप्ति के लिए पाप का आचरण करते है। इस प्रकार बालू से तेल निकालने की इच्छा से जीव उसको पीसते है, किन्तु बालू से तेल नहीं निकलता। इसी प्रकार जीव शरीर, इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय विषय में अपने सुख को ढूंढते हैं। किन्तु वह सुख उन्हें मिलता नहीं है।

विशेषार्थ—कार्माण शरीर के कारण इस जीव को चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। आगम में इसे पंच परि-

वर्तन के नाम से कहा गया हैं। पंच परिवर्तन का ही नाम संसार है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पांच परिवर्तन के भेद हैं। द्रव्य परिवर्तन के नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्म द्रव्य परिवर्तन ये दो भेद हैं।

नोकर्म द्रव्य परिवर्तन—किसी जीव ने एक समय में तीन शरीर औदारिक, वैक्रियिक और आहारक तथा छः पर्याप्तियाँ आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के योग्य स्निग्ध वर्ण रस, गन्ध आदि गुणों से युक्त पुद्गल परमाणुओं को तीव्र, मन्द या मध्यम भावों से ग्रहण किया और दूसरे समय में छोड़ा। पश्चात् अनन्त बार अग्रहीत, ग्रहीत और मिश्र परमाणुओं को ग्रहण करता गया और छोड़ता गया। अनन्तर वही जीव उन्हीं स्निग्ध आदि गुणों से युक्त उन्ही तीव्र आदि भावों से उन्हीं पुद्गल परमाणुओं को औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर और छः पर्याप्ति रूप से ग्रहण करता है तब नौकर्म द्रव्य परिवर्तन होता है।

एक जीव ने एक समय में आठ कर्म रूप से किसी प्रकार के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण किया और एक समय अधिक अवधि प्रमाण काल के बाद उनकी निर्जरा कर दी। नोकर्म द्रव्य परिवर्तन के समान फिर वही जीव उन्हीं परमाणुओं को उन्हीं कर्म रूप से ग्रहण करे। इस प्रकार समस्त परमाणुओं को जब क्रमशः कर्म रूप से ग्रहण कर चुकता है तब एक कर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्म द्रव्य परिवर्तन समूह को द्रव्य परिवर्तन कहते हैं।

सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक सर्व जघन्य अवगाहना वाला जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके उत्पन्न हुआ और मरा। पश्चात् उसी अवगाहना से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश में जितने प्रदेश है, उतनी वार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः अपनी अवगाहना मे एक क्षेत्र बढ़ा कर सर्व लोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाने में जितना समय लगता है, उतने काल का नाम क्षेत्र परिवर्तन है।

कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हो, पुनः द्वितोय उत्सर्पिणी काल के द्वितीय समय में उत्पन्न हो। इसी क्रम से तृतीय. चतुर्थ आदि उत्सर्पिणी काल के तृतीय चतुर्थ आदि समयों में जन्म ले और इसी क्रम से मरण भी करे। अवसर्पिणी काल के समयों में भी उत्सर्पिणी काल की तरह वही जीव जन्म और मरण को प्राप्त हो तब काल परिवर्तन होता है।

नरक गति में कोई जीव जघन्य आयु दस हजार वर्ष की लेकर उत्पन्न हो, दस हजार वर्ष के जितने समय है उतनी वार प्रथम नरक में जघन्य आयु का वन्ध कर उत्पन्न हो। फिर वही जीव क्रम से एक समय अधिक आयु को बढ़ाते हुए तेतीस सागर आयु को नरक में पूर्ण करे तब नरक गति परिवर्तन होता है। तिर्यंच गति मे कोई जीव अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयु को लेकर अन्तर्मुहूर्त के जितने समय हैं उतनी वार उत्पन्न हो, इस प्रकार एक समय अधिक आयु का वन्ध करते हुए तीन पल्य की आयु पूर्ण करने पर तिर्यंच गति परिवर्तन होता है। मनुष्य गति परिवर्तन तिर्यंच

गति के समान और देवगति परिवर्तन नरक गति के समान होता है। परन्तु देवगति की आयु में एक समय की वृद्धि इकतीस सागर तक ही करनी चाहिए। क्योंकि मिथ्यादृष्टि अन्तिम ग्रैवेयक तक ही जाता है। इस प्रकार इन चारों गतियों के परिभ्रमण काल को भव परिवर्तन कहते हैं।

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के जो कि ज्ञानावरण कर्म की सर्व जघन्य अन्तःकोटाकोटि स्थिति को बांधता है, असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थान होते है। इनमें संख्यात भाग-वृद्धि, असख्यात भाग वृद्धि, सख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनन्तभाग वृद्धि, अनन्तगुण वृद्धि ये छः वृद्धियां भी होती रहती हैं, अन्तःकोटाकोटि की स्थिति में सर्वजघन्य कषायाध्यवसाय स्थान निमित्तक अनुभाग अध्यवसाय के स्थान असंख्यात लोक प्रमाण होते है। सर्वजघन्य स्थिति और सर्वजघन्य अनुभागाध्यवसाय के होने पर सर्वजघन्य योगस्थान होता है। पुनः वही स्थिति कषायाध्यवसाय स्थान और अनुभागाध्यवसाय स्थान के होने पर असंख्यात भाग वृद्धि सहित द्वितीय योगस्थान होता है। इस प्रकार श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते है। योग स्थानों में अनन्त-भागवृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि को छोड़ शेष चार प्रकार की ही द्धयाँ होती हैं।

पश्चात् उसी स्थिति और उसी कषायाध्यवसाय स्थान को प्राप्त करने वाले जोव के द्वितीय कषायाध्यवसाय स्थान होता है। इसके अनुभागाध्यवसाय स्थान और योगस्थान पूर्ववत् ही होते हैं।

इस प्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसाय स्थान होते हैं। इस तरह जघन्य आयु में एक एक समय की वृद्धि क्रम से तीस कोड़ाकोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को पूर्ण करे। इस प्रकार सभी कर्मों की मूल प्रकृतियों और उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कषाय, अनुभाग और योग स्थानों को पूर्ण करने पर एक भाव परिवर्तन होता है।

यह जीव अनादि काल से संसार मे इन पंच परिवर्तनों को करता चला आ रहा है। जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है, तभी इसे इन परिवर्तनों से छुटकारा मिलने की आशा है। मिथ्यात्व ही परिवर्तन का प्रधान कारण है, इसके दूर हुए बिना जीव का कल्याण त्रिकाल में भी नही हो सकता है। जब मनुष्य गति के मिलने पर जीव आत्मा अपनी ओर दृष्टिपात करता हैं, उसका चिन्तन करता है, उसके रूप में रमण करता है तो सद्बोध प्राप्त हो जाता है और जीव का मिथ्यात्व दूर हट जाता है।

त्याग के बिना मुक्ति नहीं

ध्यानक्किल्ल तपक्के सल्ल मरणंगाणंदु निम्मचर।
ध्यानक्कोल्लेने निप्पवं मडिये नोयल्तक्कदिदादिगळ्॥
दानं गेय्दु तपक्के पाय्दु मरणंगाणंदु निम्मचर-
ध्यानं गेय्दळिदंगे शोकिपरिदें! रत्नाकराधीश्वरा!॥१६॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

जिस व्यक्ति ने कभी दान नही किया, जिस व्यक्ति का कभी

तपस्या में मन नहीं लगा, जिस व्यक्ति ने मरने के समय प्रभु का ध्यान नहीं किया उस व्यक्ति के मर जाने पर, सम्बन्धियों को शोक करना सर्वथा उचित है, क्योंकि उस पापात्मा ने आत्म-कल्याण न करते हुए अपनी लीला समाप्त कर दी। दान-धर्म करके, तपश्चर्या में सदा आगे रह कर तथा अन्तिम समय में अक्षर का ध्यान करते हुए जिसने मृत्यु को प्राप्त किया उसके लिए कोई क्यों शोक प्रकट करेगा ? आत्म-कल्याण करता हुआ जो मृत्यु को प्राप्त होता है उस जीव के लिए शोक करना सर्वथा अयोग्य है।

यह प्राणी मोह के कारण, शरीर धन यौवन आदि को अपना मानता है, निरन्तर इनमें मग्न रहता है इसलिए दान, तप, इन्द्रिय-निग्रह आदि कल्याणकारी कामों को नहीं कर पाता है। विनाशी धन सम्पत्ति को शाश्वत समझता है, उसमें अपनत्व की कल्पना करता है, इसलिए दान देने में उसे कष्ट का अनुभव होता है। मोह के वशीभूत होने के कारण वह धन का त्याग-दान नही कर पाता है। पर सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि जल की तरगों के समान शरीर और धन चंचल है। जवानी थोड़े दिनों की है, धन मन के संकल्पों के समान क्षणस्थायी है, विषय भोग वर्षा काल में चमकने वाली बिजली की चमक से भी अधिक चंचल है, फिर इनमें ममत्व कैसा ?

जिस लक्ष्मी का मनुष्य गर्व करता है, जिसके अस्तित्व के कारण दूसरों को कुछ नहीं समझता तथा जिसकी प्राप्ति के लिए माता, पिता, भाई, बन्धुओं की हत्या तक कर डालता है वह लक्ष्मी आकाश में रहने वाले सुन्दर मेघ पटलों के समान देखते देखते

विलीन होने वाली है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कल जो धनी था, जिसकी सेवा में हजारों दास दासियाँ हाथ जोड़े आज्ञा की प्रतीक्षा में प्रस्तुत थे, जिसके दर्वाजे पर मोटर, हाथी, घोड़ों का समुदाय सदा विद्यमान रहता था, जिसका सम्मान बड़े बड़े अधिकारी, धर्म धुरन्धर, राजा-महाराजा करते थे, जो रूपवान्, गुणवान्, धर्मात्मा और विद्वान् माना जाता था, आज वही दरिद्री होकर दर-दर का भिखारी बन गया है, वही अब पापी, मूर्ख, अकुलीन, दुश्चरित्र, व्यसनी, दुर्गुणी माना जाता है। लोग उसके पास भी जाने से डरते हैं, उसकी खुल कर निन्दा करते हैं और नाना प्रकार से उसको बुरा भला कहते हैं।

श्रीमन्त और लक्ष्मी

संसार में कुछ लोग लक्ष्मी के स्वामी, कुछ लोग पुत्र और कुछ लोग सेवक होते हैं। जो लक्ष्मी के सेवक है वे लक्ष्मी की रक्षा कर सकते हैं, सुख भोग नहीं। जो पुत्र है वे लक्ष्मी का उपयोग अपने खाने-पीने और पहिनने मात्र में खर्च कर सकते हैं, सुकृत कार्यो में नहीं। जो लक्ष्मी के स्वामी हैं वे उसका अपने लिए सभी कामों में उपयोग कर सकते हैं। लेकिन जो लोग हीन-दीन-दुखियों के उपकार में और पारमार्थिक कार्यो में द्रव्य व्यय करके आशातीत यशलाभ प्राप्त करते हैं, उन्ही की लक्ष्मी सफल मानी जाती है। यह तो निर्विवाद सिद्ध हे कि पूर्वकृत पुण्योदय से लक्ष्मी मिलती है। उससे जो व्यक्ति सुकृत कार्य या परोपकार नही करते, उनकी लक्ष्मी

कुछ काम की नहीं है। नीतिकार महर्षियों ने लिखा है कि—

अर्थाः पादरजः समा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं,
आयुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम्।
दानं यो न ददाति निश्चलमतिर्भोगं न भुंक्ते च यः,
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते॥

धन पैरों की धूलि के समान है, जवानी पहाड़ी नदी के वेग के समान शीघ्रगामी है, आयु जल-बिन्दु के समान चंचल है और जीवन पानी के फेन-सदृश क्षणभंगुर है। ऐसी दशा में जो लक्ष्मी का सदुपयोग नहीं करते, न खाते और न ऐश आराम करते हैं, वे बुढ़ापे में पछता कर शोक-संताप की आग से जलते हैं। इसीलिए पूंजीपतियों को चाहिए कि केवल खान-पान और आराम के लोलुपी न बन कर प्राप्त लक्ष्मी से वैसे सुकृत कार्य करें जिनसे समाज, धर्म और जाति का अभ्युदय हो और निराधार आत्माओं को आश्वासन मिले। जो लोग लक्ष्मी के गुलाम होते है वे न तो उसे खा सकते हैं और न खर्च सकते है, ताजिन्दगी सेवा किया करते है। अगर भूलवश किसी आवेश में उसका उपयोग कर बैठते हैं तो उन्हें भारी दुखी होना पड़ता है।

किसी नगर में श्रीमन्त नामक एक धनी ब्राह्मण रहता था लेकिन वह बड़ा कंजूस था। वह स्वयं न अच्छा खाता था और अपने कुटुम्बियों को भी नहीं खाने देता था। सदा यही कहा करता था कि कम खाना, कम खर्च करना आदि। अधिक स्निग्ध भोजन से रोग

हो जाता है: शरीर मलमलिन और अपवित्र है उसके लिए सुन्दर वस्त्रों और तेल फुलेलों का व्यर्थ व्यय करना मूर्खता है। इन बातों से घर के सभी लोग दुखी हो गये।

ब्राह्मण की बहुत सी रकम एक साहूकार पर जमा थी, वह उसके गाँव में हिसाब करने को गया। परन्तु साहूकार ने उस ब्राह्मण की सारी रकम अपने खर्च में ला रखी थी। ब्राह्मण साहूकार के ठाठ-बाट देखकर जल गया और अपना पैसा वापिस मांगा। सेठ ने कहा—अभी तो आप आये है, स्नान पूजा पाठ तथा भोजनादि करके आप हिसाब करले। आप बहुत दिन में तो आये हैं, दो चार दिन ठहरिये, फिर हिसाब हो जायगा। ब्राह्मण विवश हो एक दिन ठहरा, संध्या के समय हवाखोरी और वार्तालाप के बाद सेठ के निज शयनागार में स्वर्णमय पलग पर जा कर सो गया, पर उसको चिन्ता के मारे निद्रा नहीं आई।

आधी रात को वहाँ लक्ष्मी आई। सेठ को न देखकर वह वापस जाने लगी। ब्राह्मण ने कहा–तू कौन है? लक्ष्मी बोली–मैं लक्ष्मी हूँ, सेठ की पगचंपी करने को आई थी पर सेठ यहाँ दीख नहीं पड़ता, इसलिए लौटकर जाती हूँ। ब्राह्मण बोला–मालूम होता है तू बड़ी नमकहराम है। सेठ तो तेरे को खूब खाता है, खर्चता है मै तेरी रक्षा करता हूँ तो भी मेरी पगचंपी न करके तू सेठ के पैर चांपती है। लक्ष्मी ने कहा–मैं सेठ की दासी हूँ, तू मेरा दास है। ब्राह्मण बोला–मालूम हो गया, तू खर्च करने पर ही प्रसन्न रहती है। इसलिए अब घर जाकर खूब खर्च करूँगा, और मौज-मजा

उड़ाऊँगा। लक्ष्मी ने कहा—तेरे भाग्य में खर्च करना नहीं लिखा, इतना कहने पर भी यदि तू मेरा मनमाना दुरुपयोग करेगा, पुत्रों के द्वारा खर्च करावेगा तो लोहे की संतप्त सीकों से डाम लगवा दिया जायेगा। ऐसा कहकर लक्ष्मी चली गई।

ब्राह्मण बिना हिसाब किये ही अपने घर आया और उसने तिजोरी में से अच्छे कपड़े, गहने निकाल कर स्त्रियों को पहनने का एवं स्वादिष्ट भोजन बनाकर लाने का आर्डर दिया और स्वयं मुट्ठी भर भर रुपया दान करने लगा। पिता के विचारों में एकदम परिवर्तन हुआ देखकर पुत्रों ने सोचा कि रास्ते में पिताजी को कोई भूत लग गया है। पुत्रों ने शीघ्र ही लोहे की सीके गरम करके पकड़ कर पिता के डाम लगा दिये। ब्राह्मण को लक्ष्मी का कथन याद आया और अपने अनधिकार के लिए पश्चात्ताप करके उसने कहा कि वत्सो! भूत निकल गया, लक्ष्मी को खर्च करना मेरे भाग्य में नहीं लिखा।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो लक्ष्मी के गुलाम और पुत्र हैं वे उसको मनमाना खर्च नहीं कर सकते और कभी खर्च करते हैं तो उनको उसका परिणाम बहुत बुरा भुगतना पड़ता है। इसलिए लक्ष्मी के गुलाम न बनो, किन्तु उसके मालिक बनने की कोशिश करो और कृपणता को छोड़ो। लक्ष्मी का भरोसा न रक्खो, वह आज है कल नहीं, देखते देखते चली जायेगी, कोई साथ लेकर नहीं गया और न जायेगा। जो कृपणता से लक्ष्मी का संचय मात्र करते हैं, उसे कभी न खाते और न कभी खर्चते है वे केवल पाप कर्म का

बोझा लेकर कूंच कर जाते हैं और लक्ष्मी का मजा दूसरे ही लूटते हैं। कहावत भी प्रचलित है कि—

'कीडी संचे तीतर खाय, पापी का धन पल्ले जाय।'

धन की सार्थकता दान में है, दान देने से मोह कम होता है। शास्त्रकारों ने धन की तीन स्थितियाँ बतलायी हैं-दान, भोग और नाश। धन की उत्तम अवस्था दान है, दान देने से ही धन की शोभा है। दान न देने से ही धन नष्ट होता है, दान से धन घटता नहीं प्रत्युत बढ़ता चला जाता है। जिस व्यक्ति ने आजीवन अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए धनार्जन किया है, वह व्यक्ति संसार का सबसे बड़ा पापी है। मरने पर ऐसे कंजूस व्यक्ति कीलाश को कुत्ते भी नहीं खाते हैं। केवल अपने स्वार्थ के लिए जीना और नाना अत्याचार और अन्यायों से धनार्जन करना निकृष्ट जीवन है, ऐसे व्यक्ति का जीवन-मरण कुत्ते के तुल्य है। यह व्यक्ति न तो अपने लिए कुछ कर पाता है और न समाज के लिए ही। वह अपने इस मनुष्य जन्म को ऐसे ही खो देता है। मनुष्य जन्म लेते समय खाली हाथ ही आता है और मरते समय भी खाली हाथ ही जाता है अतः इस धन में मोह क्यों?

दान करने के पश्चात् धन की द्वितीय स्थिति भोग है। जो धनार्जन करता है, उसे उस धन का सम्यक् प्रकार उपभोग भी करना चाहिए। धन का दुरुपयोग करना बुरा है, अपने कुटुम्ब तथा अन्य मित्र, स्नेही आदि के भरण-पोषण में उपयोग करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है। दान और भोग के पश्चात् यदि धन शेष

रहे तो व्यावहारिक उपयोग के लिए उसका संग्रह करना चाहिए। जिस धन का दान और उपभोग नही किया जाता है वह धन शीघ्र नष्ट हो जाता है । धनार्जन के लिए भी अहिंसक साधनों का ही प्रयोग करना चाहिए । चोरी, बेईमानी, ठगी, धूर्तता, अधिक मुनाफाखोरी आदि साधनों से धनार्जन कदापि नहीं करना चाहिए।

आजीविका अर्जन करने में गृहस्थ को दिन रात आरम्भ करना पड़ता है। अतः वह दान द्वारा अपने इस पाप को हल्का कर पुण्य बन्ध कर सकता है। दान चार प्रकार का है—आहार दान, औषध दान, अभय दान और ज्ञान दान। सुपात्र को भोजन देना या गरीब अनाथो को भोजन देना आहार दान है । रोगी व्यक्तियों की सेवा करना, उन्हें औषध देना तथा उनकी देखभाल करना औषध दान है। जीवों की रक्षा करना, निर्भय बनाना अभय दान है । सुपात्रों को ज्ञान दान देना, ज्ञान के साधन ग्रन्थ आदि भेंट करना ज्ञानदान है। यों तो इन चारों दानों का समान माहात्म्य है, पर ज्ञान दान का सबसे अधिक महत्व बताया गया है। प्रथम तीन दान शारीरिक बाधाओं का ही निराकरण करते हैं, पर ज्ञान दान आत्मा के निजी गुणों का विकास करता है, यह जीव को सदा के लिए अजर, अमर, क्षुधादि दोषों से रहित कर देता है। ज्ञान के द्वारा ही जीव सांसारिक विषय-वासनाओं को छोड़ त्याग, तपस्या और कल्याण के मार्ग का अनुसरण करता है।

दान के फल में विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता आती है। सुपात्र को खड़े होकर पड़गाहना—प्रतिग्रहण, उच्चासन देना,

चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मन शुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि ये नव विधि है। विधि में आदर और अनादर करना-विधि विशेष है। आदर से पुण्य और अनादर से पाप का बन्ध होता है। शुद्ध गेहूं, चावल, घृत आदि भक्ष्य पदार्थ द्रव्य हैं। पात्र के तप, स्वाध्याय, ध्यान की वृद्धि के लिए साधनभूत द्रव्य पुण्य का कारण है तथा जिस द्रव्य से पात्र के तप, स्वाध्याय की वृद्धि न हो वह द्रव्य विशिष्ट पुण्य का कारण नहीं होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शुद्धाचरण करने वाले दाता कहलाते हैं। श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलोभता, क्षमा और शक्ति ये दाता के सात गुण है। पात्र में अश्रद्धा न होना, दान में विषाद न करना, फल प्राप्ति की कामना न होना दाता की विशेषता है।

पात्र तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। महाव्रत के धारी मुनि उत्तम पात्र है, व्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं और सम्यग्दृष्टि अविरत श्रावक जघन्य पात्र है। योग्य पात्र को विधिपूर्वक दिया गया दान वट बीज के समान अनेक जन्म-जन्मान्तरों में महान् फल को देता है। जैसे भूमि की विशेषता के कारण वृक्षो के फलों में विशेषता देखी जाती है, उसी प्रकार पात्र की विशेषता से दान के फल में विशेषता हो जाती है। प्रत्येक श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार के दानों को देना चाहिए।

शक्ति अनुसार प्रति दिन तप भी करना चाहिए। फल की अपेक्षा न कर संयम वृद्धि के लिए, राग नाश के लिए तथा कर्मों के क्षय के लिए अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त-

शय्यासन,कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इन बारह तपों को करना चाहिए। इच्छाएं ही संसार की विषय-तृष्णा को बढ़ानेवाली हैं, अतः इच्छाओं का दमन करना, इन्द्रिय निग्रह करना, आध्यात्मिक विकास के लिए परमावश्यक है। प्रभु-शुद्धात्मा के गुणों का चिन्तन, स्मरण भी प्रति दिन करना आवश्यक है। क्योंकि प्रभु-चिन्तवन से जीव के परिणामों में विशुद्धि आती है तथा स्वयं अपने विकारों को दूर कर प्रभु बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। जो व्यक्ति धर्मध्यानपूर्वक अपना शरीर छोड़ता है, उसके लिए किसी को भी शोक करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस काम के लिए उसने शरीर ग्रहण किया है, उसका वह काम पूरा हो गया।

मृत्यु से डरना क्यों ?

साविगंजलदेके सावुपेरते मेयद्दाळिदा दर्गंजल
सावें माणगुमे कावरुंटेयकटा ! ई जीवनेनंदुवं ।
सावं कंडवनल्लवे मरणवागल्मुंदे पुट्टने
नीवेनोळिनले सावदु सुखवले ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मृत्यु से क्यों डरा जाय ? शरीरधारियों से मृत्यु क्या अलग रहती है ? मृत्यु डरने वालों को छोड़ भी तो नहीं सकती। क्या मृत्यु से कोई बचा सकता है ? क्या इस जीव ने मृत्यु को कभी प्राप्त नहीं किया ? मरने के बाद क्या पुनर्जन्म नहीं होगा ?

मरण पाँच प्रकार का बताया गया है—पंडित-पंडित मरण,- पंडित मरण, बाल पंडित मरण, बाल मरण और बाल-बाल मरण। जिस मरण के होने पर फिर जन्म न लेना पड़े, वह पंडित-पंडित मरण कहलाता है। यह केवली भगवान या चरम शरीरियों के होता है। जिस मरण के होने पर दो तीन भव में मोक्ष की प्राप्ति हो जाय उसे पंडित मरण कहते हैं, यह मरण मुनियों के होता है। देश-संयम पूर्वक मरण करने को बाल पंडित मरण कहते हैं, इस मरण के होने पर सोलहवें स्वर्ग तक की प्राप्ति होती है। व्रत रहित सम्यग्दर्शन पूर्वक जो मरण होता है, उसे बाल मरण कहते हैं, इस मरण से भी स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है। मिथ्यादर्शन सहित जो मरण होता है उसे बाल-बाल मरण कहते है, यह चतुर्गति में भ्रमण करने का कारण है।

मरण का जैनसाहित्य में बड़ा भारी महत्व बताया गया है। यदि मरण सुधर गया तो सभी कुछ सुधर जाता है। मरण को सुधारने के लिए ही जीवन भर व्रत, उपवास कर आत्मा को शुद्ध किया जाता है। यदि मरण बिगड़ गया तो जीवन भर की कमाई नष्ट हो जाती है। कषाय और शरीर को कृश कर आत्म शुद्धि करना तथा धन, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र आदि से मोह छोड़ कर अपनी आत्मा के स्वरूप में रमण करते हुए शरीर का त्याग करना समाधिमरण कहलाता है। यह वीरतापूर्वक मृत्यु से लड़ना है। यह अहिंसा का वास्तविक स्वरूप है। साधक जब अपनी मृत्यु को निकट आई हुई समझ लेता है तो वह संसार, शरीर और भोगों से

विरक्त होकर भोजन का त्याग कर देता है, वह संसार के सभी पदार्थों से अपनी तृष्णा, लोलुपता और मोह ममता को छोड़कर आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्त होता है। अभिप्राय यह है कि अपनी आत्मा से पर पदार्थों को भले प्रकार त्यागना संन्यास-मरण है।

इस सल्लेखना या समाधिमरण में आत्म-घात का दोष नहीं आता है, क्योंकि कषाय के आवेश में आकर अपने को मारना आत्म-घात है। यह शरीर धर्म साधन के लिए है, जब तक इससे यह कार्य सम्पन्न हो सके तब तक योग्य आहार विहार आदि के द्वारा इसे स्वस्थ रखना चाहिए। जब कोई ऐसा रोग हो जाय जिससे उपचार करने पर भी इस शरीर की रक्षा न हो सके तो समाधिमरण ग्रहण कर लेना चाहिए। किसी असाध्य रोग के हो जाने पर इस शरीर को धर्म साधन में बाधक समझ कर उपकारी नौकर के समान ममत्व रहित हो कर सावधानी से छोड़ना चाहिए। यह शरीर तो नष्ट होने पर फिर भी मिल जायगा, पर धर्म नष्ट होने पर कभी नहीं मिलेगा। अतः रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए शरीर से मोह छोड़कर समाधि ग्रहण करनी चाहिए।

मरना तो ससार में निश्चित है, किन्तु बुद्धिमानी पूर्वक सावधान रहते हुए मरना कठिन है। कषायवश विष खा लेना, अग्नि में जल जाना, रेल के नीचे कट जाना, नदी में डूब जाना, आदि कार्य निंद्य हैं, ऐसे कार्यो से मरने पर आत्मा की भलाई नहीं होती है। जो ज्ञानी पुरुष मरण के सन्मुख होते हुए निष्कषाय-भावपूर्वक शरीर का त्याग करते है, उनका ज्ञानपूर्वक मन्द कषाय सहित मरण होने

से वह मरण मोक्ष का कारण होता है।

समाधिमरण दो प्रकार से होता है—सविचार पूर्वक और अविचार पूर्वक। जब शरीर जर्जरित हो जाय, बुढ़ापा आ जाय, दृष्टि मन्द हो जाय, पांव से चला न जाय, असाध्य रोग हो जाय या मरण काल निकट आ जाय तो शरीर और कषायों को कृश करते हुए अन्त में चार प्रकार के आहार का त्याग कर धर्म ध्यान सहित मरण करना सविचार समाधिमरण है। इस समाधिमरण का उपयोग प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। वृद्धावस्था तक संसार के सभी भोगों को भोग लेता है, सांसारिक इन्द्रिय-जन्य सुखों का आस्वादन भी कर लेता है तथा शक्ति अनुसार धर्म भी करता रहता है। जब शरीर असमर्थ हो जाय जिससे धर्मसाधन न हो सके तो शान्त भाव से विकारों और चारों प्रकार के आहारों को त्याग कर मरण करे। मरते समय शान्त, अविचल और निर्लिप्त रहने की बड़ी भारी आवश्यकता है। मन में किसी भी प्रकार की वासना नहीं रहनी चाहिए, वासना रह जाने से जीव का मरण ठीक नहीं होता है।

अचानक मृत्यु आ जाय जैसे ट्रेन के उलट जाने पर, घर में आग लग जाने पर,मोटर दुर्घटना हो जाने पर,सांप के काट लेने पर ऐसा संयोग आ जाय जिससे शरीर के स्वस्थ होने का कोई भी उपचार न किया जा सके तो शरीर को तेल रहित दीपक के समान स्वयं ही विनाश के सन्मुख आया जान संन्यास धारण करे। चार प्रकार के आहार का त्याग कर पंच परमेष्ठी के स्वरूप तथा आत्म

ध्यान में लीन हो जाय । यदि मरण में किसी प्रकार का सन्देह दिखलायी पड़े तो ऐसा नियम कर ले कि इस उपसर्ग से मृत्यु हो जाय तो मेरे आत्मा के सिवाय समस्त पदार्थों से ममत्व भाव का त्याग है, यदि इस उपसर्ग से बच गया तो पूर्ववत् आहार-पान परिग्रह आदि ग्रहण करूंगा । इस प्रकार नियम कर शरीर से ममत्व छोड़, शान्त परिणामों के साथ किसी भी प्रकार की वांछा से रहित होकर शरीर का त्याग करना चाहिए ।

समाधिमरण के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी ख्याल रखना चाहिए । जब समाधिमरण ग्रहण करे उस समय मित्र, कुटुम्बी और अन्य रिश्तेदारों को बुलवाकर उनसे क्षमा याचना करनी चाहिए तथा स्वयं भी सबको क्षमा कर देना चाहिये स्त्री, पुत्र, माता, पिता आदि के स्नेहमयी सम्बन्धों को त्याग कर रुपये, धन, दौलत, गाय, भैंस, दास आदि से मोह दूर करना चाहिये । यदि कुटुम्बी मोहवश कातर हों तो साधक को उन्हे स्वयं उपदेश देकर समझाना चाहिए । संसार की अस्थिरता, वास्तविकता और खोखलापन बताकर उनके मोह को दूर करना चाहिए । उनसे साधक को कहना चाहिए कि यह आत्मा अमर है, यह कभी नहीं मरता है, इसका पर पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं, यह नाशवान् शरीर इसका नहीं है । यह आत्मा न स्त्री होता है न पुरुष, न नपुंसक और न गाय होता है, न बैल । इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता । यह तो सब पौद्गलिक कर्मों का नाटक हैं, उन्हीं की माया है । मेरा आप लोगों के साथ इतना ही सयोग था सो पूरा हुआ । ये

संयोग वियोग तो अनादिकाल से चले आ रहे हैं। स्त्री, पुत्र, भाई का रिश्ता मोहवश पर निमित्तक है, मोह के दूर होते ही इस संसार की निस्सारता स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। अब मुझे कल्याण के लिए अवसर मिल रहा है, अतः आप लोग शान्ति पूर्वक मुझे कल्याण करने दें। मृत्यु के पंजे से कोई भी नहीं बच सकता है, आयु कर्म के समाप्त हो जाने पर कोई इस जीव को एक क्षण भी नहीं रख सकता है, अतः अब आप लोग मुझे क्षमा करें, मेरे अपराधों को भूल जायें। मैंने इस जीवन में बड़े पाप किये हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि से अभिभूत होकर अपनी और पर की नाना प्रकार से विराधना की है।

समाधिमरण करनेवाले को शरीर से ममत्व घटाने के लिए क्रमशः पहले आहार का त्याग कर दुग्ध पान करना चाहिए। पश्चात् दूध का भी त्याग कर छाछ का अभ्यास करे। कुछ समय पश्चात् छाछ को छोड़कर गर्म जल को पीकर रहे। जब आयु दो–चार पहर शेष रह जाय तो शक्ति के अनुसार जलादि का भी त्याग कर उपवास करे। योग्यता और आवश्यकता के अनुसार ओढने पहनने के वस्त्रों को छोड़ शेष सभी वस्त्रों का त्याग कर दे। यदि शक्ति हो तो सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर मुनिव्रत धारण करे। जब तक शरीर में शक्ति रहे, तृण के आसन पर पद्मासन लगाकर बैठ आत्म स्वरूप का चिन्तन करता रहे। जितने समय तक ध्यान में लीन रह सके रहे। कुछ समय तक बारह भावनाओं के स्वरूप का चिन्तन करे, संसार के स्वार्थ, मोह, संघर्ष आदि का स्वरूप विचारे।

बैठने की शक्ति न रहने पर लेट जाय और मन, वचन, काय को स्थिर कर समाधिमरण में दृढ़ करने वाले श्लोकों का पाठ करे तथा अन्य लोगों के द्वारा पाठ किये गये श्लोकों को मन लगाकर सुने। जब बिल्कुल शक्ति घट जाये तो केवल णमोकार मंत्र का जाप करता हुआ पंच परमेष्ठी के गुणों का चिंतन करे।

समाधिमरण में आसन, संयम के साधन उपकरण, आलोचना, अन्न और वैयावृत्य सम्बन्धी पाँच बहिरंग शुद्धियों को तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, विनय और सामायिकादि षट् आवश्यक सम्बंधी पाँच अंतरंग शुद्धियों को पालना आवश्यक है। समाधिमरण करने वाले के पास कोई भी व्यक्ति सांसारिक चर्चा न करे। साधक को समाधि में दृढ़ करने वाली वैराग्यमयी चर्चा ही करनी चाहिए। उसके पास रोना, गाना, कोलाहल करना आदि का पूर्ण त्याग कर देना आवश्यक है। ऐसी कथाएँ भी साधक को सुनानी चाहिए जिन के सुनने से उसके मन में समाधिमरण के प्रति उत्साह, स्थिरता और आदर भाव पैदा हों। समाधिमरण धारण करने वाले को दोष उत्पन्न करने वाली पाँच बातों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए—

१. जीवित-आशंसा—मोह बुद्धि के कारण ऐसी बांछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊँ तो ठीक है, कुछ काल तक संसार के सुखों को और भोग सकूं। धन, जन आदि से परिणामों में आसक्ति रखना, उन पर ममता करना, जिससे जीवित रहने की लालसा जागृत हो।

२. मरण आशंसा—रोग के कष्टों से घबड़ा कर जल्दी मरने की अभिलाषा करना। वेदना, जो कि परजन्य है, कर्मों से उत्पन्न है, आत्मा के साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं अपनी समझ कर घबड़ा जाना और जल्दी मरने की भावना करना।

३ मित्रानुराग—मित्र, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, हितैषी तथा अन्य रिश्तेदारों की प्रीति का स्मरण करना, उनके प्रति मोह बुद्धि उत्पन्न करना।

४. सुखानुबन्ध—पहले भोगे हुए सुखों का बार बार चिन्तन।

५. निदान बन्ध—पर-भव मे सांसारिक विषय भोगों की, धन्य-धान्य वैभव की वाँछा करना।

इस प्रकार इन पांच दोषों को दूर कर समाधि ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार मरण को सफल बनाने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। यह मनुष्य जीवन बार बार नही मिलता है, इसे प्राप्त कर रत्नत्रय स्वरूप की उपलब्धि करनी चाहिए। मोह ममता के कारण यह जीव संसार के मोहक पदार्थों से प्रेम करता है, वस्तुतः इसका इनसे तनिक भी सम्बन्ध नही है। इस शरीर की सार्थकता समाधिमरण धारण करने मे ही है, यदि अन्त भला हो गया तो सब कुछ भला हो ही जाता है। अतः प्रत्येक संसारी जीव को समाधिमरण द्वारा अपने नरभव को सफल कर लेना चाहिए।

वलयतो महिपाधिपवाहनो गुरुर्निलिंपपतीनपहंति यः।
अपरमानववर्गविमर्दने भवति तस्य कदाचन न श्रमः॥

जो बड़े बलवान भैंसों की सवारी करने वाला ऐसा यमराज देवों के स्वामी का नाश कर देता है, उस काल को दूसरे मानवों के गर्व को खण्डन करने में कभी महनत नहीं करनी पड़ती है।

इस श्लोक में यह बताया गया है कि मरण किसी को भी छोड़ता नहीं है। बड़े २ बलवान देवों के स्वामियों को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है तब अल्पायुधारी मानव व पशुओं की तो बात ही क्या है। तात्पर्य यह है कि अपना मरण अवश्य एक दिन आने वाला है ऐसा समझ कर आत्म-हित के साधन में रंचमात्र भी प्रमाद करने की जरूरत नहीं है। मरण से कोई बच नहीं सकता, ऐसा अमित-गति महाराज ने सुभाषितरत्न संदोह में कहा है—

> ये लोकेशशिरोमणिद्युतिजलप्रक्षालिताङ्घ्रिद्वया।
> लोकालोकविलोकिकेवलसत्साम्राज्यलक्ष्मीधराः॥
> प्रक्षीणायुषि यान्ति तीर्थपतयस्तेऽप्यस्तदेहास्पदं।
> तत्रान्यस्य कथं भवेद् भवभृतःक्षीणायुषो जीवितम्॥३००

जिन तीर्थंकरों के चरणों को इन्द्र चक्रवर्ती आदि लोक शिरो-मणि पुरुष अपनी कान्ति रूपी जल से धोते हैं, जो लोक अलोक को देखने वाले हैं, ऐसे केवलज्ञान रूपी राजलक्ष्मी के धारी हैं, ऐसे तीर्थंकर भी आयु कर्म के समाप्त होने पर इस शरीर को छोड़ कर मोक्ष को चले जाते है तो फिर अन्य अल्पायुधारी मानवों के जीवन का क्या भरोसा ?

मनुष्य जन्म की सार्थकता

आणं माणव जन्ममं पडेद मेय्योळनिच्चलु पंचक-
ल्याणं पंचगुरुस्तवं परमशास्त्रं मोक्षसंधानचि ।
त्राणं चित्तिन रत्न मूरिवन ळंपिंचितनं गेय्वने—
जाणं मत्तिन चिंत कर्म्मरुळ्रै ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

गर्भावतरण, जन्माभिषेक, परिनिष्क्रमण, केवल और निर्वाण-ये पांच कल्याणक, अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व-साधु—इन पंच परमेष्ठियों के स्तोत्र, श्रेष्ठ शास्त्र, मोक्ष देने वाले आत्म-स्वरूप का रक्षण आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन रत्न सभी मनुष्यों के शरीर में सदा विद्यमान रहने योग्य प्राण हैं। जो मनुष्य प्रेम पूर्वक इन प्राणों का चिन्तन करता है वह चतुर है। इसके विपरीत, अन्य वस्तुओं के चिन्तन करने वाले मूर्ख माने जा सकते हैं।

कवि ने इस श्लोक में मानव जन्म की सार्थकता बतलायी है। इस मनुष्य पर्याय में परमात्मा होने योग्य आत्मा हमेशा से इस शरीर के अन्दर लुप्त हो कर रहने के समान इसके अधीन पड़ा हुआ था। इस मानव शरीर में मन वचन काय से जिस तीर्थंकर ने आत्म-शुद्धि के द्वारा पंच कल्याणकों को प्राप्त करने योग्य भावना को भाया था उसी भावना की वजह से पच-कल्याणक को प्राप्त करने योग्य तीर्थंकर का पद पाया। उसी तीर्थंकर पद से अनादि

काल से आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष की प्राप्ति कर ली । इस तरह से मानव भी ऐसा उत्कृष्ट मानव पर्याय अर्थात् उत्तम कुल मे जो उत्कृष्ट पर्याय लेकर आया है उस पर्याय के द्वारा मनुष्य को पंचगुरु स्तवन अर्थात् पंच परमेष्ठियों की स्तुति, उन पंच परमेष्ठियों के द्वारा कही गई वाणी के द्वारा निकले हुए शास्त्र का मनन और मोक्ष साधन के लिए उसका चिन्तन करे । सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रत्नत्रय रूपी आत्मा का विचार करने से लगी हुई कर्म रूपी रज नष्ट होकर उत्कृष्ट परम पद को प्राप्त हो सकता है। मानव जन्म एक चिन्तामणि रत्न के समान है। जो मानव प्राणी मनुष्य का मोल नही समझता है, समझना चाहिए कि किसी पागल के हाथ मे चिन्तामणि रत्न पड़ जाय और वह किसी चिड़िया को उड़ाने के लिए अज्ञानवश फेंक दे तो वह बाद में पश्चात्ताप करता है। उसी प्रकार मानव जन्म चिन्तामणि रत्न के समान है। अगर यह मनुष्य इसका महत्व नही समझे तो उसको पशु के समान अज्ञानी समझना चाहिए। इसलिए कहा है कि मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। उदाहरणार्थ–

संसार में जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न, अखण्ड साम्राज्य, स्वाधीन समृद्धियाँ और वांछित सुखोपभोग बिना भाग्य के नहीं मिलते, उसी प्रकार 'मणुअत्तं बहुविहभवभमणसएहिं कहमवि लद्धं' अनेक भवों के संचित महान् पुण्योदय के बिना मनुष्य जन्म भी नहीं मिल सकता। चौरासी लाख जीव योनि है, उनमें मनुष्य भव सबसे अधिक महत्व और श्रेष्ठता रखता है। विश्वत्राता प्रभु श्री महावीर

स्वामी ने स्पष्ट फरमाया है कि क्षुल्लक, पाशक आदि दश दृष्टान्त किसी तरह सिद्ध किये जा सकते हैं, परन्तु विषय-पिपासा की आशा मे जो उपलब्ध मनुष्य जन्म को खो दिया, तो वह फिर लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलता।

किसी नगर का कोई महाजन, जो रत्नों की परीक्षा करने में बड़ा दक्ष था, उसने इक्कीस दिन तक निराहार रहकर रत्नद्वीप की आशापूरी देवी से चिन्तामणिरत्न प्राप्त किया। वहाँ से वह सागर मार्ग से जहाज में अपने घर की तरफ रवाना हुआ। रात्रि के समय आकाश मे पूर्णिमा का चन्द्रमा उगा। उसकी तेजस्वी किरणें जल तरंगो में मिल कर अपूर्व शोभा दिखाने लगी। महाजन ने यह सोच कर कि चिन्तामणि का तेज अधिक है या चन्द्र-किरणों का, रत्न को हथेली पर रख किरणों से उसके तेज का मिलान आरम्भ किया। वायु से जहाज ऊंचा नीचा हुआ, उसकी टक्कर लगने से रत्न समुद्र में गिर पड़ा। उसकी प्राप्ति के लिए महाजन ने फिर शक्ति भर उद्योग किया, किन्तु उसे वह किसी तरह नहीं मिल सका।

इसी तरह अनेक भवो के संचित पुण्य से प्राप्त मनुष्य जन्म को जो लोग धनलुब्धता, भोग-विलास, खान-पान की पिपासा और विषय लोलुपता में पड़कर खो बैठते हैं उन्हें फिर वह मिलना कठिन है। इसलिए विषयाशाओं को छोड़ कर जिनेन्द्र-पूजा, गुरु-सेवा, जीव मात्र की रक्षा, जिनागम का श्रवण, गुणानुराग, सुपात्र दान, परोपकार आदि सुकृत कार्यों से मनुष्य जन्म को सफल बना लेना चाहिए। अगर यह सुअवसर हाथ से चला गया तो फिर प्रयत्न

करने पर भी नहीं मिलेगा। देव, नरक, तिर्यंच और मनुष्य संसार में ये चार गतियाँ हैं, जीव मात्र का समावेश इन्हीं गतियों में है।

देवा विसय-पसत्ता, नारया विविहदुक्खसंपन्ना।
तिरिया विवेगविकला, मणुआणं धम्मसामग्गी ॥१॥

देवों को प्रशस्त और मनोनुकूल इतनी भोगसामग्री मिली है कि जिसमें निमग्न रहने से उनको अपने गत समय का भी पता नहीं लगता। नारकी जीवों को इतनी भयंकर दुःख यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं कि जिनसे उनको क्षण भर के लिए भी छुटकारा नहीं मिलता और तिर्यंच (पशु) विवेक शून्य होने से प्रायः धर्म करने योग्य नहीं है। इनमें एक मनुष्य गति ही ऐसी है जिसे सर्व प्रकार की धर्म सामग्री सुलभ है। इसीसे मनुष्य अनन्त शक्तियों का भण्डार माना गया है। वह जैसा बनना चाहता है वैसा बन जाता है। दुनियाँ में ऐसी कोई वस्तु और ऐसा कोई स्थान नहीं जिसका वह स्वामी या अधिकारी न बन सकता हो। कहने का मतलब है कि मनुष्य जीवन मिलना बड़ा कठिन है। संसार में चिन्तामणि आदि वैभव मिल सकते हैं, किन्तु मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिल सकता।

आहार (भोजन), निद्रा (नींद लेना), भय (डरना) और मैथुन (स्त्री भोग करना) ये चार बातें मनुष्यों और पशुओं में समान ही हैं, परन्तु मनुष्य में विशेषता यही है कि वह विवेक बल (मनुष्यता)

से सार-असार, हित-अहित और सत्य-असत्य वस्तुओं को भले प्रकार पहचान सकता है और उनको कार्य रूप में परिणत कर सकता है। जिस मनुष्य में यह मनुष्यता नहीं है वह पशुओं से भी गया गुजरा है। यदि मनुष्य-शरीर के विषय में विचार किया जाय तो उसके शरीर में कोई भी अवयव ऐसे नहीं हैं जो उसके मरने के बाद काम में आ सकते हों। पशुओं का शरीर मरने के बाद भी काम आता है, उसके शरीर का कोई भी अंश निकम्मा (बेकार) नहीं है। मनुष्य-देह से प्राण निकला कि शीघ्र ही उसे घर से बाहर निकाल देने का प्रयत्न किया जाता है और उसे जला कर खाक बना दिया जाता है। जीवित अवस्था में जिन कुटुम्बियों का उस पर अटूट प्रेम था, मृत्यु के बाद वे ही उसके कलेवर (शव) को जला या दफना कर सानन्द अपने दिन विताने लगते हैं। सोचो! मृत्यु के पश्चात् मानव देह की उपयोगिता और उसके साथ कुटुम्बियों की रिश्तेदारी किस प्रकार की है? यह भी एक नियम है कि चाहे अमीर हो चाहे गरीब, चाहे छत्रपति हो चाहे रंकपति, चाहे बलवान हो चाहे निर्बल और चाहे पूज्य हो चाहे अपूज्य, पर एक दिन सभी को मरना है और अपने किए हुए शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना है। वह चाहे यहाँ भुगतना पड़े, या भवान्तर में। कहा भी है कि—

एक दिन मरना हक्क है, चलना पांव पसार।
फिर चौरासी योनि में, जन्म मरण बहु बार॥

जन्म मरण बहु वार, पशु पंछी तन धरना।
नर तन रतन बिगार, क्यों सो पावे अपना ॥
रामचरण प्रभु भजन बिन, फिर जन्मे संसार।
एक दिन मरना हक्क है, चलना पांव पसार ॥

अतः उसी मनुष्य का मरना धन्यवाद के लायक है जो प्रमादों को छोड़ कर तप जप, नियम, परोपकार आदि सद्गुणों से अपने जीवन को बिताता है और ऐसे व्यक्ति ही वास्तविक मनुष्यता को प्राप्त करके स्व-पर का कल्याण करने में समर्थ होते है। यों तो ससार मे अनेक मनुष्य प्रतिदिन मरते और जन्मते रहते है, लेकिन मनुष्यता के विना उनका जीना मरना सराहनीय नही माना जाता। आचरण विशेष से मनुष्य की चार प्रवृत्तियाँ होती है—

(१) कतिपय मनुष्य परोपकार के लिए अपने तन, धन और सुख वैभव को भी कोई चीज नहीं समझते। दूसरों का हित हो, सभी का जीवन सुखमय बने और हमारे जीवन से सबको लाभ हो, उनका यही ध्येय रहता है। और वे परमार्थ को स्वार्थ मानतेहैं।

(२) कतिपय मनुष्य अपनी स्वार्थ-साधना के लिए दूसरों का अहित नही होने देते। उनकी प्रवृत्ति किसी को किसी तरह की तकलीफ न पहुँचाकर अपनी स्वार्थ साधना को सिद्ध करने वाली होती है।

(३) कतिपय मनुष्य दूसरों का चाहे हित हो, चाहे अहित

इसकी तनिक भी विचारणा न करके केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति करना ठीक समझते है । किसी को तकलीफ हो उसे नुकसान हो, इस पर कुछ भी लक्ष्य नहीं रखते, बल्कि उनकी प्रवृत्ति अपना कार्य बना लेने की रहती है।

(४) कतिपय मनुष्य अपनी स्वार्थ साधना करने में भी पीछे रहते हैं और दूसरों को विपद में डालना जानते है, वे न अपना भला कर सकते हैं, न दूसरों का। इनकी समस्त क्रियाए विनाशमूलक होती हैं।

इनमें प्रथम कोटि के मनुष्य उत्तम, द्वितीय कोटि के मध्यम, तृतीय कोटि के अधम और चौथी कोटि के राक्षस कहाते है। नीतिकारों ने प्रथम को सत्पुरुष, द्वितीय को सामान्य तृतीय को राक्षस और चौथे के लिए लिखा है कि "निघ्नंति परहितं निरर्थकं ते के न जानीमहे" जो अकारण दूसरों के हित का नाश करते है उनको कस कोटि में गिनना, यह हम नहीं जानते।

मनुष्य को प्रत्येक व्यवहार में प्रति समय अपनी उत्तमता को नही छोड़ना चाहिए। जिस पुरुष की कल्पनाएं आदर्श को लिए हुए होती है वह अपने कार्य में बडी आसानी से सफल हो जाता है। पशुओं में भी उत्तम, मध्यम, अधम और राक्षस ये चार प्रवृत्तियाँ विद्यमान है, किंतु पशुता और मनुष्यता में बड़ा भारी अन्तर है। मनुष्यता मानापमान, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति और शत्रु-मित्र को समान समझ कर साम्यवाद और अभेदभाव रखना सिखलाती है।

इस प्रकार जिस मनुष्य में मनुष्यता है उसमें सब कुछ है। उसको प्राप्त करने के लिए मानसिक भावों को शुद्ध रखने की परमावश्यकता है। जब तक भाव की शुद्धि नहीं है तब तक धर्माचरण का वास्तविक फल नहीं मिलता, मनुष्य शुद्ध भावों द्वारा ही समस्त विद्याएं सीख सकता है। भावशुद्धि के प्रभाव से ही स्व पर को आदर्श बनाने में समर्थ हो सकता है। जब एक निष्ठा के भावों की जागृति होती है तब समस्त साधन और सामग्री एकत्रित होकर सारी व्यवस्था उचित ढंग से हो जाती है। इसलिए जो कुछ कहा जाय या कार्य करने का निश्चय किया जाय वह शुद्ध-भाव और दृढता से किया जाय तभी उसका परिणाम अच्छा निकलेगा। हार्दिक भावनाओं या दृढ़ संकल्प में थोड़ा भी कालापन आया, बस, उसी के अनुसार ऊंच-नीचपन आये बिना नहीं रहता। कुछ मनुष्य बातें तो लम्बी चौड़ी करते हैं, किन्तु कार्य करके दिखाने की सामर्थ्य बिल्कुल नहीं रखते।

जिसने मानव पर्याय पाया है अगर मानव पर्याय का महत्व उसको मालूम न हो तो वह पशु के समान है। आत्मिक सुख शान्ति को प्राप्त करा देने वाले इस मनुष्य पर्याय में परमात्म स्वरूप आत्मा अनादि काल से पड़ा हुआ है। जो मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा मनुष्य पर्याय का आत्म साधन के लिए उपयोग कर लेता है, या उपयोग करने की बुद्धि प्राप्त कर लेता है, उस मनुष्य पर्याय को सार्थक समझना चाहिए। इस मनुष्य पर्याय में संसार का अन्त करने की बुद्धि धारण करने वाला आत्मा इस शरीर को लेकर आया है।

वह बुद्धिमान मानव अपने विशुद्ध उपयोग के द्वारा हमेशा यह बिचार करता है कि—

आत्मा चेतन है. और संसार के सभी पदार्थ अचेतन। चेतन आत्मा का अचेतन कर्मो के साथ सम्बन्ध होने से यह संसार चल रहा है। इस शरीर में दस प्राण बताये गये हैं–पाँच इन्द्रियाँ–स्पर्शन रसना. घ्राण. चक्षु और श्रोत्र तीन बल–मनोबल, वचन बल और काय बल आयु एवं श्वासोच्छवास। मूलतः प्राण दो प्रकार के हैं— द्रव्यप्राण और भावप्राण। द्रव्यप्राण उपर्युक्त दस हैं. भावप्राण में आत्मा की विभाव परिणति से उत्पन्न पर्यायें हैं। जो व्यक्ति इन प्राणों के सम्बन्ध में न विचार कर पंच परमेष्ठीके गुणों का स्तवन, आत्म-स्वरूप चिन्तन, रत्नत्रय के सम्बन्ध में विचार करता है, वह अपने स्वरूप को पहचान सकता है।

भगवान के गुणों के स्मरण से आत्मा की पूत भावनाएं उद्‌बुद्ध हो जाती हैं। छुपी हुई प्रवृत्तियां जाग्रत हो जाती हैं तथा पर पदार्थों से मोह बुद्धि कम होती है। तीर्थंकर भगवान के पंच कल्याणकों का निरन्तर स्मरण करने से उनके पुण्यातिशय का स्मरण आता है और विकार तथा वासनाएं जो आत्मा को विकृत बनाये हुए हैं, उनसे दूर होने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। प्रवृत्ति मार्ग में लगने वाले साधक को शुभ प्रवृत्तियों में रत होना चाहिए। अशुभ प्रवृत्तियाँ बन्धन को दृढ़ करती है। यद्यपि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां बन्धन की कारण है, दोनों ही संसार में भटकाने वाली हैं। किन्तु जहाँ अशुभ प्रवृत्ति आत्मा को निवृत्ति मार्ग

से कोसो दूर कर देती है, वहाँ शुभ प्रवृत्ति उसके पास पहुँचाने में मदद करती है।

जो सुबुद्धि है जिन्हें भेद विज्ञान हो गया है, जो पर पदार्थो की परता का अनुभव चुके है, जिनका ज्ञान केवल शाब्दिक नहीं है और जो आत्मरत है वे आत्मा के भीतर सर्वदा वर्तमान रहने वाले रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते है।

मनुष्य का मन सबसे अधिक चंचल है। उसे स्थिर करने के लिए गुणस्तवन, रत्नत्रय के स्वरूप चिन्तन और उसे निजपरिणति में लगाना चाहिए। स्वामी समन्तभद्र ने, वीतराग प्रभु की गुणस्तुति से किस प्रकार पुण्य का बन्ध होता है,यह सुन्दर ढंग से बताया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवेरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः

हे वीतरागी प्रभो! आप न स्तुति करने से प्रसन्न होते हैं और न निन्दा करने से वैर करते है किन्तु आपके पुण्य गुणों की स्मृति पापो से हमारी रक्षा कर देती है, हमारे मन को पवित्र, निष्कलंक, और निर्मल बना देती है।

अतः रत्नत्रय को जाग्रत करने वाले स्तोत्रों का पाठ करना, निर्वाण भूमियों की वंदना करना, शास्त्र स्वाध्याय करना कल्याण साधन है।

इन्द्रिय भोगों का अनुभव अनेक बार किया परन्तु आत्मा स्वरूप का अनुभव एक बार भी करने मे नहीं आया—

घनमं धान्यमनूटमं वनितेयं वंगारमं वस्त्र वा-
हनराजादिगळं मदा नयसुवी भ्रांतात्मरा पटियोळ्
जिनरं सिद्धरनार्यत्रर्यरनुपाध्यायरुळं साधुपा-
वनरं चिंतिसि मुक्तिगे कोदगरो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥१६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

भ्रान्ति में पड़ा हुआ धन, भोजन, स्त्री, सोना, वस्त्र, राज्य इत्यादि वस्तुओं के चिन्तन में मन न लगा, पवित्र जिनेश्वर, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु का चिन्तन कर मोक्ष को क्यों नही प्राप्त हो जाता ?

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि जीव इन्द्रिय भोग सामग्री अर्थात् धन, भोजन, स्त्री, अनेक प्रकार के शृंगार इन सबका अनुभव अनादि काल से करते आ रहे है परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त अनन्त गुण भंडार शुद्ध चैतन्यमय ज्ञान दर्शन उपयोग रूप आत्मा अनुभव करने मे नही आया। यह आत्मा मि-थ्यात्व के कारण संसार के बन्धन में अनादि काल से पड़ा हुआ पर वस्तु में राग परिणति करके इसी को अपना मान रहा है। अनादि से अब तक उसी के पीछे उसी का अनुभव करके बार बार जन्म मरण उसीके लिए करता आ रहा है परन्तु शुद्ध रूप अनन्त गुण के धारक आत्म स्वभाव निजानन्द अमृत के रस का स्वाद नहीं लिया। इसलिए इस पर वस्तु के निमित्त से आत्मा में भ्रम बुद्धि आ गई। जो मानव वस्त्रादि जड़ पदार्थों को अपने से पर समझ लेता है उसे

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। धन और पुत्र स्त्री आदि जितनी पर वस्तु है वह आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा चेतन है और जितना इन्द्रिय-सुख है वह अचेतन है। जब यह आत्मा अपनी भेद बुद्धि के द्वारा इन्हें अपने से पर समझता है तभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। धन आदि पर वस्तु हैं, यह आत्मा से भिन्न हैं, इसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्माच्छादित आत्मा भी जब इस शरीर में आता है तो अपने साथ किसी प्रकार का बाह्य पर द्रव्य नहीं लाता। उसके पास एक पैसा भी नहीं होता। अतः धन को पर समझ कर उससे मोह बुद्धि दूर करनी चाहिए।

संसार में आत्म धन रूपी धन के बिना सभी दुखी हैं और केवल इसी से ही--किसी बाह्य धन के बिना ही मुनि सुखी दिखाई देते हैं। आत्मानुशासन में गुणभद्राचार्य ने कहा है कि---

अर्थिनो धनमप्राप्य धनिनोऽप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी॥
परायत्तात् सुखाद् दुःखं स्वायत्तं केवलं वरम्।
अन्यथा सुखिनामानः कथमासंस्तपस्विनः॥

जो निर्धन है वह सब बातों में धन के अभाव से दुखी है और जो धनवान है, उसकी तृष्णा कभी भी तृप्त नहीं होती, अतः दुखी रहता है। जगत में जितने भी जीव है, वे सभी दुखी हैं। निश्चय से विचार किया जाय तो एक मुनि ही सुखी है। पराधीन सुख से स्वाधीन सुख ही श्रेष्ठ है। इसके अलावा कोई भी सुख तुमको सुख

देनेवाला नहीं है। उस सुख की प्राप्ति के बिना मनुष्य को सुख-शान्ति कभी नहीं मिल सकती है।

मोह अपनी वस्तु पर होता है, दूसरे की पर नही। धन अपना नहीं, आत्मा का धन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यह तो पौद्‌गलिक है। इसी प्रकार भोजन, वस्त्र भी आत्मा के नहीं है, आत्मा को किसी भी बाह्य भोजन की आवश्यकता नहीं है। इसे भूख नहीं लगती है और न यह खाता पीता है, यह तो अपने स्वरूप में स्थित है। सिद्धान्त का भी नियम है कि एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्य रूप परिणाम नही करता है। किसी भी द्रव्य में विकार हो सकता है, पर वह दूसरे द्रव्य के रूप में नहीं बदलता है। अतः आत्मा जब एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो चेतन है, ज्ञानवान है, फिर वह मूर्तिक भोजन को कैसे ग्रहण करेगा ?

यहाँ शंका हो जाती है कि जब आत्मा भोजन को ग्रहण नहीं करता तो फिर जीव को भूख क्यों लगती है ? इस संसार के सारे प्रयत्न इस क्षुधा को दूर करने के लिए ही क्यों किये जा रहे हैं ? मनुष्य जितने पाप करता है, बेईमानी, ठगी, धूर्तता हिंसा, चोरी आदि उन सबका कारण मुख्यतः क्षुधा ही तो है। यदि यह भूख न हो तो फिर विश्व में अशान्ति क्यों होती ? आज संसार के बड़े बड़े राष्ट्र अपनी लपलपाती जिव्हा निकाले दूसरे छोटे राष्ट्रों को हड़पने की चिन्ता में क्यों है ? अतः भूख तो आत्मा को अवश्य लगती होगी।

इस शंका का उत्तर यह है कि वास्तव में आत्मा को भूख नहीं

लगती है, यह तो सर्वथा क्षुधा, तृषा आदि की बाधा से परे है। तब क्या भूख शरीर को लगती है ? यह भी ठीक नहीं। मरने पर शरीर रह जाता है, पर उसे भूख नहीं लगती। अतः शरीर को भूख लगती है, यह भी ठीक नहीं जँचता। अब प्रश्न यह है कि भूख वास्तव में लगती किसे है ? विचार करने पर प्रतीत होता है कि मनुष्य के शरीर के दो हिस्से है–एक दृश्य, दूसरा अदृश्य। दृश्य भाग तो यह भौतिक शरीर है और अदृश्य भाग आत्मा है। इस शरीर म आत्मा का आबद्ध होना ही इस बात का प्रमाण है कि आत्मा मे विकृति आ गई है, इसकी अपनी शक्ति कर्मो के संस्कारों के कारण कुछ आच्छादित है। इसके आच्छादन का कारण केवल भौतिक ही नहीं है और न आध्यात्मिक। मूल बात यह है कि अनन्त गुणवाली आत्मा में अनन्त शक्तियाँ है। इन अनन्त शक्तियों में एक शक्ति ऐसी भी है, जिससे परके सयोग से यह विकृत परिणमन करने लगती है। राग-द्वेष इसी विकृत परिणति के परिणाम है, जिससे यह आत्मा अनादि काल से कर्मों को अर्जित करता आ रहा है।

कर्मो की एक मोटी तह आत्मा के ऊपर आकर सट गयी है जिससे यह आत्मा विकृत हो गयी है। इस मोटी तह का नाम कार्माण शरीर है, इसमें मनुष्य द्वारा किये गये समस्त पूर्व कर्मो के फल देने की शक्ति वर्तमान है। भूख मनुष्य को इसी शरीर के कारण मालूम होती है, यह भूख वास्तव में न आत्मा को लगती है और न जड़ शरीर को, बल्कि यह कार्माण शरीर के कारण उत्पन होती

है। भोजन करने वाला आत्मा नहीं है, बल्कि भोजन करने वाला शरीर है। कर्मजन्य होने के कारण उसे कर्म का विपाक मानना चाहिए। भोजन जड़ है, इससे जड़ शरीर की ही पुष्टि होती है, चेतन आत्मा को उससे कुछ भी लाभ नहीं। यह भूख तो कर्म के उदय, उपशम से लगती है।

जब भोजन, वस्त्र, सोना, चाँदी आत्मा के स्वरूप नहीं, उनसे आत्मा का सम्बन्ध भी नहीं, फिर इनमें मोह क्यों ? यों तो कार्माण शरीर भी आत्मा का नहीं है, और न आत्मा में किसी भी प्रकार का विकार है, यह सदा चिदानन्द स्वरूप अखण्ड ज्ञानपिण्ड है। यह कर्म करके भी कर्मों से नहीं बँधता है। व्यवहार नय से केवल कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध कहा जाता है, निश्चय से यह निर्लिप्त है। जब तक व्यक्ति कर्म कर उस कर्म में आसक्त रहता है, उसका ध्यान करता रहता है, तब तक उसका बन्धक है। जिस क्षण उसे आत्मा की स्वतन्त्रता और निर्लिप्तता की अनुभूति हो जाती है, उसी क्षण वह कर्म-बन्धन तोड़ने में समर्थ हो जाता है।

वैभव, धन-सम्पत्ति, पुरजन-परिजन आदि सभी पदार्थ पर हैं, अतः इनसे मोह-बुद्धि पृथक कर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु के गुणों का स्मरण करना निज कर्तव्य है। जब साधक अपने को पहचान लेता है, उसे आत्मा की वास्तविकता अनुभूत हो जाती है तो वह स्वयं साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हन्त और सिद्ध होता चला जाता है। आत्मा की प्रसुप्त शक्तियाँ अपने आप आविर्भूत होने लगती हैं, उसकी ज्ञान शक्ति और दर्शन शक्ति प्रकट

हो जाती है। मन, वचन, काय की जो असत् प्रवृत्ति अब तक संसार का कारण थी, जिसने इस जीव के बन्धन को दृढ़ किया है, वह भी अब सत् होने लगती है, तथा एक समय ऐसा भी आता है जब भोग प्रवृत्ति रुक जाती है, जीव की परतन्त्रता समाप्त हो जाती है और निर्वाण सुख उपलब्ध हो जाता है।

संसार में आदर्श के विना ध्येय की प्राप्ति नहीं होती है। लौकिक और पारमार्थिक दोनो ही प्रकार के कार्यों की सिद्धि के लिए आदर्श की परमावश्यकता है। आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिए सबसे बड़ा आदर्श दिगम्बर मुनि ही, जो निर्विकारी है, जिसने संसार के सभी आडम्बरों का त्याग कर दिया है,जो आत्मा के स्वरूप में रमण करता है, जिसे किसी से राग-द्वेष नहीं है, मान-अपमान की जिसे परवाह नहीं है। हो सकता है, ऐसे मुनि के आदर्श को समक्ष रख कर साधक तत्तुल्य बनने का प्रयत्न करेगा तो उसे कभी न कभी छुटकारा मिल ही जायगा। दिगम्बर मुनि के गुणों की चरम अभिव्यक्ति तीर्थंकर अवस्था में होती है, अतः समस्त पदार्थों के दर्शक, जीवन्मुक्त केवली अर्हन्त ही परम आदर्श हो सकते हैं।

साधक के लिए सिद्धावस्था साध्य है, उसे निर्वाण प्राप्त करना है। चरम लक्ष्य उसका मोहक संसार से विमुक्त होकर स्वरूप की उपलब्धि करना है। अब वह अपने सामने अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु के स्वरूप को रख ले, उनके विकसित गुणों में लीन हो जाय तो उसे आत्म-तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। आडम्बरजन्य क्रियाएँ, जिनका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, तो

सिर्फ संसार का संवर्धन करनेवाली हैं, वे छूट जाती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु के गुणों का स्तवन, वन्दन और अर्चन करना चाहिए ।

जीव ने अनादि काल से इन्द्रिय भोग को कितने बार भोगा, कितने बार उसका त्याग किया —

पडेद्त्तिल्लने पूर्वदोळ्धनवधूराज्यादि सौभाग्यमं ।
पडेदें तन्नमत्कारदिं पडेदेनी संसार संवृद्धियं ॥
पडदत्तिल्ल निजात्मतत्वरुचियं तद्बोध चारित्रं ।
पडेदंदागळे मुक्तियं पडेयेन रत्नाकराधीश्वरा! ॥२०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

क्या पहले धन, स्त्री, राज्य इत्यादि वैभव प्राप्त नहीं थे? और क्या इस समय वे वैभव प्राप्त हो गये है ? क्या उन वैभवों के चमत्कार से इस संसार को समृद्धि प्राप्त हो गई है? पहले अपने आत्म-स्वरूप का विश्वास नही हुआ, आत्मा में लीनता को प्राप्ति नही हुई। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति से मनुष्य को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

आचार्य ने तृष्णा का त्याग करने का श्लोक में कथन किया है। इसी तरह तृष्णा की पूर्ति करने के लिए जीव ने अनन्त बार पुत्र, स्त्री, धन धान्य इसको प्राप्त करके छोड़ा है और इसीके पीछे जन्म और मरण करता आ रहा है परन्तु यह अज्ञानी मानव इस तृष्णा को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप की तरफ एक क्षण भी प्रयास

नहीं करता है। इस तृष्णा के विषय में आचार्यों ने इस प्रकार सम-झाया है कि हे जीव ! तू इस तृष्णा को छोड़।

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिं मा कृथाः।
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम्॥
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय स्वान्गुणा-
न्कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम्॥७८॥

तू तृष्णा को त्याग, क्षमा का सेवन कर, मद को छोड़, पापों से प्रीति न कर, सच बोल, साधुओं की रीति पर चल, पंडितों की सेवा कर, माननीयों का मान कर, शत्रुओं को भी प्रसन्न रख, अपने गुणों की प्रसिद्धि कर, अपनी कीर्ति का पालन कर और दीन-दुखियों पर दया रख। ये सब सत्पुरुषों के लक्षण है।

तृष्णा पिशाचिनी

संसार में आशा और तृष्णा के समान दुःखदाई और मनुष्य को बन्धन में बाँध कर इहलोक और परलोक बिगाड़ने वाला और कुछ भी नहीं है। जिसको धन-तृष्णा नहीं, वही सच्चा सुखी है। जिसे धन से नफरत है, वह देवों का देव है।

शंकराचार्य ने भी इसके बारे में कहा है कि—

बद्धो हि को विषयानुरागी, का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः।
को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहस्तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति॥

बन्धन में कौन है ? विषयी। विमुक्ति क्या है ? विषयों का

त्याग। नरक क्या है ? अपनी देह। स्वर्ग क्या है ? तृष्णा का नाश।

मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, पर तृष्णा बूढ़ी नहीं होती। बुढ़ापे में यह और भी तेज हो जाती है और मरणकाल तक मनुष्य को अपने फेर में फसाये रख कर उसका सर्वनाश कर देती है। कहा है—

जीर्य्यन्ते जीर्य्यतः केशा दन्ता जीर्य्यंति जीर्य्यतः।
जीर्य्यतश्चक्षुषी श्रोत्रे - तृष्णैका तरुणायते ॥
इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाधिपस्तथा राज्यं राज्यस्थः स्वर्गमीहते ॥

जीर्ण होते जाने से बाल जीर्ण हो जाते हैं, जीर्ण होते जाने से दांत जीर्ण हो जाते हैं, जीर्ण होते जाने से आंख और कान जीर्ण हो जाते हैं पर एक तृष्णा जवान होती जाती है।

सौ वाला हजार की, हजार वाला लाख की, लाख वाला राज्य का और राज्याधिपति स्वर्ग की इच्छा करता है।

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशन विहीन जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुंचत्याशा पिण्डम् ॥

सारा अंग जीर्ण हो गया, सिर के सारे बाल झड़ गए, मुँह में एक भी दाँत नहीं रहा, बूढ़ा होने पर लाठी पकड़ कर चलता है, लेकिन फिर भी यह तृष्णा पिण्ड नहीं छोड़ रही।

कितना मार्मिक चित्रण है यह जीवन का। जीवन की यह

विडम्बना ही है कि सारा जीवन तृष्णा में ही बीत गया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई। इससे अधिक विडम्बना की बात और क्या हो सकती है कि उस उम्र में भी, जब भोग की शक्ति नहीं रहती, तब भी भोगों की आकांक्षा रहती है; धन कमाने का पौरुष थक जाता है, किन्तु धन की तृष्णा साँपिनी की भाँति फुंकारती रहती है। इसीलिए एक कवि ने कहा है—

दिनयामिन्यौ सायं-प्रातः, शिशिर-वसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशा वायुः॥

दिन-रात, सायं-प्रातःकाल चले जा रहे हैं, शिशिर और वसन्त फिर लौटकर आ गये। काल क्रीड़ा कर रहा है और उसकी इस क्रीड़ा में आयु यों ही निकली चली जा रही है, किन्तु फिर भी प्राण तृष्णा नहीं छोड़ पा रहे।

कितनी दयनीय स्थिति हो गई है इस प्राणी की। तृष्णा के हाथ का यह खिलौना बन गया है। वह इसे नचाती है और यह नाचता है। वह इसे सताती है और यह असहाय होकर रोता-बिलखता है। यह प्राणी उसके मोहक जाल में इतना उलझ गया है कि इसे यह भी पता नही चलता कि आयु बीतती जा रही है, दिन और रात बनकर काल निकला चला जा रहा है और एक दिन आकर मृत्यु इसका गला दबा देती है। किन्तु उस समय भी वह तृष्णा को नहीं छोड़ पाता। तब भी सोचता है—हाय! मैंने अमुक भोग नही भोगा, अरे! मेरी सारी माया यही रह चली। वह

चला जाता है और माया यहीं रह जाती है। किन्तु तृष्णा को छाती से चिपटाये साथ ही ले जाता है।

तृष्णा निधनों को तो अपने चंगुल में फँसाये ही रखती है. पर धनिकों को भी नहीं छोड़ती। धनिकों को गरीबों से ज्यादा तृष्णा होती है। वे सदा निन्यानवे के फेर में पड़े रहते है। उनकी तृष्णा पूरी नही होती, कि काल आकर उनकी चोटी पकड़ लेता है। तृष्णा के फेर में पड़ कर मनुष्य अपने पैदा करने वाले को भी भूक जाता है। अंत समय में बहुत कुछ तड़पता और पछताता है। चाहता है कि यदि और कुछ दिन जी जाऊँ तो तृष्णा को त्यागकर भगवद् भजन करू। पर उस समय तो एक क्षण भी उसे मिल नही सकता। इसलिए बचपन और जवानी में ही, मनुष्य को तृष्णा का छेदन कर, परोपकार और ईश्वर भजन से अपना जीवन सफल करना चाहिए। तृष्णा का मार संतोष है। जिसे संतोष है, उससे तृष्णा डरती और कोसों दूर भागती है। तृष्णा मे दु.ख ही दुःख है और संतोप में सुख ही सुख है। इसी से कहा है—

सब सुख है सन्तोष में, धरिये मन सन्तोष।
नेक न दुर्बल होत है, सर्प पवन के पोष॥

और भी कहा है—

संतोपः परमं लाभः संतोषः परमं धनम्।
संतोषः परमं वायुः संतोपः परमं सुखम्॥

एक सेठ जी थे, उनका नाम तृष्णादास सेठ था। तृष्णादास

सेठ सदा निन्यानवे के फेर में लगे रहते थे। करोड़ों रुपये होने पर भी उनकी तृष्णा शान्त न होती थी। आप सदा सोचते थे अब अरब रुपये होने में इतने करोड़ कम हैं। अमुक काम में नफा होने से मैं अरबपति हो जाऊँगा। एक दिन उसको एक विद्वान ने समझाया —सेठ जी! भगवान ने बहुत दिया है, सन्तोष करो, बिना सन्तोष के सुख न होगा। ख्वाहिशों का बढ़ाना ही मनुष्य के बन्धन और दुःखों का मूल है। महात्मा सुकरात ने कहा है —"The fewer our wants, the nearer we resemble the gods'." मनुष्य ज्यों-ज्यों अपनी ख्वाहिशों को कम करता है वह देवताओं के समकक्ष होता जाता है। अंग्रेजी में एक कहावत है— Contentment is better than wealth" यानी धन से सन्तोष अच्छा है। पंडित जी का इतना सब समझाना-बुझाना अरण्यरोदन हुआ, सेठजी कुछ न समझे।

एक दिन सेठ जी अपनी गद्दी पर बैठे हुक्का पी रहे थे, इसी समय खबर मिली कि आपके पोता हुआ है। आपने उसी समय नौबत नक्कारे बजाने का हुक्म दिया। नौकर-चाकरों को इनाम बंटने लगा। इतने ही में, फिर कोई खबर लेकर आया, कि बच्चा और जच्चा दोनों परम धाम को सिधार गये। सुनते ही सेठ जी कर्म ठोकने लगे और ऐसे शोक-सागर में डूबे कि तन वदन का होश न रहा। इसी बीच, किसी ने यकायक खबर दी, कि आपने विलायत की लाटरी में जो चिट्ठी डाली थी, वह चिट्ठी आप ही के नाम उठी है। सुनते ही सेठ जी खुश हो गये, सारा रंज

गम और दुःख भूल गये, ताजा हुक्का भरने का हुक्म दिया गया। इतने में एक आदमी ने आकर कहा-सेठजी आपका जहाज भूमध्य-सागर में, विकट तूफान आने से, डूब गया। सुनते ही सेठजी को काठ मार गया। हुक्का धरा का धरा ही रह गया। अब आपको होश हुआ। आप मन ही मन कहने लगे —उस दिन तो पंडित जी ने कहा था कि ख्वाहिशों को बढ़ा कर उनको पूरा करने के लिए तृष्णा की तरगों में पड़ना दुःख का मूल है, वह बात सोलह आने ठीक है। आपने उसी दिन से तृष्णा पिशाचनी को त्यागकर सन्तोष से मैत्री कर ली। सन्तोष से मैत्री करते ही, उन्हें हर ओर सुख ही सुख दीखने लगा। न जाने वे दुःख और शोक कहाँ बिलाय गये।

क्षमा प्रभृति पर हम पहले लिख आये है, इसलिए दुबारा लिखना व्यर्थ है।

क्षणिक सुख का मोह छोड़कर शाश्वत आत्म-सुख में रमण करना—

ओरगिर्द् क्रनसिंदे दुःखसुखदोळ्बाळ्वंते तानेळ्दु क-
एदेरेदागळ्स्यलप्प वोल्नरक तिर्यङ्मर्त्यदेवत्वदोळ्।
तरिसंदोप्पुत्र बाळ्केयी वयलवाळ् नच्चिच नित्यत्वमं ।
मरेवंतेकेयो निम्म नां मरेदेनो! रत्नाकराधीश्वरा! ॥२१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सोया हुआ आदमी स्वप्न में दुःख और सुख का जीने के समान

अनुभव करता है अर्थात् जिस समय मनुष्यों को स्वप्न होता है, स्वप्न में अनेक सुख मिलते है और जिस समय जाग्रत होता है उस समय तुरन्त ही क्षणिक या एक प्रकार के इन्द्रजाल के समान दीखते हैं। इसी प्रकार नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति में अनुभव में आने वाले सुख हैं अर्थात् जीवन के सुख क्षणिक और हमेशा दुःख देने वाले है परन्तु यह जीव इसी स्वप्न के क्षणिक सुख के प्रति विश्वास रख करके उसी को शाश्वत समझ कर और अपने आत्मा का स्वरूप भूल कर इस क्षणिक सुख में दौड़ता फिरता है। यह कितने आश्चर्य की बात है।

हे जीव ! तू क्षणिक इन्द्रिय सुख पर मुग्ध होकर अपने अन्दर बैठे हुए निजानन्द सुख रूपी अमृत को न पीकर इन्द्रजाल के समान क्षण में नष्ट होने वाले सुख का स्वप्न दशा के समान उसका अनुभव कर रहा है। ससार का यह सुख क्षणिक है। इसलिए बड़े बड़े चक्रवर्ती, बड़े बड़े तीर्थंकर भी अन्त में इसको हाथ जोड़ करके चल दिये और उन्हें जंगल का सहारा लेना पड़ा।

कहा भी है कि—

जो केश काले भंवर थे, गाले रुई के बन गये।
थे दात हाथी दाँत सम, मजबूत गिरने लग गये।।
आंखें चुरा आंखें गई है दृष्टि मन्दी पड़ गईं।
मुख हो गया है खोखला तृष्णा अधिक है बढ़ गई।।
नहिं कान देते काम अब, ऊंचा बहुत सुनने लगे।

पग डगमगाते चालते है, हाथ भी हिलने लगे ॥
काया गली झुर्री पड़ीं, हड्डी हुई है खोखली ।
जो जोंक चिन्ता सर्पिणी ने, रक्त चर्बी शोषली ॥
इन्द्रियाँ वलहीन है, धनु सम कमर है झुक गई ।
काया हुई बूढ़ी मगर, आशा नहीं बुड्ढी हुई ॥
यमदूत तुमको दे रहे हैं, कूंच की यह सूचना ।
आश्चर्य है आश्चर्य है, होती तुझे क्या चेतना ? ॥

मनुष्य भले ही जीर्ण-शीर्ण हो जाय और मृत्यु की भी सूचना क्यों न आ जाय, पर उसकी आशा दिन-दूनी रात चौगुनी का ढिंढोरा बजाती ही रहती है, वह कभी जीर्ण नही होती । जिसको सौ मिले, वह हजार की, हजार मिले तो लाख की, लाख मिले तो कोटिपति बनने की, कोटिपति हुए तो अरब की अरब हुए तो खरब की, खरब हुए तो पद्म दश पद्म की, उतने हुए तो नील दश नील की, उतने मिल गये तो मंडलेश्वर की, मण्डलेश्वर हो गया तो चक्रवर्ती बनने की और चक्रवर्ती हो गया तो इन्द्र बनने की आशा-पाश में दौड़ लगाता हुआ चला जाता है, लेकिन आशा तो फिर भी तृप्त नही होती । इसलिए आशा को मनुष्य जब तक नहीं छोड़ता तब तक उसे शान्ति के बजाय अनेक उद्वेगजनक दोषों का पात्र बन कर दुखी होना पड़ता है और आखिर वह अपने अमूल्य जीवन को बिगाड़ कर दुर्गति में जा पड़ता है ।

कहावत है कि—"सब अवगुण को गुरु लोभ भयो तब, अव-

गुण और भये न भये" । जिस प्रकार सब पापों का हिंसा कारण है, सर्व कर्मबन्धों का कारण मिथ्यात्व है और सर्व रोगों का कारण क्षयेरोग है, उसी प्रकार समस्त अवगुणों का गुरु लोभ है। यह पिशाच जिसके पीछे लगता है, उसे बरबाद करके ही छोड़ता है, वह फिर दुनियां के योग्य नहीं रहता। यह मनुष्य की विद्या, विवेक, संयम, तप, जप आदि गुणों का नाश करके उन्हें अपूज्य बनाता है । कहने का मतलब यह है कि आशा को फांस समझो, हृदय में हमेशा सन्तोष रक्खो, मृत्यु कभी छोड़ने वाली नहीं, न मालूम कब प्राण-पखेरु उड़ जायेंगे । शरीर-बल प्रतिदिन घटता जा रहा है और परिवार या वैभव साथ जाने वाला नहीं है । इस सिद्धान्त को भली भाति हृदयंगम करके जब तक शारीरिक या मानसिक बल है और सांसा-आशा है तब तक कुछ सुकृत कार्य कर लेना चाहिए जो भवान्तर में सहायक हो। कहा भी है कि—

पल पल आयु घटे नर तेरी ज्यों दीपक बिच बाती ।
चेत चेत नर चेत चतुर वह गई न लौट फिर आती ॥

हाट-हवेलियां, बादशाही-ठाठ, मोटर-बंगले, मित्र, स्वजन-बन्धु, आधिपत्य, ममत्व, खटपटें, कुटुम्ब-प्रेम और पुत्र-वैभव आदि मरण समय में कभी सहायक न हुए, न होते हैं। मृत्यु की सूचना सबके लिए उपस्थित है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । "जाए जीव मरे वा" यह सूत्र इसी का समर्थक समझना चाहिए । मनुष्य लाख प्रयत्न क्यों न करले, पर वह मृत्यु से कभी नहीं बच सकता ।

जब तक जीव इन्द्रियों और मन के आधीन रहता है, तब तक वह निरन्तर भ्रान्तिमान सुखों के लिए भटकता रहता है। कविवर बनारसीदास ने इन्द्रियजन्य सुखों के खोखलेपन का बड़ा ही सुन्दर निरूपण किया है—

ये ही हैं कुमति के निदानी दुखदोष दानी,
इन ही की संगतिसों संग भार बहिये।
इनकी मगनतासों विभो को विनाश होय,
इनही की प्रीति सों नवीन पन्थ गहिये॥
ये ही तन भाव कों विदारैं दुराचार धारैं,
इन ही की तपन विवेक भूमि दहिये।
ये ही इन्द्री सुभट इनहिं जीते सोइ साधु,
इनको मिलायी सो तो महापापी कहिये॥

इन्द्रियों और मन की पराधीनता कुगति को ले जाने वाली है, दुःख और दोषों को देने वाली है। जो व्यक्ति इनकी आधीनता कर लेता है, पचेन्द्रियों के आधीन हो जाता है वह नाना प्रकार के कष्ट उठाता है। इन्द्रियों के विषयों में मग्न होने से आत्मा के गुण आच्छादित हो जाते हैं, व्यक्ति का वैभव लुप्त हो जाता है, उसका सार पराक्रम अभिभूत होजाता है। इनसे-इन्द्रियो से प्रेम करने से अनीति के मार्ग में लगना पड़ता है। इन इन्द्रियों की आधीनता ही तप से दूर कर देती है, दुराचार की ओर ले जाती है, सन्मार्ग से विमुख कराती है। इन्द्रियों की आसक्ति ज्ञान रूपी भूमि को जला देती है,

अतः जो इन इन्द्रियों को जीतता है, वही साधु है और जो इनके साथ मिल जाता है, इन्द्रियों के विषयों के आधीन हो जाता है, वह बड़ा भारी पापी है। इन्द्रियों की पराधीनता से इस जीव का कितना अहित हो सकता है, इसका वर्णन संभव नहीं। विवेकी जीवों को इन इन्द्रियों की दासता का त्याग कर स्वतन्त्र होने का यत्न करना चाहिए।

संसार में सबसे बड़ी पराधीनता इन इन्द्रियों की है। इन्होंने जीव को अपने आधीन इतना कर लिया है कि जीव एक कदम भी आगे पीछे नहीं हट सकता है। इसी कारण जीव को चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। दिन-रात विषयाकांक्षा के रहने से इस जीव को कल्याण की सुध कभी नहीं आती। जब आयु समाप्त हो जाती है, मरने लगता है, आंखों की दृष्टि घट जाती है, कमर झुक जाती है, मुंह से लार टपकने लगती है तब इस जीव को अपनी करनी याद आती है, पश्चाताप करता है, पर उस समय इसके पछताने से कुछ होता नहीं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को पूर्वापर विचार कर चतुर्गति के भ्रमण को दूर करने वाले आत्मज्ञान को प्राप्त करना चाहिए।

आत्मा में ज्ञान है, सुख है, शान्ति है, शक्ति है और है यह अजर-अमर। जो आत्मा सारे संसार को जानने, देखने वाला है, जिसमें अपरिमित बल है, वह आत्मा मैं ही हूँ। मेरा संसार के विषयों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

इस जीव ने आत्म-ज्ञान-शून्य होने के कारण अनादि काल से न

जाने कितने शरीर छोड़े और कितने धारण किये यह बतलाते हैं—

इंद्नादवने समंतु वरिसं नूरोंदहं कोटियिं।
हिंदत्तचलनेककोटियुगदिंदत्तलंमोधिंयि ॥
वंदत्तलनादि कालदिनंताकारदिं तिर्रेनल्।
वंदें नोंदेननाथबंधु! सलहो रत्नाकराधीश्वरा! ॥२२॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

मैं जैसा इस समय शरीरधारी हूँ वैसा अनादि काल से इस संसार में शरीर धारण करता आ रहा हूँ। आवागमन का चक्र घड़ी के चक्र के समान निरन्तर चल रहा है। हे भगवन्! आप दीन-बन्धु हैं, आप मेरी रक्षा करें।

ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि यह जीव अनादि काल से अभी तक एक इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक नाना प्रकार की पर्याय धारण करते हुए ससार में भ्रमण करता आ रहा है। और कभी दुःख के अलावा सुख का लेश मात्र नहीं प्राप्त हुआ। अमितगति आचार्य ने कहा है कि—

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजम्।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परम्॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसम्।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये ॥७६॥

नरकगतिवासी प्राणियों को न सहने योग्य वचनों से परस्पर किया हुआ अनेक बार उत्कृष्ट दुःख होता है। पशु गति में रहने

वाले प्राणियों को अग्नि में डालने का, छेदे जाने का, भेदे जाने का, भूख, प्यास आदि के द्वारा कष्ट होता है। मानवों को रोग, वियोग तथा जन्म मरण आदि का दुःख रहा करता है। स्वर्गवासी देवों को मन सम्बन्धी बाधा रहती है। इस प्रकार इस संसार को हमेशा दुःखों से भरा हुआ देखकर मुक्त होने का निश्चय करना चाहिये।

भावार्थ–इस श्लोक में आचार्य ने दिखला दिया है कि चारों ही गतियों में इस जीव को कहीं संतोष व सुख शांति नही मिलती हैं। सर्व मे ही शारीरिक व मानसिक दुःख कम-अधिक पाये जाते हैं। यदि हम नरक गति को लेवें तो जिनवाणी बताती है कि वहाँ के कष्ट अपार हैं। भूमि दुर्गंधमय, हवा शरीर भेदने वाली, वृक्षों के पत्ते तलवार की धार के समान, पानी खारा, शरीर रोगों से भरा व भयानक, परस्पर एक दूसरे को मारते सताते व दुखी करते हैं, वहाँ के प्राणियों की कभी भूख प्यास मिटती नही। क्रोध की अग्नि में जलते रहते है, दीर्घ काल रो रोकर बड़े भारी कष्ट से अपने दिन पूरे करते है

पशु गति के दुःख तो हमारी आंखों के सामने ही हैं। एकेन्द्रिय–पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पति–कायिक प्राणियों के कष्ट का पार नहीं है। मानवों के आरम्भ द्वारा उनको सदा ही कष्ट मिला करता है। दबके, कुटके, जलके, उबलके, धक्कों से, बुझाए जाने से, रौंदे जाने से, काटे, छीले जाने से आदि अनेक तरह से ये कष्ट पाते है। द्वीन्द्रियादि कीड़े, मकोड़े, चींटी, चींटे, मक्खी, पतंग, भुनगे आदि मानवों के नाना प्रकार के आरम्भों

के द्वारा दबके, छिलके, भिदके, जलके, गर्मी, सर्दी, वर्षा, भूख, प्यास आदि की बाधा से, सबल पशुओं से नष्ट होकर घोर त्रास उठाते हैं। पंचेंद्रिय पशु पक्षी मानवों के द्वारा सताये जाने, मारे जाने सबल पशुओं से खाये जाने, अधिक बोझा लादे जाने, भूख, प्यास, गर्मी, सर्दी आदि दुःख से पीड़ित रहते है।

मानवों की अवस्था यह है कि बहुत से तो पेट भर अन्न भी नहीं पाते, अनेक रोगों से पीड़ित रहते है, पर्याप्त धन के बिना आतुर रहते हैं, इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग से कष्ट पाते हैं। इच्छित पदार्थ के न मिलने से अधिक सम्पतिवान् को देख कर ईर्ष्या करते है, दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए अनेक षड्यंत्र रचते हैं। जब पकड़े जाते हैं तो कारावास के घोर दुःख सहते है। बहुतों को पराधीन रहने का घोर कष्ट होता है। बड़े बड़े कष्टों के उठाने पर आजीविका लगती है, परिश्रम से संचय किया हुआ धन जब किसी आकस्मिक घटनासे जाता रहता है तो बड़ा भारी कष्ट होता है। अपने जीते जी प्रिय स्त्री, प्रिय पुत्र, प्रिय मित्र आदि का मरण शोक सागर में पटक देता है। मानवों का शरीर तो पुराना पड़ता जाता है, इन्द्रियां दुबली होती जाती हैं, परन्तु पांचों इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा दिन पर दिन बढ़ती जाती है। तृष्णा की पूर्ति न कर सकने के कारण यह मानव महान आतुर रहता है। यकायक मरण आ जाता है। तब बड़े कष्ट से मरता है। चक्रवर्ती सम्राट भी जो इन्द्रिय-भोगों के दास होते हुए आत्मज्ञान रहित होते है वे भी जिन्दगी चिंता और आकुलता में ही काटते है, अन्य साधारण

मानवों की तो बात ही क्या है। जिन जिन पर पदार्थों के संयोग से यह मानव सुख मानता है वे पदार्थ इसके आधीन नही रहते, उनका परिणमन अन्य प्रकार हो जाता है व उनका यकायक वियोग हो जाता है। बस, यह मानव उनके वियोग से महान दुखित होता है।

देवगति में यद्यपि शारीरिक कष्ट नहीं है क्योंकि वहाँ शरीर वैक्रियिक होता है जिसमें हाड़, चमड़ा, माँस नहीं होता है, उनको मानवों के समान खाने पीने की जरूरत नहीं है। जब कभी भूख लगती है तब कण्ठ में अमृत झड़ जाता है, तुरंत भूख मिट जाती है। शरीर में रोग नही होते, कोई खेती व व्यापार नही करना पड़ता, न शरीर के लिए किसी वस्तु की चाह करनी पड़ती है। मनोरंजन करने वाली देवियाँ होती हैं जो अपने हावभाव, विलास, गान आदि से मन को प्रसन्न करती रहती हैं। तथापि मानसिक कष्ट सब जगह से अधिक होता है। जो आत्मज्ञानी देव हैं उनको छोड़कर जो अज्ञानी देव हैं वे एक दूसरे को अपने से अधिक सम्पत्तिवाला देखकर मन में ईर्ष्याभाव रखते हैं। सदा जलते रहते हैं। भोगने के लिए अनेक पदार्थ चाहते हैं, उनके भोगने की आकुलता से आतुर रहते हैं। देवी की आयु कम होती है, देव की आयु बड़ी होती है, बस जब कोई देवी मर जाती हैं तो उसके वियोग का दुःख सहते हैं। जब अपना शरीर छूटने लगता है उससे छः माह पहले से माला सूखने लगती है, तब वे बहुत विलाप करते हैं कि ये भोग छूटे जाते हैं क्या करें। इस कारण देव भी मानसिक कष्ट से पीड़ित हैं।

जब चारों ही गतियों में दुःख ही दुःख हैं तब सुख कहाँ को आचार्य कहते हैं कि सुख अपने आत्मा में है। जो अपने आत्मा को समझते हैं और उसकी शुद्ध स्वाधीन अवस्था व मोक्ष के प्रेमी होकर आत्मा के अनुभव में मग्न होते हैं उनको सच्चा सुख होता है। ऐसे महात्मा चाहे जिस गति में हों सुखी रहते हैं परन्तु वे सब महात्मा संसारी नहीं रहते है, वे सब मोक्षमार्गी हो जाते है। उनका लक्ष्य-बिंदु मोक्ष होता है। वे आत्मध्यान करते हुए शुद्ध भावों का लाभ पाते है, जिससे कर्म झरते जाते है और ये ही शुद्ध भाव उन्नति करते करते मोक्ष के भाव हो जाते है। इसलिए आचार्य का उपदेश है कि आत्मिक शुद्ध भावों की पहचान करो जिससे यहाँ भी सच्चा सुख पाओ व आगामी भी सुखी रहो।

पं० दौलतराम जी ने चारों गतियों के दुःखों का जो मार्मिक चित्रण किया है, वह ध्यान देने योग्य है—

काल अनन्त निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार।
एक श्वास में अठदश बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुःख भार।
निकसि भूमि जल पावक भयो, पवन प्रत्येक वनस्पति थयो।
दुर्लभ लहि ज्यों चिन्तामनी, त्यों पर्याय लही त्रस तनी।
लट पिपीलि अलि आदि शरीर, धरि-धरि मर्‌यो सही बहु पीर॥
कबहूं पंचेन्द्रिय पशु भयो, मन बिन निपट अज्ञानी थयो।
सिंहादिक सैनी व्है क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर।
कबहूं आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन।

छेदन भेदन भूख पियास, भार वहन हिम आतप त्रास ।
वध बन्धन आदिक दुख घने, कोटि जीभ तैं जात न भने ।
अति संक्लेश भावते मर्यो, घोर श्वभ्र सागर में पर्यो ॥

नरक में

तहां भूमि परसत दुख इसो, बीछू सहस डसे नहि तिसो ।
तहां राध-शोणित बाहिनी, कृमिकुल कलित देह दाहिनी ॥
सेमर तरु जुत दल असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र ।
मेरु समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥
तिल-तिल करैं देह के खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड ।
सिन्धुनीरतै प्यास न जाय, तो पण एक न बून्द लहाय ॥
तीन लोक को नाज जु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय ।
ये दुःख बहु सागर लों सहे ।

मनुष्य पर्याय

करम योग तै नर तन लहें ॥
जननी उदर वस्यो नव मास, अंग सकुच तैं पाई त्रास ।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवै छोर ॥
बालपनैं मे ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो ।
अर्ध मृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥

देवगति में

कभी अकाम निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुर तन धरै ।
विषय चाह दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुःख सह्यो ॥

जो विमानवासी हूं थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय।
तहँ ते चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै॥

उपरोक्त चौपाइयों का अर्थ यह है कि यह आत्मा अनादि काल से परद्रव्य परिणति के कारण अनन्त पर्याय को धारण करती है। जिस आत्मा की पर्याय बुद्धि हो जाती है वह उसी पर्याय बुद्धि में राग परिणति करके अनन्त पर्याय का कर्ता धर्ता हो जाता है। इसलिए अपने को पर द्रव्य का कर्ता मानता है और बिगाड़ने बनाने की भी कल्पना करता है। परन्तु जब इस जीव को ज्ञान हो जाता है तब पर द्रव्य से अपने भाव को हटा कर स्वभाव में आता है, तब अपने स्वरूप में परिणमन करता है, तब उसकी पर्याय बुद्धि हट जाती है।

जैनसिद्धांत के अनुसार ईश्वर सृष्टिका कर्ता नहीं है और न यह किसी को सुख दु.ख देता है। जीव स्वय अपने अदृष्ट के अनुसार सुख दुःख को प्राप्त करता है। जो जिस प्रकार के कृत्य करता है, कार्माण वर्गणाएं उसी रूप में आ कर आत्मा मे संचित हो जाती है, और समय आने पर शुभ या अशुभ रूप मे फल भी मिल जाता है। जब जीव स्वयं ही कर्ता और फल का भोक्ता है तो फिर अपनी रक्षा के लिए भगवान की प्रार्थना क्यों की गई है? भगवान तो किसी को सुख दुःख देता नही और न किसी से वह प्रेम करता है। उसकी दृष्टि मे तो पुण्यात्मा, पापात्मा, ज्ञानी, मूर्ख, साधु, असाधु सभी समान हैं फिर प्रार्थना करने वाले से भगवान प्रसन्न

क्यों होगा ? वीतरागी प्रभु में प्रसन्नता रूपी प्रसाद संभव नहीं। जैसे वीतरागी प्रभु किसी पर नाराज नही हो सकता है, उसी प्रकार किसी पर प्रसन्न भी नहीं हो सकेगा। अतः अपनी रक्षा के लिए भगवान को पुकारना कहाँ तक उचित है ?

इस शंका का समाधान यह है कि भगवान की भक्ति करने से मन की भावनाएं पवित्र होती है, भावनाओं के पवित्र होने से स्वतः पुण्य का बन्ध होता है जिससे जीव का कुगति से उद्धार हो जाता है। वास्तव में भगवान किसी का भी उपकार नहीं करते और न किसी को किसी भी तरह की सहायता देते है। उनकी भक्ति, स्तुति, अर्चा ही मन को पूत कर देती है, जिससे जीव को पुण्य आस्रव होता है और आगे जाकर या तुरन्त ही सुख की उपलब्धि हो जाती है। इसी प्रकार निन्दा करने से भावनाएं दूषित हो जाती है, विकार जागृत हो जाते है, जिससे पापास्रव होता है, अतः निन्दा करने से दुःख की प्राप्ति होती है।

प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता वर्तमान है। मूलतः आत्मा शुद्ध है, इसमें परमात्मा के सभी गुण वर्तमान हैं। जब कोई भी जीव अपने सदाचरण, ज्ञान और सद् विश्वास द्वारा अर्जित कर्म संस्कार को नष्ट कर देता है, अपने आत्मा से सारे कालुष्य को धो डालता है तो वह परमात्मा बन जाता है। जैन दर्शन में शुद्ध आत्मा का नाम ही परमात्मा है, आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। जब तक जीवात्मा कर्मों से बन्धा है, आवरण उसके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को ढंके हैं, तब तक वह

परमात्मा नहीं बन सकता है। इन समस्त आवरणों के दूर करते ही आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। अतः यहां एक परमात्मा नहीं है बल्कि अनेक हैं। सभी शुद्धात्माएं परमात्मा हैं।

परमात्मा बनने पर ही स्वतन्त्रता मिलती है, कर्म बन्धन की पराधीनता उसी समय दूर होती है। व्यवहार की दृष्टि से परमात्मा बनने में परमात्मा की भक्ति सहायक है। उसकी पूजा, गुण-स्तुति जीवात्मा को साधना के क्षेत्र में पहुँचा देती है। निश्चय की दृष्टि से जीवात्मा को अन्य किसी के गुणों के स्तवन की आवश्यकता नही, उसे अपने ही गुणों की स्तुति करनी चाहिए। अपने भीतर छिपे गुणों को उद्बुद्ध करना चाहिए। जीव निश्चय से अपने चैतन्य भावों का ही कर्ता है और चैतन्य भावों का ही भोक्ता है। कर्मों का कर्ता और भोक्ता तो व्यवहार की दृष्टि से है। अतः परमात्मा की शरण में जाना, पूजा करना आदि भी प्रारम्भिक साधक के लिये हैं, प्रौढ़ साधक के लिए अपना चिन्तन ही पर्याप्त है।

अनेक योनि पर्याय के गर्भ का दुःख—

नाना गर्भदि पुट्टि पुट्टि पोरमट्टें रूपु जोहंगळ ।
नानाभावदे तोट्टु तोट्टु नडेदें मेयमेच्चि दूटंगळं

नाना भेददोळुंडुमुंडु तनिदें चिः सालदे कंडु मिं
तेनय्या ! बळुबळ्परे ! करुणिसा ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मैं अनेक प्रकार के प्राणियों की कुक्षि में जन्म लेकर आया हूँ नाना प्रकार के आकार और वेष को धारण किया है। इस शरीर के लिए नाना कार्य किये हैं, तथा आहारादि को खाते खाते तृप्त हो गया हूँ। तो भी इच्छा की पूर्ति नहीं हुई। भगवन् ! ऐसे दुखियों को देख कर भी तुम दया नहीं करते, कृपा करो भगवन् !

ग्रन्थकार ने उपरोक्त श्लोक में यह बतलाया है कि इस जीव ने इन्द्रिय विषय भोगों में लवलीन होकर अनादि काल से अनन्त जन्म धारण किये हैं तो भी इसको सुख और शांति किसी पर्याय में अभी तक प्राप्त नहीं हुई। प्रत्येक शरीर में जन्म धारण कर, प्रत्येक प्राणी के गर्भ में उत्पन्न होकर, जन्म लेकर अनादि काल से अनन्त दु:ख सागर में भ्रमण कर रहा है। बलभद्र आचार्य ने कहा है—

> उत्पन्नोस्यतिदोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिमान् ।
> साधि व्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यऽस्यात्मनो वंचकः ॥
> मृत्युव्यालमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रस्तोऽसि जन्मिन् ! वृथा
> किं मत्तोसि च किं हितारिरहितो किं वासि बद्धस्पृहः ॥ ५४

हे अनन्त जन्म के धारण करने वाले अज्ञानी जीव ! तूने इस संसार की अनेक योनियों मे उत्पन्न होकर महादोष रूप धातु मलिनता से युक्त शरीर धारण किया और क्रोध, मान, माया, लोभ का धारक हो करके मन की चिन्ता और उनकी व्याधि से पीड़ित

होकर स्व पर का ज्ञान भूल गया और आचारहीन होकर अभक्ष्य भक्ष्य का विचार न करके दुराचारी हुआ। अपने को ठगने वाला तू जन्म मरण को प्राप्त हुआ और उत्पन्न होकर अपने कल्याण का शत्रु बन गया। और हमेशा अकल्याण की वाँछा करता रहा है।

भावार्थ—संसार में शरीर के ग्रहण से यह जीव जन्म मरण कर रहा है संसार का मूल कारण कुबुद्धि अज्ञानी जीव के अनादि काल से है इससे ध्येय में आत्म बुद्धि करके नये नये शरीर धारण करता है। यह नारकी शरीर को धारण कर महा दुःख उत्पन्न करने वाली अत्यन्त वेदना को प्राप्त हुआ है और जब देव का शरीर धारण करता है वहां भी उसको तिल मात्र सुख न मिलने के कारण मानसिक चिन्ता रहती है, वहां भी आयु के अवसान में चिन्ता करने लगता है कि मैं स्वर्ग के ऐश्वर्य, विषय भोगों को छोड़ कर जा रहा हूं। ऐसे दुःख करते हुए इस मनुष्य पर्याय में अथवा तिर्यंच पर्याय में शरीर धारण करके अनेक रोग का निवास सप्तधातुमय अपवित्र शरीर को धारण किया। उसमें भी जो मनुष्य का शरीर है वह शरीर महा मलीन आधि व्याधि से भरा हुआ और अनेक पीड़ा देने वाला है ऐसे शरीर को धारण करके अनन्त काल तक उससे तूने दुःख,पाया और उस मनुष्य पर्याय में हिताहित का विचार न रहने के कारण कुसगति से युक्तायुक्त आहार का विचार नहीं रहा, उससे दुराचारी बन करके तूने अपने जीवन को दुराचार में बिता दिया। तू उस इन्द्रिय विषय के

लालच में निर्दयी होकर दूसरे जीवों का घातक बन गया। परिणाम में असत्यवादी हुआ। पर स्त्री का रमण, बहु आरम्भ ऐसी अनेक बुरी भावनाओं को उत्पन्न करने वाले निन्द्य शरीर को तूने धारण किया फलतः तूने नीच कुल में जन्म लिया। तूने क्रोध, मान, माया, लोभ के वशी भूत होकरके अपने आत्मा को आप ही ठग लिया। स्वयं ही आत्मघाती हुआ, इससे तू अनेक जन्म मरण करता रहा और आगे भी करने का उद्यम कर रहा है। परन्तु आत्म-हित की चिन्ता तेरे हृदय में तिल मात्र भी नहीं है।

तू अपने आप ही अपना वैरी बन गया है। अब हे जीव ! तू श्री गुरु का उपदेश मान करके विषय कषाय से विमुख होकर अनाचार को त्याग कर सदाचार का धारी बन। आत्म-कल्याण के प्रति रुचि रख। स्व और पर का ज्ञान प्राप्त कर। ये ही सद्गुरु का उपदेश है। इससे जन्म, मरण और जरा दूर हो करके असली आत्म स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। ऐसे पवित्र १८ दोष रहित देव, निर्मल अर्थात् पाप रहित, परिग्रह रहित, गुरु, अहिंसामयी धर्म को प्रतिपादन करने वाली पवित्र जिनवाणी का सहारा लेकर अपने आत्मा को विशुद्ध करो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड में जन्म-मरण का वास्तविक चित्रण करते हुए लिखा है—

हे जीव ! तू अनेक माताओं के अपवित्र, घिनावने और पापरूप मल से मलिन गर्भ स्थानों में बहुत समय तक रहा है।

तूने अनन्त जन्मों में भिन्न भिन्न माताओं के स्तनों का इतना

अधिक दूध पिया है कि यदि वह इकट्ठा किया जाय तो समुद्र के जल से भी बहुत अधिक हो जाय।

हे जीव! तुम्हारे मरने के दुःख से भी भिन्न भिन्न जन्मों में भिन्न भिन्न माताओं के रोने से उत्पन्न आंखों के आंसू यदि इकट्ठे किये जांय तो समुद्र के जल से भी अनन्त गुने हो जांय।

इस अनन्त संसार समुद्र में तुम्हारे शरीर के कटे और छोड़े हुए बाल, नाखून, नाल और हड्डी आदि को यदि कोई देव इकट्ठा करें तो मेरु पर्वत से भी ऊँचा ढेर लग जाय।

> अय्या! कुत्मितयोनियोळ्तुसुल्बु देत्तानेत्तचिः नारु वी।
> मेय्येत्तेन्नय निर्मल प्रकृतियेन्नित देहज व्याधियिं ॥
> पुय्यन्वेत्तिहुदेत्त लेन्न निजवेत्तोयदेन्न निम्मत्तद-- ।
> म्मय्या रक्षिसु रक्षिमा तळुविर्दे रत्नाकराधीश्वरा! ॥२४॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

मल और दुर्गन्ध से युक्त इस निंद्य शरीर में जाने के लिये क्या मैंने कहा? या यह कहा कि मेरा स्वभाव परिशुद्ध है। क्या मैंने नहीं कहा कि इस शरीर में रोग और रोग से दुःख उत्पन्न होता है? क्या मैंने नहीं कहा कि मेरा यथार्थ स्वरूप ऐसा है? हे धर्माधिपते! अपने हाथ का सहारा देकर आप मेरी रक्षा करें, इसमें विलम्ब क्यों प्रभो!

कवि ने इस श्लोक में बताया है कि संसार असार है, यह शरीर सार रहित है इसलिए इससे ममत्व करके अनादि काल से अनेक

पर्याय धारण करता आ रहा है। इसके संसर्ग से इसको चारों गतियों में कहीं सुख का स्थान क्षण भर के लिए प्राप्त नहीं हुआ। पाप और पुण्य के उदय से अनादि काल से आज तक दुःख ही दुःख मिले है। इसके द्वारा पंच परावर्तन रूप संसार का परिभ्रमण कर रहा है। स्वामीकार्तिकेयानुपेक्षा में कहा है कि—

पावोदयेण णरए जायदि जीवो सहेदि बहुदुक्खं।
पंचपयारं विविहं अणोवमं अण्णदुक्खेहिं ॥ ३४ ॥

यह जीव पाप के उदय से नरक में उत्पन्न होता है। वहाँ पाँच प्रकार के और उपमा से रहित, विविध दुःख पाता है।

जो जीव की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, पर नारी में आसक्त और बहु आरम्भी होता है, बहुत क्रोधी, मानी, अति कठोर भाषण करने वाला, चुगलखोर, देव-शास्त्र-गुरु का निन्दक, बहुत शोक दुःख करने वाला जीव मर कर नरक में उत्पन्न होता है और वहाँ अनेक प्रकार के दुःख सहन करता है।

पांच प्रकार के दुःख

असुरोदीरियदुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्णकयं च पंचविहं ॥ ३५ ॥

नरक में असुर कुमार देवों द्वारा दिया गया दुःख, शारीरिक, मानसिक, क्षेत्र जन्य तथा परस्पर दिया गया दुःख ऐसे पांच प्रकार के दुःख हैं। अर्थात् तीसरे नरक तक असुर कुमार देव कुतूहल वश नारकियों को परस्पर लड़ाते हैं। उनका शरीर अनेक रोगयुक्त घृणित

श्रौर दुःखदायी होता है । वहां उनके चित्त महाक्रूरपरिणाम वाले होते हैं, जिससे उन्हें दुःख होता है । नरक क्षेत्र अनेक उपद्रवों से युक्त होता है । पुनः परस्पर वैर के संस्कार से छेदन भेदन इत्यादि अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है । वहां परस्पर मे तिल तिल करके उनके शरीर के खण्ड २ करते हैं, वज्र से पीटते हैं और उसे मसल कर कुण्ड में डाल देते है । ऐसे अनेक प्रकार के दुःख वहां इस जीव को भोगने पड़ते है ।

नरक चेत्र का तथा नारकी के परिणाम का दुःख

सव्वंपि होदि णरये खित्तसहावेण दुक्खदं असुहं ।
कुविदा वि सव्वकालं अण्णुण्णं होंति णेरइया ॥ ३८ ॥

नरक में क्षेत्र स्वभाव से सर्वत्र दुःख ही दुःख है और वहाँ पर चेत्र अत्यन्त अशुभ होता है । नारकी जोव हमेशा परस्पर क्रोध करते हैं । अर्थात् वहां का चेत्र स्वभाव से दुःख से भरा हुआ है । नारकी परस्पर क्रोधित होकर आपस में मरते हैं, मारते हैं और हमेशा दुःख ही देते है ।

तिर्यंच गति का दुःख

तत्तो णीसरिऊणं जायदि तिरएसु बहुवियप्पेसु ।
तत्थ वि पावदि दुःखं गब्भे वि य छेयणादीयं ॥ ४० ॥

उस नरक से निकल कर अनेक भेद वाले तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते है । वहां भी गर्भ सम्बन्धी दुःख ही दुःख पाते हैं । और छेदनादि हो करके अनेक दुःख पाने पड़ते है ।

मनुष्य गति के दुःख

अह गब्भेवि य जायदि तत्थ वि णिवडीकयंगपच्चंगो।
विसहदि तिव्वं दुक्खं णिग्गममाणो वि जोणीदो ॥ ४५ ॥

जिस समय गर्भ में उत्पन्न होते हैं, वहाँ भी नौ महीने तक सुकड़ कर बैठना पड़ता है। हाथ पांव अंगुली आदि अंग प्रत्यंग बनने में अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। जब तक योनि के भीतर पड़ा रहता है तब तक तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं। और जब योनि से निकलता है, तब अपार पीड़ा होती है।

गर्भ से निकलने के बाद बाल अवस्था में किसी के माता पिता मर जाते हैं। तब पराये उच्छिष्ट पर निर्भर रहना पड़ता है और अनेक प्रकार के दुःखों को भोगना पड़ता है। यह सभी पाप का फल है। यह जीव पाप के उदय से अशुभ नाम, आयु आदि की वजह से ऐसे दुःख सहन करता है जिसका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता है। वस्तुतः देखा जाय तो इस संसार में पाप ही पाप है। दान, पूजा, व्रत, तप, ध्यानादि से भी यह जीव पुण्य का उपार्जन नहीं करता है क्योंकि वह बड़ा अज्ञानी है और हमेशा संसार में इन्द्रिय सुख में संलग्न रहता है।

दूसरी ओर इस संसार में मनुष्य पर्याय धारण करने के बाद सम्यग्दृष्टि होकर सम्यक् श्रद्धा वाला होना, पुनः मुनि या श्रावक के व्रत को पालन करना तथा उपशम भाव होना, मन्द कषाय रूप परिणाम होना अथवा किये हुये पापों का पश्चाताप करना, गर्हा

करना, अपने दोषों को गुरुजन के निकट आकर कहना ऐसे परिणामों का होना और ऐसे परिणामों से युक्त पुण्य प्रकृति वाला मानव उत्पन्न होना यह संसार में बहुत कठिन है। पुण्य युक्त को भी इष्टवियोगादि बताते हैं —

पुण्णजुदस्स वि दीसइ इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जओ लहुयभायेण॥ ४९॥

पुण्य युक्त मनुष्य को भी इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग देखने में आता है। देखो अभिमान सहित भरत चक्रवर्ती को छोटे भाई बाहुबली से अपमान सहना पड़ा। जिनके सातिशय पुण्य का उदय था, उनको भी दुःख मिला तो फिर संसार में सुख किसी को भी नहीं है। भरत चक्रवर्ती के पुण्य उदय से लौकिक विभूतियों की कोई कमी नहीं थी, किन्तु अपने भाई बाहुबलि के हाथों उन्हें जो पराजय मिली, उसका दुःख, अपमान की वेदना और तिरस्कार का कष्ट उन्हें भी उठाना पड़ा। इस दुःख से वे स्वयं अपनी ही दृष्टि में छोटे हो गये। तब फिर अन्य साधारण जनों के दुःखों की चर्चा ही क्या है।

इस संसार में जितने भी पदार्थ है, जो भोज्य वस्तु है, वे पुण्यवान को ही मिलती है। और फिर यह पुण्य भी किसी को मिल जाय तो उसकी सभी इच्छाये पूर्ण नहीं होतीं अर्थात् बड़े पुण्यवान को भी वांच्छित वस्तु हमेशा नहीं मिला करती, मनोरथ सदा पूरा नहीं हो सकता। जब मनोरथ पूरा नही होता तब उसे दुख ही

होता है।

संसार में प्राय: देखा जाता है कि पाप और पुण्य सभी के समान नहीं है। किसी मनुष्य के स्त्री नहीं है, किसी के स्त्री है तो पुत्र नहीं है। किसी को पुत्र की प्राप्ति है, किन्तु वह रोग सहित है। कोई निरोगी है तो उसको धन की प्राप्ति नहीं है। किसी को धन-धान्य की प्राप्ति हो जाय तो उसे शीघ्र ही मृत्यु प्राप्त हो जाती है। इस भव में किसी की स्त्री दुराचारिणी है। किसी का पुत्र शत्रु के समान लड़ाकू है। किसी की पुत्री दुराचारिणी है। किसी का पुत्र भला भी हो किन्तु वह मर जाता है। किसी की भली स्त्री दुखी होकर मर जाती है। इस प्रकार मनुष्य गति में अनेक प्रकार के दुःख सहन करता हुआ भी यह जीव धर्म की ओर नहीं देखता है और पाप को नहीं छोड़ता है।

देव गति के दुःख का स्वरूप

अह कहांव हर्वादि देवो तस्स य जायेदि माणसं दुक्खं।
दट्ठूण महद्धीणं देवाणं रिद्धि संपत्ती ॥ ५८ ॥

यदि बहुत कष्ट पाकर देवगति भी प्राप्त हो गयी तो ऋद्धि के धारक बड़े देव की ऋद्धि को देख कर मन में दुःख उत्पन्न होता है। महर्द्धिक देव को इष्ट ऋद्धि न होने से दुःख होता है क्योंकि विषय के आधीन सुख है। उनको भी वहां तृप्ति नहीं होती है वहाँ भी तृष्णा बढती जाती है

इसलिए संसार में देखा जाय तो किसी को भी सुख नहीं है, सर्वत्र

दुःख ही दुःख है। ऐसे असार दुःख के सागर भयानक संसार में, विचार कीजिए तो सुख लेशमात्र नही है केवल दुःख ही दुःख है। फिर भी जीव संसार में पर्याय बुद्धि के द्वारा अनेक योनियों में उत्पन्न होकर उसी को सुख मान लेता है। वह अज्ञानी है और ये ही अज्ञान का कारण है। हे प्राणियो! तुम देखो कि मोह के माहात्म्य से, पाप के निमित्त से राजा भी मर करके विष्टा का कोड़ा होता है और उसी में सुख मानता है।

अनादि काल से यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। लोकाकाश में कोई स्थान ऐसा नही, जहाँ यह उत्पन्न न हुआ हो, ऐसा कोई जीव नही, जिसके साथ इसके अनेक प्रकार के सम्बन्ध न हुए हों। यहाँ तक कि जो पिता है वह मर कर पुत्र हो जाता है। स्त्री है, वह मर कर पुत्री वन जाती है। इस तरह प्राणी के एक ही भव में अनेक सम्बन्ध हो जाते हैं। वसन्ततिलका वेश्या के एक ही भव में अठारह नाते हुए, उसके सम्बन्ध में आचार्य वतलाते हैं—

पुत्तो वि भाओ जाओ सो वि य भाओ वि देवरो होदि।
माया होइ सवत्ती जणणो वि य होइ भत्तारो॥
एयम्मि भवे एदे संबंधा होंति एय जीवस्स।
अण्णभवे किं भण्णइ जीवाणं धम्मरहिदाणं॥ ६५॥

एक जीव के एक भव में कैसे कैसे सम्बन्ध हो जाते हैं, ये वतलाते हैं। पुत्र तो भाई हुआ, पुनः भाई था वह देवर हुआ, माता थी वह सपत्नी हुई, जो पिता था वह भरतार हुआ, इस प्रकार के

सम्बन्ध वसन्ततिलका वेश्या के हुए । यह कथा संसार के सम्बन्धों पर वास्तविक प्रकाश डालने वाली है—

एक ही भव में अठारह नातों की कथा

मालवदेश, उज्जैन में राजा विश्वसेन और सुदत्त नामक श्रेष्ठी थे। सेठ सोलह करोड़ का धनी था। वह वसन्ततिलका वेश्या में आसक्त था। सेठ ने वेश्या को अपने घर में रख लिया। जब वह गर्भवती हो गई तो घर से उसको निकाल दिया। वसन्ततिलका के घर पुत्र तथा पुत्री का जोड़ा हुआ। तिरस्कृत होकर निकाले जाने से वेश्या अत्यन्त खेदखिन्न हुई। उसने दुखित होकर दोनों बालकों को भिन्न भिन्न वस्त्रों में लपेट कर पुत्री को दक्षिण दरवाजे में फेंक दिया, उसको वहाँ प्रयाग निवासी बंजारे ने उठा लिया और अपनी स्त्री को सौप दिया। उसका नाम कमला रखा। तथा पुत्र को उत्तर दिशा में फेंक दिया, उसको साकेतपुर के एक सुभद्र नामक बंजारे ने उठा लिया और अपनी स्त्री को सौप दिया। उसका नाम धनदेव रखा। पूर्वोपार्जित कर्म के निमित्त से धनदेव का विवाह कमला के साथ हुआ। इस प्रकार भाई भरतार बना। इसके बाद धनदेव व्यापार के सम्बन्ध मे उज्जैन गया। वहाँ बसन्ततिलका वेश्या से लिप्त हुआ तब उसके संसर्ग से पुत्र हुआ, उसका नाम वरुण रखा। पुनः एक दिन कमला ने मुनि से इस सम्बन्ध में पूछा, तब मुनिराज ने इसका सम्बन्ध जैसा था वैसा कहा।

इनके पूर्व भव का वर्णन

उज्जैन नगरी में सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। उस के काश्यपी नाम की स्त्री थी । उसके अग्निभूति और सोमभूति नामक दो पुत्र थे। दोनों कहीं से पढ़ कर आ रहे थे। मार्ग में जिनदत्त मुनि से उनकी माता जो जिनमतो नामक अर्जिका थी, को शरीर की साता पूछते हुए देखा। आगे जिनभद्र नामक मुनि से सुभद्रा अर्जिका को साता पूछते हुए देखा। तब दोनों भाईयों ने हास्य किया कि तरुण के वृद्ध स्त्री और वृद्ध के तरुण स्त्री, विधाता ने खूब जोड़ी रची है। ऐसे हास्य के पाप से वे दोनों मरकर सोम-शर्मा तो वसततिलका हुआ। पुनः अग्निभूति और सोमभूति दोनों भाई मरकर वसन्ततिलका के पुत्र और पुत्री हुए वहाँ उन्होंने कमला और धनदेव नाम पाया । पुनः वसन्ततिलका-धनदेव के संयोग से वरुण नामक पुत्र हुआ। ऐसा सुनकर कमला को जाति-स्मरण हुआ। तब वह उज्जैन नगर में वसंततिलका के घर गई। वहाँ वरुण पालनेमें झूल रहा था। उसको देखकर कहने लगी कि हे बालक ! तेरे साथ मेरे छः नाते हैं। तुम सुनो—

(१) मेरा पति जो धनदेव है, उसके संसर्ग से तू हुआ, तो मेरा भी पुत्र है।

(२) धनदेव मेरा सगा भाई है, तू उसका पुत्र है इसलिए मेरा भतीजा हुआ।

(३) तेरी माता वसन्ततिलका है, वही मेरी माता है, इसलिए

तू मेरा भाई है।

(४) तू मेरे पति धनदेव का छोटा भाई है इसलिए, तू मेरा देवर भी है।

(५) धनदेव मेरी माता वसन्ततिलका का पति है, इसलिए धनदेव मेरा पिता हुआ, उसका तू छोटा भाई है, इसलिए तू मेरा चाचा भी है।

(६) मै वसन्ततिलका की सौतन हूँ इसलिए धनदेव मेरा पुत्र हुआ इसके पुत्र के नाते तू मेरा पोता हुआ।

इस प्रकार वरुण के साथ जब वह छः नाते कह रही थी, तब वसन्ततिलका वहाँ आई और कमला से बोली– तू कौन है जो मेरे पुत्र के साथ छः नाते सुनाये है। तब कमला बोली, तेरे साथ भी मेरे छः नाते हैं।

(१) प्रथम तो तू मेरी माता है क्योंकि मैं धनदेव के साथ तेरे ही उदर से युगल पैदा हुई हूँ।

(२) धनदेव मेरा भाई है, उसकी तू स्त्री है, इसलिए मेरी भावज है।

(३) तू मेरी माता है, तेरा पति धनदेव मेरा पिता हुआ, उस की तू माता है इससे मेरी दादी है।

(४) मेरा पति धनदेव है, उसकी तू स्त्री हैं इसलिए तू मेरी सौतन भी है।

(५) धनदेव तेरा पुत्र है, वह मेरा भी पुत्र हुआ तू उसकी स्त्री है इसलिए तू मेरी पुत्र-वधू भी है।

(६) मैं धनदेव की स्त्री हूँ, तू धनदेव की माता है इसलिए तू मेरी सास भी है।

इस प्रकार वेश्या छः नाते सुन कर मन में विचार करने लगी और उसी समय वहाँ धनदेव आया। उसको देख कर कमला बोली कि तुम्हारे साथ भी मेरे छः नाते हैं—

(१) प्रथम तो तू और मैं इसी वेश्या के उदर से युगल उत्पन्न हुए थे इसलिए तू मेरा भाई है।

(२) बाद में तेरा मेरा विवाह हो गया, अतः तू मेरा पति है।

(३) वसन्ततिलका मेरी माता है, तू उसका पति है, इसलिए तू मेरा पिता भी है।

(४) वरुण तेरा छोटा भाई है, अतः वह मेरा काका है। इस लिए काका का पिता होने से तू मेरा दादा भी हुआ।

(५) मैं वसन्ततिलका की सौतन हूँ और तू मेरी सौत का पुत्र है इसलिए तू मेरा भी पुत्र है।

(६) तू मेरा पति है, इसलिए तेरी माता मेरी सास हुई। पुन सास का पति होने से तू मेरा ससुर भी हुआ।

इसलिए एक ही भव में एक ही प्राणी के १८ नाते हुए। यह संसार की कैसी विचित्र विडम्बना है। यह जीव पाँच प्रकार संसार में परिभ्रमण करता फिरता है। इसलिए कहा है कि—

संसारो पंचविहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भवभमणो य चउत्थो पंचमओ भावसंसारो ॥ ६६ ॥

संसार पांच प्रकार का है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव। इसमें अनादि काल से भ्रमण करता हुआ यह जीव मनुष्य गति को प्राप्त हुआ है। स्वपरिणति को भूल करके यह अपने पुरुषार्थ से इस निद्य शरीर को धारण करता है। शरीर मलमूत्र का ढेर है, नितान्त अपवित्र है, जड़ है, इसका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नही। परन्तु मिथ्यात्व के वश जो सस्कार अर्जित चले आ रहे हैं, इससे जीव को यह निंद्य शरीर धारण करना पड़ता है। यह जीव इस शरीर को धारण नहीं करना चाहता है, इसके स्वभाव से विपरीत होने के कारण यह अनिच्छा से प्राप्त हुआ है। जब तक इस पर वस्तु रूप शरीर में यह जीव अपनत्व की प्रतीति करता रहेगा, तब तक यह पर सम्बन्ध से मुक्त नहीं हो सकता है।

शरीर के साथ रोग शोक मोह आदि नाना प्रपंच लगे हुए है। यह सब प्रतिक्षण परिणाम वाले पुद्गल की पर्याय है। शरीर भी पौद्गलिक है, ये सुख आदि भी पुद्गल से उत्पन्न हुए हैं। इनके आने पर सुखी-दुखी नही होना चाहिए। साधक में जब तक न्यूनता रहती है, वह अपने भीतर पूर्ण वीतरागी चारित्र का दर्शन नहीं करता है। वीतराग भगवान के आदर्श से स्वत: अपने भीतर के गुणों को जाग्रत करना साधक का काम है। साधक भगवान को मोह, राग-द्वेष, जन्म-मरण, बुढ़ापा आदि से रहित समझ कर उनके आदर्श द्वारा अपने को भी इन दोषों से रहित बनाता है। वह अपनी आत्मा भगवान की आत्मा से मिलाता है—तुम्हारे गुणो के चिन्तन करने से मैं अपने स्व और पर को पहचानने लगता हूँ। इस कारण

मैं अनेक आपदाओं से बच जाता हूँ। मैं आपके गुणों के मनन से, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब आदि मेरे स्वभाव से विपरीत हैं, इस बात को भली भाँति समझ जाता हूँ। प्रभो ! जीवन का ध्येय समस्त दूषणों और संकल्प विकल्पों से मुक्त हो जाना है। शुभ और अशुभ विभाव परिणति जब तक आत्मा में रहती है, तब तक यह अपना कल्याण कर नहीं पाता। अतः हे प्रभो ! आपके गुणों के द्वारा अपने पराये का भेद अच्छी तरह होने लगता है। इस प्रकार की भक्ति करने से प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण कर लेता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का उत्थान अपने हाथ में है। भगवान भक्त के दुःख को या जन्म मरण को दूर नहीं करते हैं। क्योंकि वे वीतरागी हैं। संसार के किसी भी पदार्थ से उन्हें राग-द्वेष नहीं है। उनके गुणों का चिन्तन और पर्यालोचन करने से सिद्धात्मा की अनुभूति होने लगती है, जिस-से जीव अपने कल्याण पथ में लग जाता है। साधक के चंचल मन को भक्ति स्थिर कर देती है। साधक अपनी अनुभूति की ओर बढ़ता है। ये ही साधक को सहारा देना है। इसलिए भव्य जीव ! रुचि पूर्वक भगवद् भक्ति की जावे तो संसार से मुक्त होने मे देर नहीं लगेगी।

दुःख में वैराग्य होता है परन्तु सुख में वैराग्य होना अत्यन्त दुर्लभ है—

दारिद्र्यं कविदंदु पायदु पगेगळ् मासंकेगोंडंदु दु—
श्चिर व्याधि गळोत्तिदंदु मनदोळ् निर्वेगमक्कुं बळि ॥

क्कारोगं कळेदंदु वैरि लय वादंदर्भं वादंद्दि दें— ।
वैराग्यं तलेदोर दंडिसुबुदो । रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दारिद्र्य के समय, शत्रु के आक्रमण से भयभीत हो जाने के समय तथा दुःसाध्य रोग से आक्रान्त हो जाने पर मनुष्य में वैराग्य उत्पन्न होता है । किन्तु व्याधि के नष्ट होने, शत्रु के परास्त होने तथा सम्पत्ति के पुनः प्राप्त होने पर यदि वैराग्य उत्पन्न न हो तो ससार से पृथक नहीं हुआ जा सकता । भावार्थ यह है कि सुख में वैराग्य का उत्पन्न होना श्रेयस्कर है ।

कवि ने इस श्लोक में वैराग्य को दुर्लभ बताया है । मनुष्य पर्याय भी दुर्लभ है । इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय में वैराग्य की भावना उत्पन्न नही होती । जीव इन्द्रिय-विषयों में मग्न होकर अपने कर्तव्य को भूल जाता है । संयम के कर्म की दृष्टि नष्ट हो जाती है । इस-लिए कवि ने कहा है कि सारी उम्र इन्द्रिय-विषय भोगता रहता है किन्तु आने वाली मृत्यु को देख कर भी अपने हित का विचार नही करता । एक कवि ने कहा है कि अमूल्य जीवन को व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्तं ।
मानुष्यमर्थदमनित्यमपाह धीरः ॥
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव—
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥ २६ ॥

यद्यपि यह मनुष्य शरीर है तो अनित्य ही–मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। परन्तु इससे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है, इसलिए अनेक जन्मों के वाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि शीघ्र से शीघ्र मृत्यु से पहले ही मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करले। इस जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय भोग तो सभी योनियों में प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए उनके संग्रह में यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिए।

इसलिए मनुष्य को जब तक रोग दरिद्रता आकर न घेरे, तब तक आत्मा की सिद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् मनुष्य को आत्म कल्याण करना चाहिए। आत्म कल्याण करने के लिये वैराग्य की तरफ झुकना आवश्यक है। तू हजारों कष्ट सहन करता है, हजारों यातनाये सहन किया करता है परन्तु आत्म-हित के लिए एक पल भी तेरा मन नहीं होता। कितने आश्चर्य की बात है। अगर सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो वैराग्य की तरफ झुकना ही कल्याणकारी है।

इसका आशय यह है कि मनुष्य को दुःख आने पर, दरिद्रता से पीड़ित होने पर, किसी बड़े सकट के आने पर अथवा किसी की मृत्यु हो जाने पर संसार से विरक्ति होती है। वह संसार की क्षणभंगुरता स्वार्थपरता और उसके सघर्षों को देखकर विचलित हो जाता है। इन्हें आत्मा के लिए अहितकर समझता है।

क्षणिक विरक्ति के आवेश में संसार का खोखलापन सामने आता है। आज जो धन के मद में चूर लक्ष्मी का लाल माना जाता

है, कल वही दर दर का भिखारी बन जाता है। आज वह जवान है, अकड़ कर चलता है, एक ही मुक्के से सैकड़ों को धराशायी कर सकता है। कल वही बुढ़ापे के कारण लकड़ी टेक टेक कर चलता हुआ दिखाई पड़ता है। सुन्दर से सब कोई प्रेम करते हैं। वही कल रोगी होकर दरिद्र हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यौवन, धन, शरीर, प्रभुता, वैभव ये सब चंचल है, अतः दुःख के कारण हैं। शरीर में रोग, लाभ में हानि, जीत में हार, सुख में दुःख लगा हुआ है। विषय भोगों में भी सुख नहीं है। जब मृत्यु आती है तब मनुष्य को विषय भोगों से पृथक होना ही पड़ता है। अतः आत्मा को संसार के सब पदार्थों से भिन्न समझ कर इन विषय भोगों से पृथक होना चाहिए। जब तक यह श्मशान वैराग्य अर्थात् क्षणिक वैराग्य रहता है, तब तक जीव कल्याण की तरफ चलता है, किन्तु जैसे ही सांसारिक सुख उसे मिले तो वह सब कुछ भूल जाता है। इन्द्रिय सुख प्राप्त होने पर आत्मिक सुख भूल जाता है। उसका वह वैराग्य अस्थिर होता है किन्तु साधक किसी प्रकार के वैराग्य के द्वारा अपने आत्मा का कल्याण कर लेता है। स्त्री, पुत्र, धन, यौवन, स्वामित्व और पदार्थों की अनित्यता उसके सामने आ जाती है। जिन पदार्थों में मोह हो जाता है, वह भी दूर हो जाता है। वह सोचता है कि मेरा आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है। स्त्री, पुत्र, रिश्तेदार आदि की आत्माओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। मैं मोह के कारण इन पर पदार्थों में आत्म बुद्धि कर ली है। अतः मोह को दूर करना चाहिए।

ये सब पदार्थ मेरे है ही नहीं। ये तो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। अतः इन्हे मैं अपना क्यों समझ रहा हूँ। ये कुटुम्बी आज मेरे हैं, कल मेरे नहीं रहेंगे। दूसरा शरीर धारण करने पर अन्य कुटुम्बी मिलेंगे अतः यह रिश्ता सच्चा नहीं. झूठा है। संसार स्वार्थ का दास है, जब तक मुझसे दूसरों की स्वार्थपूर्ति होती है तब तक वे मुझे भ्रमवश अपना मानते है। स्वार्थ के निकल जाने पर कोई किसी को नहीं मानता। अतः मुझे अपने स्वरूप मे रमण करना चाहिए।

दुःख मे, पंचपरमेष्ठी का स्मरण करना चाहिए। इस शरीर में अनेक दुःख भरे हुए है, उन्हें समता से सहन करना चाहिए—

> मेय्योळ्तोरिद रोगदिं मनके वंदायासदिं भीति व-
> ट्टय्यो! ग्रांदोडे सिद्धियें जनकनं तायं पलुंवल्क दे-
> गेय्यल्कार्परो ताव् मुम्मळिसुवक्कूंडेंदोडा जिन्हेये-
> म्मय्या! सिद्धजिनेशयंदोडे सुखं रत्नाकराधीश्वरा! ॥२६

हे रत्नाकराधीश्वर!

शरीर के दुःख से दुःखित होकर अपनी व्यथा को प्रगट करने के लिए मनुष्य "हा" ऐसा शब्द करता है। किन्तु ऐसा करने से क्या अपने स्वरूप की प्राप्ति होगी? रोग से आक्रान्त होकर यदि कोई माता-पिता का स्मरण करे तो क्या वैसा करने से उसको रोग से छुटकारा मिलेगा? जो लोग ऐसा करते हैं वे अपने लिए दुःख को ही बुलाते हैं। ऐसा समझ कर ऐसे समय में जो अपने पूज्य

सिद्ध, परमेष्ठी जिनेश्वर का स्मरण करता है वही सुख का अनुभव करता है।

कवि ने इस श्लोक में बतलाया है कि शरीर अनेक दुःखों से भरा हुआ है, इस शरीर के अंगुली के घनांगुल प्रमाण भाग में असंख्यात रोग हैं। इनकी संख्या नहीं है अर्थात् शरीर में जितने रोम हैं प्रत्येक रोम में रोग ही रोग भरा हुआ है। यह शरीर रोग का एक पुतला है। ऐसे रोगमयी शरीर में इस अज्ञानी जीव को सुख और शांति का नाम नहीं है, उसको दुःख ही दुःख मिलता है। आचार्य ने कहा है कि—

व्यापत्पर्वमयं विरामविरसं मूलेऽप्यभोगोचितं।
विश्वक्क्षुत्क्षतपातकुष्ठकुथिताद्युग्रैश्छिद्रितम्॥
मानुष्यं घुणभक्षितेक्षुसदृशं नाम्नैकरम्यं पुन—
र्निस्सारं परलोकबीजमचिरात् कृत्वेह सारीकुरु ॥८१॥

यह मनुष्य शरीर घुने हुए गन्ने के समान है अर्थात् कीड़े के खाये हुए गन्ने के समान है। यह आपत्ति रूपी गांठों से परिपूर्ण है। अंत में नीरस है, वैसे वह मूल में भी भोगने योग्य नहीं है। इसी प्रकार शरीर कोढ़ आदि भयानक रोग के छिद्रों से भरा हुआ है। और नाम मात्र भी इसमें सार नहीं है और सुन्दर भी नहीं है। सब प्रकार से असार है, इसलिए धर्म कार्य के अलावा और किसी में इसका उपयोग नहीं हो सकता। इसलिए बुद्धिमानों को इस शरीर को धर्म साधन के द्वारा परलोक का बीज समझ कर सफल

करना चाहिए ।

भावार्थ—जिस प्रकार काने गन्ने के बीच में गांठ पाई जाती है, उसमें रस नहीं होता । पुनः अन्त मे आक अर्थात् पताई में भी रस नही रहता है । मूल में जड़ है । उसमें भी रस नहीं होता । बीच में सम्पूर्ण घुना हुआ है, छिद्रित है, उसमें भी रस नहीं रहता । इस प्रकार वह काना गन्ना नाम मात्र का गन्ना होता है, परन्तु उसमें रस नहीं होता है, इसी प्रकार शरीर आदि से अन्त तक निस्सार है । भोगने योग्य नही है । यदि उस गन्ने को आगामी बीज के लिए काम में लाकर जमीन में डाल करके पानी डाला जाये तो मीठा गन्ना हो जाता है । इसी प्रकार मनुष्य पर्याय में अनेक प्रकार की आपत्ति है । उसमें सुख नही है । अनेक प्रकार की व्याधि बाधाएं उसमें भरी हुई है इसलिए आदि से अन्त तक इसमें कोई सार नही है । इसके द्वारा धर्म साधन करके आगे के लिए सुख की प्राप्ति कर ली जाय । यह शरीर क्षुधा पीड़ा आदि रोगों से भरा हुआ है, हमेशा हृदय में इसकी चिन्ता रहती है,हमेशा वेदना भरी रहती है । ऐसी मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी केवल नाम ही मनुष्य पर्याय का है परन्तु है यह निस्सार ही । स्वर्ग और मोक्ष, सुख और शान्ति प्राप्त कर लेना यही मनुष्य पर्याय का वास्तविक उपयोग है ।

विशेषार्थ—शारीरिक कष्ट के आने पर जो व्यथा से पीड़ित होकर हाय-हाय करते हैं, उससे अशुभ कर्मों का और बन्ध होता है । रोग और विपत्ति में विचलित होने से संकट और बढ़ जाता

है। अत. धैर्य और शान्ति के साथ कष्टों को सहन करना चाहिए। सहनशीलता एक ऐसा गुण है, जिससे आत्मिक शक्ति का विकाश होता है, दुःख पड़ने पर पश्चाताप या शोक करने से असाता वेदनीय दुःख देनेवाले कर्म का आस्रव होता है। श्री आचार्य उमास्वामि महाराज ने बताया है—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य।

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदन ये सब या इनमें से एक भी निज आत्मा में, पर में या दोनों में स्थित असातावेदनीय के बन्ध के हेतु है। बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुःख है। किसी इष्ट या हितैषी के वियोग से जो खेद होता है वह शोक कहलाता है। अपमान से मन कलुषित होने के कारण जो तीव्र संताप होता है वह ताप कहलाता है। गद्गद स्वर से आंसू बहाते हुए रोना पीटना आक्रन्दन कहलाता है। किसी के प्राण लेना वध है। किसी व्यक्ति का विछोह हो जाने पर उसके गुणों का स्मरण कर करुण क्रन्दन करना परिदेवन है। इन छः प्रकार के दुःखों के करने से तथा इन्हीं के समान ताड़न, तर्जन, चिन्ता, शोक रुदन, विलाप आदि के करने से असाता वेदनीय का आस्रव होता है। इस कर्म के उदय से जीव को कष्ट ही भोगना पड़ता है। अतः दुःख के आ जाने पर उससे विचलित न होना चाहिए। उसमें कमी होने का एक मात्र उपाय सहनशीलता है। दुःख पश्चाताप या क्रन्दन करने से दुःख घटता नहीं,आगे के लिए और भी अशुभ कर्मों

का बन्ध होता है, जिससे यह जीव निरन्तर पाप पंक में फंसत जाता है।

साधक को दुःख होने पर भी अविचलित रूप से शुद्ध आत्म रूप सिद्ध परमेष्ठी का चिन्तन करना चाहिए। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अगुरुलघुत्व इन गुणों के धारी परमेष्ठी का विचार करना तथा संसार से विरक्ति प्राप्त कर आत्मोत्थान करना ही जीवन का ध्येय है। दुःख तभी तक होता है जब तक पर पदार्थों से मोह रहता है। मोह के वशीभूत होकर ही यह जीव अन्य पदार्थों में, जो कि इससे सर्वथा भिन्न हैं, अपनत्व बुद्धि करता है, इसी से अन्य के संयोग वियोग में सुख दुःख का अनुभव करता है। जब यह शरीर ही अपना नहीं तो दूरवर्ती स्त्री,पुत्र,धन, वैभव कैसे अपने हो सकते है ? मोह-वश पर पदार्थों से अनुरक्ति करना व्यर्थ है। दुःख आत्मा में कभी उत्पन्न नही होता। यह आत्मा सदा सुख स्वरूप है। इस बात की प्रतीति कराने के लिए आचार्य ने सहनशीलता का उपदेश दिया है। साधारण व्यक्ति आत्मा को कर्मों के आवरण से आच्छादित मानता हुआ असाता वेदनीय कर्म के उदय से दुःख का अनुभव करता है। निश्चय दृष्टि से इस जीव को दुःख कभी नहीं होता है। आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण की उत्पत्ति हो जाने पर कर्म और संसार का स्वरूप विचारने से अपने निज तत्व की प्रतीति होने लगती है। कविवर भूधरदास जी ने अपने जैनशतक में कर्म के उदय को शांतिपूर्वक सहन करने का सुन्दर उपदेश दिया है। कवि कहता है—

आयो है अचानक भयानक असाता कर्म,
ताके दूर करने को भली कौन अह रे।
जे जे मन भाये तो कमाये पूर्व पाप आप,
तेई अब आये निज उदै काल लह रे॥
एरे मेरे वीर! काहे होत है अधीर यामें,
कोऊ को न सीर तू अकेलो आप सह रे।
भये दिलगीर कछू पीर न बिनसि जाय,
याही तैं सयाने तू तमासगीर रह रे॥

जब अचानक असाताकर्म का उदय आ जाता है, तब उसे कौन दूर कर सकता है। वह असाता कर्म भी इस जीव के द्वारा पहले अर्जित किया गया है, तभी वह आज उदय में आ रहा है। कवि कहता है कि अरे धीर, वीर जीवात्मा! तू घबड़ाता क्यों है। जिस प्रकार की शुभ अशुभ भावनाओं के द्वारा तूने कर्म कमाये हैं, तुझे उसी तरह का शुभाशुभ फल भोगना पड़ेगा। कर्मफल को कोई बांटने वाला नही है, यह तो अकेले ही भोगना पड़ेगा। अरे चतुर! कितना ही दुखी होले, इससे तेरा कष्ट मिटने का नही। कष्ट मिटेगा तभी जब कर्म का भोग पूरा हो लेगा। इसलिए कर्म फल में सुख दुःख क्यों करता है? यह तेरा स्वरूप नहीं, तू इससे भिन्न है। तू तो इस सबका तमाशबीन बना रह। जैसे अभिनेता सारे पार्ट करता है जो उसे करने को दिये जाते है। किन्तु वह पार्ट अदा करते हुए भी उससे अपने को पृथक समझता है, वह उसमें

लिप्त नहीं होता। इस प्रकार तू भी संसार के सारे अभिनय कर किन्तु उनसे अपने आपको पृथक समझ, उनमें अपने को आसक्त मत होने दे। जहाँ आसक्ति आई कि आपत्ति भी आई। जब तक निरासक्त रहेगा, तब तक कोई आपत्ति तुझे नहीं सतायेगी।

असाताजन्य कर्मफल को शान्ति और धैर्य के साथ सहन करने से ही जोव अपना उत्थान कर सकता है, उससे दुःख भी कुछ कम अनुभव होता है। विचलित होने से दुःख सदा बढ़ता चला जाता है, उससे जोव को बेचैनी होती है, नाना प्रकार के संकल्प विकल्प उत्पन्न होते हैं, जिससे दिन रात आर्त और रौद्र परिणाम रहते हैं। विपत्ति के समय संसार की सारहीनता का विचार करना चाहिए। सोचना चाहिए कि जो कष्ट मेरे ऊपर आये हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है, अनादि काल से इस शरोर को नाना कष्ट मिलते चले आ रहे हैं। इसने नरक में भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि के नाना कष्टों को, सहन किया है। नरक की भूमि के छूने से ही हजारों विच्छुओं के काटने के समान दुःख होता है। इसने नरक की पीप और खून की नदियों में जिसमें कीड़े बिलबिलाते रहते हैं, स्नान किया है।

नारकी जीवों को भयानक गर्मी सर्दी का दुःख सहन करना पड़ता है। नरकों में इतनी गर्मी सर्दी पड़तो है जिससे सुमेरु के पर्वत के समान लोहे का गोला भी जल कर राख हो सकता है। इस जीव को वहां गर्मी और सर्दी से उत्पन्न असंख्य वेदना सहन करनी पड़ती हे। जब यह गर्मी से घबरा कर शेमल वृक्षों की छाया

में विश्रान्ति के लिए जाता है तो शेमल वृक्षों के पत्ते तलवार की धार के समान उस पर गिर कर शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। नारकी जीव स्वयं भी आपस में खूब लड़ते हैं और एक दूसरे के शरीर को काटते हैं। कभी किसी को घानी में पेलते है, कभी गर्म कड़ाह में डाल देते है, तो कभी गर्म तांबा कर पिलाते हैं, इस प्रकार नाना प्रकार के दुःख आपस में देते है।

नरकों मे भूख प्यास का भी बड़ा भारी कष्ट मालूम होता है। वहाँ भूख इतनी लगती है कि समस्त संसार का अनाज मिलने पर खाया जा सकता है, किन्तु एक कण भी खाने को नहीं मिलता है। समुद्र का पानी मिल जाने पर पीया जा सकता है, परन्तु एक बून्द भी पानी पीने को नहीं मिलता। वहाँ अन्न पानी का बड़ा भारी कष्ट है, इसके अलावा शारीरिक, मानसिक नाना प्रकार के कष्ट होते हैं।

नरक के ये कष्ट मैने अनन्त बार सहन किये हैं। नरक में उन कष्टों के मुकाबिले मेरा यह मौजूदा कष्ट तो कुछ भी नहीं है। अतः सोचना चाहिए कि इस संकट से मैं क्यों विचलित हो रहा हूँ। मेरी आत्मा का इस पीड़ा या व्यथा से कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा न कभी कटता है, न जलता है, न मरता है, न गलता है। यह नित्य अखण्ड ज्ञान स्वरूप है मुझे अपने स्वरूप में लीन होना चाहिए, इस शरीर के आधीन होने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। अतः विपत्ति के समय अर्हन्त और सिद्ध का चिन्तन ही कल्याणकारी हो सकता है।

विपत्ति के समय एक बात मन में और विचारनी चाहिये। यह विपत्ति पूर्व कर्मों के कारण आई है। इन कर्मों से कोई नहीं बच पाया। मैं तो क्या, बड़े बड़े महापुरुष तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि भी नहीं बच सके। भगवान आदिनाथ को कर्म के उदय से छह माह तक आहार का योग नही लग सका। रामचन्द्र को वन॰ वास मे सीतां वियोग तथा अन्य अनेकों कष्ट उठाने पड़े। सीता के जीवन का बहुत भाग कष्टों मे ही बीता। भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ के जीव ने भारी उपसर्ग किये। पांडवों को तपे हुए लोहे के आभूषण पहनने पड़े। जब ऐसे महा बलवान पुरुषों को भी कर्म ने नही छोड़ा तो फिर मेरी क्या गिनती है। किन्तु उन लोगों ने कष्टों को समता भाव से सहन किया। इसी से वे महान बन सके, इसीलिये वे संसार के पाशों का उच्छेद कर सके या मोक्ष का मार्ग अपने लिये निष्कंटक बना सके।

मैंने कर्मों द्वारा दिये गये कष्टों को अब तक रोकर सहा, अब समता से, शान्ति से सहन करूंगा। सहने ही हैं तो शान्ति से क्यों न सहन किये जायें, जिससे इन कष्टों से सदा के लिये छुटकारा मिल जाय। ऐसे समय में कष्ट आने पर पंच परमेष्ठी के ध्यान से कष्ट सहन करने का बल मिलता है। कष्टों के बारे में ऊपर लिखे तरीके से विचार करने से मन को आश्वासन मिलता है और सहन शक्ति विकसित होती है। यदि कष्ट पड़ने पर आर्त रौद्र ध्यान हो जाय, परिणाम कलुषित हो जाय, तो कष्ट भी बड़ा दीखलाता और आगे के लिये अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। यदि कष्टों को शान्ति

से सह लिया जाय, मन में कोई विकार या संक्लेश भाव न आवे तो कष्ट कम मालूम होता है और आगे के लिये शुभ कर्मों का बन्ध होता है। अशुभ कर्मों का बन्ध होने से आगे भी कष्ट होगा शुभ कर्मों का बन्ध होने से आगे सुख मिलेगा। तो फिर ऐसा काम करना चाहिये कि अब भी कष्ट का अनुभव कम हो और आगे भी सुख की संभावना रहे।

कुटुम्ब का मोह छोड़ना ही कल्याणकारी है—

तायं तंयनासेवट्टळुते सावंसत्तु वेरन्यग - ।
कायंवोक्कोगेयं वळिक्कवरुमं तायूतंदेयेंदप्पि कों- ॥
डायेंदाडुवनित्तलंदु पडेदर्गिच्छै सनात्समंगिदें ।
माया मोहमो पळ्वुदेननकटा ! हे रत्नाकरधीश्वरा ॥२७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मृत्यु के समय मनुष्य माता-पिता-स्त्री-पुत्र आदि के प्रेम के वश में होकर रुदन करते हुए शरीर का त्याग करता है। वह पुनः अन्यत्र शरीर धारण करता है। उस जन्म के माता-पिता उसे प्यार करते हैं, उसके शरीर से चिपटते हैं और उसके साथ प्रेम भरी बातें करके विनोद करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपने पूर्व जन्म के माता पिता को भूल जाता है, उनकी प्राप्ति की इच्छा नहीं करता। आत्मा के लिए मोह, अज्ञान और माया से उत्पन्न यह कितना बड़ा भ्रम है ?

इस श्लोक में कवि ने बतलाया है कि यह जीव मरते समय

कुटुम्बी जनों के मोह के वशीभूत होकर पुनः इस संसार में दूसरे माता-पिता के साथ सम्बन्ध कर लेता है। जिस समय वहाँ के सम्बन्ध की मर्यादा पूर्ण हो जाती है, तब वह इसके प्रति मोह करके दूसरी पर्याय धारण कर लेता है। इस प्रकार अनादि काल से यह जीव माता पिता कुटुम्ब इत्यादि के मोह से अनेक पर्याय धारण करता आ रहा है। जब तक माता पिता पुत्र भाई स्त्री सम्बन्धी आदि के प्रति मोह है, तब तक इस जीव को हमेशा पर्याय धारण करना ही होगा। इसलिए ये जितने पर्याय हैं वे सभी क्षणिक है और आत्मा से भिन्न हैं। ये ही अनादिकाल से आत्मा को संसार में घुमाने वाले हैं। इसलिए जीव को क्षणिक शरीर से मोह त्याग करके अपने स्वरूप का ज्ञान करके इस पर पर्याय को त्यागना ही इष्ट है। आचार्य ने कहा है कि क्षणभंगुर पदार्थों के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है।

सर्वं नश्यति यत्नतोऽपि रचितं कृत्वा श्रमं दुष्करं।
कार्यं रूपमिव क्षणेन सलिले सांसारिकं सर्वथा॥
यत्तत्रापि विधीयते वत कुतो मूढ प्रवृत्तिस्त्वया।
कृत्ये क्वापि हि केवल श्रमकरे न व्याप्रियंते बुधाः॥८०॥

पानी में मिट्टी की पुतली के समान कठिन परिश्रम करके यत्न से भी बनाया गया सब संसार का काम क्षणभर में बिल्कुल नाश हो जाता है। जब ऐसा है तो बड़े खेद की बात है हे मूर्ख! तेरे द्वारा उसी संसार कार्य में प्रवृत्ति क्यों की जाती है? बुद्धिमान प्राणी

खाली बेमतलब परिश्रम कराने वाले कार्य में कभी भी व्यापार नहीं करते है।

जैसे मिट्टी की मूर्ति पानी में रखने से गल जाती है वैसे ही संसार के जितने काम हैं वे सब क्षणभगुर है। जब अपना शरीर ही एक दिन नष्ट होने वाला है तब अन्य बनी हुई वस्तुओं का क्या ठिकाना ? असल बात यह है कि जगत का यह नियम है कि मूल द्रव्य तो नष्ट नहीं होते, न नवीन पैदा होते हैं परन्तु उन द्रव्यों की जो अवस्थाएं होती हैं, वे उत्पन्न होती है और नष्ट होती हैं। अवस्थाएं कभी भी स्थिर नहीं रह सकती हैं। हम सबको अवस्थाएं ही दीखती है, तब ही यह रात दिन जानने में आता है कि अमुक मरा व अमुक पैदा हुआ, अमुक मकान बना व अमुक मकान गिर पड़ा, अमुक वस्तु नई बनी व अमुक टूट गई। राज्यपाट, धन, धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण आदि सर्व ही पदार्थ नष्ट होने वाले हैं। करोड़ों की सम्पति क्षणभर में नष्ट हो जाती है। बड़ा भारी कुटुम्ब क्षण भर में काल के गाल में चला जाता है। यौवन देखते देखते विलय जाता है, बल जरा सी देर में जाता रहता है। संसार का कोई भी कार्य स्थिर नही रह सकता है। जब ऐसा है तब ज्ञानी इन अथिर कार्यो के लिए उद्यम नहीं करता है। वह इन्द्र-पद व चक्रवर्ती पद भी नहीं चाहता है, क्योंकि ये पद भी नष्ट होने वाले हैं इसलिए वह तो ऐसे कार्य को सिद्ध करना चाहता है कि जो फिर कभी भी नष्ट न हो। वह एक कार्य है, स्वाधीन व शुद्ध स्वभाव का लाभ। जब यह आत्मा बन्ध रहित पवित्र हो जाता है तब वह

फिर, कभी मलीन नहीं हो सकता और तब वह अनन्त काल के लिए सुखी हो जाता है। मूर्ख मनुष्य ही वह काम करता है जिसमें परिश्रम तो बहुत पड़े, पर फल कुछ न हो। बुद्धिमान बहुत विचार-शील होते हैं, वे सफलता देने वाले कार्यों का उद्यम करते है। इस लिए सुख के अर्थी जीव को आत्मानन्द के लाभ का ही यत्न करना उचित है।

सुभाषितरत्नसन्दोह में अमितगति महाराज कहते हैं —

एको मे शाश्वदात्मा सुखमसुखभुजा ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किंचिन्निज मे तनुधनकरणभ्रातृभार्यासुखादि ॥
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो मुधा मे।
पर्यालोच्येति जीवः स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रयत्वम् ॥१४६

मेरा तो एक अपना आत्मा ही अविनाशी सुखमई, दुःखों का नाशक, ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है। यह शरीर, धन, इंद्रिय, भाई, स्त्री, सासारिक सुख आदि मेरे से अन्य पदार्थ कोई भी मेरा नहीं है क्योंकि ये सब कर्मों के द्वारा उत्पन्न है, चंचल है, क्लेशकारी है। इन सब क्षणिक पदार्थों में मोह करना वृथा है। ऐसा विचार कर हे जीव! तू अपने हितकारी इस सच्चे मुक्ति के मार्ग का आश्रय ग्रहण कर।

संसार में सभी पदार्थ अनित्य है, आत्मा ही शाश्वत है। जीव एक भव के माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि को रोते, विलखते छोड़ दूसरे शरीर में चला जाता है। जब यह दूसरे शरीर में पहुँचता है

तो उस भव के माता पिता इसके स्नेही बन जाते है तथा यह पहले भव-जन्म के माता पिता से स्नेह छोड़ देता है। इस प्रकार इस जीव के माता पिता अनन्तानन्त हैं, मोहवश यह अनेक सगे सम्बन्धियों की कल्पना करता है। वास्तव में इसका कोई भी अन्य अपना नहीं है,केवल इसके निजी गुण ही अपने हैं। अतः संसार के विषय कषाय और मोह माया को छोड़ आत्म कल्याण और धर्म साधन की ओर झुकना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है। श्रीभद्राचार्य ने सार-समुच्चय में धर्म साधन की महिमा तथा उसके धारण करने की आवश्यकता बतलाते हुए कहा है—

धर्म एव सदा कार्यो मुक्त्वा व्यापारमन्यतः।
यः करोति परं सौख्यं यावन्निर्वाणसंगमः॥
क्षणेऽपि समतिक्रान्ते सद्धर्म परिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये कषायेन्द्रियतस्करैः॥
धर्मकार्यमतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव।
आयुः कर्मणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि॥
मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः।
जीवन्तोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातंकविनाशनम्।
अस्मिन् पीते परम सौख्यं जीवानां जायते सदा॥

संसार के अन्य व्यापारों, कार्यों और प्रयत्नों को छोड़कर धर्म में सदा लगे रहना चाहिए। धर्म ही मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सुख का

साधन है। निश्चय ही धर्म के द्वारा निर्वाण मिल सकता है, इसी के द्वारा स्वानुभूति हो सकती है। अतएव एक क्षण के लिए भी सद्धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। जरा भी असावधानी होने से कषाय, इन्द्रियासक्ति और मन की चंचलता आत्मानुभूति रूपी धन को चुरा लेगी। अतएव साधक को या अपना हित चाहने वाले को कषाय और इन्द्रियासक्ति से अपनी रक्षा करनी चाहिए। आत्मा के अखण्ड चेतन स्वभाव को विषय कषाये ही दूषित कर सकते है, अतः इनका त्याग देना आवश्यक है। सच्ची वीरता इन विकारों के त्यागने में ही है।

जब तक आयु शेष है, शरीर में साधन करने की शक्ति है, इन्द्रिय नियंत्रण करना चाहिए आयु के समाप्त होने पर इस शरीर द्वारा कुछ भी नही किया जा सकता है। यह नर भव कल्याण करने के लिए प्राप्त हुआ है, इसको यों ही बरबाद कर देना बड़ी भारी मूर्खता है। जो व्यक्ति धर्माचरण करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी मृत्यु नहीं मानी जाती, क्योंकि उन्होंने आत्मा और शरीर की भिन्नता को समझ लिया है। कर्मों के रहने पर भी भेद-विज्ञान द्वारा आत्म स्वरूप को जान लिया है, अतः उनकी मृत्यु नहीं मानी जाती। किन्तु जो पाप कर्म मे लिप्त है, जिसे आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं मालूम और जो निज रूप की प्राप्ति के लिए यत्न नहीं कर रहा है वह जीवित रहते हुए भी मृत के समान है। अतएव दुःख आतंक, अज्ञान, मोह भ्रम आदि को दूर करने वाले धर्म रूपी अमृत का सर्वदा सेवन करना चाहिए, क्योकि इस धर्मामृत के पीते ही

जीवों को परम सुख की प्राप्ति होती है। धर्म के समान कोई भी सुखदायक नहीं है। इसीसे मोह-माया और अशांति दूर होजाती है।

कुटुम्बी जनों का मोह छोड़कर धर्म से प्रेम करना ही श्रेष्ठ है।

स्त्रीयं मक्कळमेंतगल्वे निवगारिं टें दु गोळिट्टक
गावायं विट्टठित्र वळिक्कदयिपं तालचवेरन्यरोळ्
प्रायंदाळ् दु विवाहमागि सुतरं मुद्दाडुवं मुन्निना ॥
स्त्रीयं मक्कळनागलेके नेनेयं रत्नाकराधीश्वरा ॥२८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्त्री और पुत्र को छोड़कर कैसे जाऊ, इनका दूसरा कौन है, इस प्रकार दुःख को प्राप्त होते हुए आंख और मुंह खोल कर मनुष्य मर जाता है। उसके बाद फिर जन्म धारण करता है, यौवन को प्राप्त होता है, शादी करता है और बच्चे उत्पन्न होते हैं। बच्चों का मुंह चूमकर आनन्दित होता है। मनुष्य अपने पूर्व जन्म के स्त्री-पुत्र का क्यों नही स्मरण करता।

मृत्यु के समय मनुष्य मोह के वशीभूत होकर अपने स्त्री, पुत्र, भाई बन्धुओं से वियोग होने के कारण अत्यन्त दुखी होता है। वह रोता है कि हाय! मेरे इन कुटुम्बियों का लालन-पालन कौन करेगा, अब मेरे बिना इनको महान कष्ट होगा, इस प्रकार विलाप करता हुआ संसार से आंखें बन्द कर लेता है। लेकिन दूसरे जन्म में यही जीव अन्य माता पिता, स्त्री, पुत्र सम्बन्धियों को प्राप्त कर लेता है। उसके स्नेह में अत्यधिक तल्लीन हो जाता है, अतः पहले भव के सगे

सम्बन्धियों को बिल्कुल भूल जाता है। फिर मोह क्यों?

संसार में जितने भी नाते रिश्ते हैं वे स्वार्थ के हैं, जब तक स्वार्थ है तब तक अनेक व्यक्ति पास में एकत्रित होते हैं। स्वार्थ के दूर होते ही सब अलग हो जाते हैं। वृक्ष जब तक हरा-भरा रहता है, पक्षी उस पर निवास करते हैं। वृक्ष के सूख जाने पर एक भी पक्षी उस पर नहीं रहता, इसी प्रकार जब तक स्त्री, पुत्र, मात पिता आदि कुटुम्बियों का स्वार्थ सिद्ध होता है, वे अपने बनते हैं। स्वार्थ के निकल जाने पर मुंह से भी नहीं बोलते है, अतः कोई भी अपना नही है, यह जीव अकेला ही सुख दुःख का भोक्ता है। कविवर बनारसीदास जी ने उपर्युक्त भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—

मातु, पिता सुत बन्धु सखीजन, मीत हितू सुख काम न पीके
सेवक साज मतगंज बाज, महादल राज रथी रथ नीके।
दुर्गति जाय दुखी बिललाय, परै सिर आय अकेलहि जीके।
पंथ कुपथ गुरु समझावत, और सगे सब स्वारथ ही के ॥

माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भाई, बन्धु, मित्र, हितैषी कोई भी अपना नहीं है, सब स्वार्थ के हैं। सेवक संगी-साथी, मदोन्मत्त हाथी, घोड़ा, रथ, मोटर आदि जितने भी भौतिक पदार्थ है, वे सब इस जीव के नही है। आवश्यकता पड़ने पर इनसे आत्मा का कुछ भी उपकार नही हो सकता है। यह जीव अकेला ही अपने कृत्यों के कारण दुर्गति या सद्गति को प्राप्त होता है, इसके सुख

दुःख का कोई साझीदार नहीं है। सभी स्वार्थी हैं, दुःख विपत्ति में कोई किसी का नहीं।

जब मनुष्य को आत्मबोध हो जाता है, राग-द्वेष दूर हो जाते हैं, संसार की वस्तु स्थिति उसकी समझ में आ जाती है तब वह कामिनी और कंचन से विरक्त हो आत्म चिन्तन में लग जाता है। अनेक भवों से लेकर इस जीव नेअब तक विषय भोगे हैं, नाना प्रकार के रिश्ते ग्रहण किये हैं, पर क्या उन भोगों से और उन रिश्तों से इसको शान्ति और सन्तोष हुआ ? क्या कभी इसने अपने पूर्व जन्मों का स्मरण कर अपने कर्तव्य को समझा ? यदि रहस्य को समझ ले तो फिर इसे इतना मोह नहीं जकड़े। मोह की रस्सी ढीली पड़ जाय तथा कर्म बन्धन शिथिल पड़ जाये और यह अपने उद्धार में अग्रसर हो जाय। इसे प्रतिक्षण में होने वाली अपनी क्रम-भावी पर्यायें समझ में आ जायें, और यह द्रव्यों से अपने ममत्व को दूर कर स्वरूप में लग जावे।

आत्मा के साथ लगे हुए जितने कर्म है वे सभी पूर्व जन्म में किये हुए हैं। शुभ अशुभ कर्मो के कारण जीव पाप और पुण्य पैदा किया करता है। पर कुटुम्ब आदि के मोह में पड़ कर यह अपने स्वभाव को भूल गया है। इसलिए ज्ञानी जीव यह सोचता है कि पूर्व जन्म का किया हुआ कर्म का संचय है और यह मेरे से भिन्न है। इसको दूर करने का एक ही उपाय है स्व-पर भेदज्ञान। इस प्रकार भगवान वीत-राग की वाणी के द्वारा स्व पर का ज्ञान करके पर वस्तु का त्याग करने के लिए हमेशा वीतराग भावना में रत रहना ये ही बन्ध को

दूर करने का उपाय कुन्दकुन्दाचार्य ने बतलाया है कि—

जस्य ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स।। १५० ॥

जिसके भीतर सर्व द्रव्यों में राग, द्वेष मोह मौजूद नहीं है, उस सुख व दुःख में समान भाव के धारी साधु के शुभ या अशुभ कर्म नहीं आते हैं।

जीव के परम धर्म लक्षण स्वरूप शुद्ध भाव से विपरीत रागद्वेष तथा मोह भाव हैं। जो साधु तपोधन रागद्वेष मोह से रहित शुद्धोपयोग से युक्त है वह सर्व शुभ तथा अशुभ संकल्पों से रहित शुद्ध आत्म ध्यान से पैदा होने वाले सुखा मृत मे तृप्ति रूप एकाकार समता रसमई भाव के बल से पने भीतर सुख दुःख रूप हर्ष तथा विषाद के विकारों को नही होने देता है, ऐसे सुख दुःख में समभाव के धारी साधु के शुभ अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता है। यहाँ पर शुभ अशुभ भाव के रोकने में समर्थ शुद्धोपयोग को भाव संवर तथा भाव संवर के आधार से नवीन कर्मों का रुकना सो द्रव्य संवर है यह तात्पर्य है।

यहाँ गाथा मे यह बताया है कि जिसके बुद्धि पूर्वक अशुभ या शुभ कार्यों में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति नही होती है ऐसे शुद्धोपयोगी साधु के पुण्य व पाप दोनों कर्मों का अनुभव नहीं होता है। सो अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान तक यद्यपि क़षाय का मंद उदय है और उससे

यथा सम्भव कर्मों का आस्रव व बन्ध भी होता है परन्तु वह इतना कम है कि आस्रव या बन्ध नहीं है ऐसा कह सकते हैं। जहाँ बुद्धि-पूर्वक राग की अधिकता है, वहीं अधिक कर्मबन्ध होता है। यहां प्रयोजन यह है कि साम्य भाव में तिष्ठना ही मुख्यता से संवर का कारण है। जिसने निश्चय नय से जगत मात्र के जीवों को अपने समान देख लिया है, शुद्ध नय से सबको शुद्ध एकाकार अनुभव किया है उसी के ही राग, द्वेष, मोह का अभाव होता है व समता भाव की प्राप्ति होती है।

इस शुद्धोपयोग के बल से ही उन्नति करते हुए यह आत्मा ऐसी परमात्म अवस्था को पा लेता है जहाँ कर्मों का बिलकुल भी आस्रव नही होता है। वास्तव में संवर का कारण शुद्धोपयोग है, यही भाव संवर है। जैसा कि अमृतचन्द्र स्वामी ने समयसारकलश में लिखा है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या।
भवति नियतमेषां शुद्धतत्वोपलम्भः ॥
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां।
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥

जो भेद विज्ञान के बल से अपने आत्मा की महिमा में लीन होते हैं, उन्हीं को निश्चय से शुद्ध आत्म तत्व का लाभ होता है। तब वे सर्व अन्य द्रव्यों से निश्चलपने दूर रहते हैं, ऐसा होने पर कर्मों से मुक्ति हो जाती है।

आगे आचार्य कहते हैं, इस जीव ने जिस जिस गति में ज

नहीं लिया—

> आरारन्लद गर्भदोळ्वलेयनारारोदु मूत्राध्वदळ् ।
> वारं वंदुरे बंधुग लिपतृगले देन्नं गनानीकमें ।
> दारोरेंजलनुएणा नात्म भरे नुत्तारार दुर्गधंदिं ।
> चारित्रंगिडनात्मनें अमिवनो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

कर्म विशिष्ट जीव ने किन किन नीच गतियों में जन्म नहीं लिया ? किस किसके मूत्र मार्ग से नहीं गुजरा ? उस मूत्र मार्ग से बाहर आकर 'मेरा बन्धु, मेरा पिता, मेरी स्त्री' इत्यादि झूठा सम्बन्ध स्थापित कर किन किनका झूठा नहीं खाया । 'मेरा पुत्र ऐसा कह किन किन की दुर्गन्ध से अपने आचरण को भ्रष्ट नहीं किया ? आत्मा क्यों भ्रम में पड़ गया है ?

कवि ने इस श्लोक में इस जीव को सम्बोध देते हुए कहा है कि हे जीव ! इन्द्रिय सुख के प्रति मोहित हो करके किस किस पर्याय में तूने जन्म प्राप्त नही किया ? किस किस योनि में तूने जन्म नहीं लिया? इस संसार में एकेन्द्रिय से लेकर के पंचेन्द्रिय पर्यायों में जाकर तो जन्म धारण किया । वहाँ होने वाले अनेक प्रकार के दुःखों को भोगा । परन्तु तुझे क्षण मात्र के लिए शान्ति नहीं मिली । फिर भी पर वस्तु में जो पर बुद्धि है अर्थात् पर्याय बुद्धि है वह पर्याय बुद्धि जब तक नहीं हटेगी तब तक सुख शान्ति नहीं मिलेगी । ये पर भाव ही उत्पाद व्यय रूप में है । तेरे अन्दर उत्पाद व्यय पर-निमित्त के

द्वारा हो रहा है। ये ही पर्याय बुद्धि संसार परिवर्तन करा रही है। अब तो पर बुद्धि को छोड़कर अपने स्व स्वभाव में आने की चेष्टा कर। तभी तुझे सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

विवेचन—सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञेय पदार्थ गुण पर्याय सहित हैं तथा आधारभूत एक द्रव्य अनंत गुण सहित है। द्रव्यमें गुण सदा रहते है,अविनाशी और द्रव्य के सहभावी गुण होते है। गुण द्रव्य में विस्ताररूप चौड़ाई रूप में रहते है और पर्यायें आयत लम्बाई के रूप रहती है जिससे वे भूत, भविष्यत और वर्तमान काल में क्रमवर्ती ही होती है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पर्याय दो प्रकार की बतायी हैं। द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय।

अनेक द्रव्य मिलकर जो एक पर्याय उत्पन्न होती है उसे द्रव्य पर्याय कहते हैं। सीधा द्रव्य पर्याय का अर्थ द्रव्य प्रदेशों में परिणमन आकार-परिवर्तन है। इसके दो भेद हैं—स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और विभाव व्यञ्जन पर्याय अथवा समान जातीय द्रव्य पर्याय और असमान जातीय द्रव्य पर्याय। प्रत्येक द्रव्य का अपने स्वभाव में परिणमन होता है वह स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और दो विजातीय द्रव्यों के संयोग से जो परिणमन होता है वह विभाव व्यञ्जन पर्याय है। जीव के साथ पुद्गल के मिलने से नर, नारकादि जो जीव की पर्यायें होती है वे बिभाव व्यञ्जन पर्यायें कहलाती हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, सिद्ध-आत्मा, परमाणु का जो आकार है वह स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है।

ससारी जीव नरकादि में नाना प्रकार के शरीर ग्रहण करता है, उसके शरीर के विभिन्न आकार देखे जाते हैं, ये सब विभाव व्यंजन पर्यायें है। गुण पर्याय के भी दो भेद है—स्वभाव गुण पर्याय और विभावगुण पर्याय। स्वभाव परिणमन में गुणों का सदृशपना रहता है, इसमें अगुरुलघु गुण द्वारा कालक्रम से नाना प्रकार का परिणमन होने पर भी हीनाधिकता नहीं आती। जैसे सिद्धों में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य आदि गुण हैं. अगुरुलघु के कारण षड्गुण हानि. वृद्धि होती है पर उनके गुण ज्यों के त्यों बने रहते हैं, किसी भी प्रकार की कमी नहीं आती। विभाव गुण पर्याय में अन्य द्रव्यों के संयोग से गुणों में हीनाधिकता देखी जाती है। संयोग से ससारी जीव के ज्ञानादि गुण हीनाधिक देखे जाते हैं।

गुण और पर्याय के इस सामान्य विवेचन से स्पष्ट है कि जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव द्रव्य और स्वभाव गुण पर्याय का अनुसरण करे। जो जीव शरीर आदि कर्मजनित अवस्थाओं में लवलीन हैं. वे पर समय हैं। तब मैं मनुष्य हूं. यह मेरा शरीर है, इस प्रकार के नाना अहंकार भाव और ममकार भाव से युक्त चेतना विलास रूप आत्म व्यवहार से च्युत होकर समस्त नित्य क्रिया समूह को अंगीकार करने से पुत्र, स्त्री, भाई बन्धु उत्पन्न होने से यह कर्मों के बन्धन में पड़ता चला जाता है और भ्रमवश—मिथ्यात्व के कारण अपने को भूला रहता है। जो जीव मनुष्यादि गतियो में शरीर सम्बन्धी अहंकार और ममकार भावों से रहित हैं अपने को अचलित चैतन्य विलास रूप समझते है उन्हें संसार का

मोह-क्षोभ नही सताता और वे अपने को पहचान लेते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है—

स इदाणिं कत्ता संसगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥ ६४ ॥

वह पर द्रव्य के ग्रहण त्याग से रहित आत्मा अब संसार अवस्था में चेतना के विकार रूप अपने अशुद्ध परिणामों का कर्ता होता हुआ उस अशुद्ध चेतना रूप आत्म परिणाम का ही निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणत हुई पुद्गल कर्म रूपी धूलि से ग्रहण किया जाता है, और किसी काल में अपना रस (फल) देकर छोड़ दिया जाता है।

संसार अवस्था में यह जीव पर द्रव्य संयोग के निमित्त से अशुद्धोपयोग भाव स्वरूप परिणमन करने से उनका कर्ता है। परिणमन की अपेक्षा अशुद्धोपयोग भाव आत्मा के परिणाम हैं, इस कारण उनका तो कर्ता हो सकता है, लेकिन पुद्गल का कर्ता नहीं होता। उस आत्मा के अशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य अपनी निज शक्ति से ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन करके आत्मा से एक क्षेत्रावगाह होकर अपने आप बंधते हैं, फिर अपना रस (फल) देकर आप ही क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह बात सिद्ध हुई, कि पुद्गल कर्म का आत्मा ग्रहण करने वाला या छोड़ने वाला नहीं है, पुद्गल ही पुद्गल को ग्रहण करता है, तथा छोड़ता है।

जाति, कुल आदि का जब तक ममत्व रहेगा तब तक जीव का कल्याण नहीं हो सकता ।

कुलमं गोत्रमनुर्वियं विरुडुमं पत्तीकरंगोंडता- ।
नोलिवं तन्नवेनुत्ते लोगर वेनुत्तं निंदिपं जीवनं -॥
इलेदेंबत्तर नाल्कु लक्ष भवदोळ्तंदल्लि लानावुद
क्कोलिवं निंदिपनावुदं निरविसा रत्नाकराधीश्वरा ! ३०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीव अपने वंश, गोत्र, क्षेत्र, ख्याति आदि को ग्रहण करके यह मेरा है, ऐसा प्रेम करता है। दूसरे का वंश गोत्र आदि देख कर यह दूसरे का है, ऐसा समझते हुए तिरस्कार करता है। चौरासी लाख योनियों में जन्म लेकर दुःख को प्राप्त होते हुए इस योनि में मनुष्य किससे प्रेम करता है ? किसकी निन्दा करता है ? प्रतिपादन करो।

कवि ने इस श्लोक में यह बताया है कि इस जीव ने कुल जाति गोत्र इत्यादि को ग्रहण करके ये मेरा है और मैं अमुक गोत्र वाला हूँ, अमुक वंश वाला हूँ, इस प्रकार के अहंकार करके अनादि काल से इस पुद्गल पर्याय को प्राप्त हो रहा है।

अर्थात् देश का अर्थ यह है कि जिसमें क्षेत्र उत्तम हो, काल उत्तम हो, हमेशा सदाचार वृत्ति और मोक्ष मार्ग की परिपाटी चलती रहे, जहाँ धर्म की प्रवृत्ति हमेशा होती हो । मोक्ष

मार्ग प्रवर्तक उत्तम कुल जाति मे उत्पन्न होने वाले पिता की परम्परा को वंश कहते हैं। इस तरह से जाति कुल क्षेत्र जिनके विशुद्ध हों उनको उत्तम जाति वाला, उत्तम जाति में पैदा हुए जीव को उत्तम कुल वाला कहते है। परन्तु यह सभी शुभ अशुभ कर्मों के कारण आत्मा के स्वरूप नहीं हो सकते हैं। ये ही सब आत्मा के अन्दर मोह को उत्पन्न करने वाले है। इसी जाति गोत्र आदि के मोह में पड़ करके अपने को मैं उत्तम गोत्र वाला हूँ उत्तम माता के वंश वाला हूँ इस प्रकार जो पर बुद्धि करके फिर भी कर्म के बंधन में बंध जाता है उसी कर्म के निमित्त से उस पुद्गल पर्याय को प्राप्त होता है। इसलिए इस जीव को बाहर की शरीर सम्बन्धी या स्त्री. पुत्र. गोत्र सम्बन्धी भावनाओं को छोड़ करके अर्थात् मिथ्यात्व को छोड करके अपने अनादि निधन जाति कुल लिंग और पर्याय रहित शुद्ध अखंड अविनाशी एक उत्तम कुल वाले आत्म स्वरूप को अपने शरीर में स्थित हो करके जब मनन करता है तब पर परिणति रूप पुद्गल सम्बन्धी विकल्प या शरीर सम्बन्धी पुत्र मित्र स्त्री इत्यादि का विकल्प हट करके आत्मा के स्वरूप में लीन होता है। तभी यह जीव आत्म स्वरूप की प्राप्ति कर सकता है।

संसारी जीव अपने आत्म स्वरूप को भूलकर पर में आत्म बुद्धि कर जिस शरीर में निवास करते है, उस शरीर रूप ही अपने को मानते हैं। वे उस शरीर के सम्बन्धियो को अपना समझ लेते हैं। इसी प्रकार उनमें अहंकार और ममकार की प्रबल भावना जाग्रत

होती है। शरीर में प्राप्त इन्द्रियों के विषयों के आधीन होकर उन के पोषण के लिए इष्ट सामग्री के संचय और अनिष्ट सामग्री से बचने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे इष्ट संयोग से हर्ष और इष्ट वियोग में विषाद धारण करना पड़ता है। इन्हें धन, गृह आदि के प्राप्त करने के लिए अन्याय तथा पर पीडाकारी कार्य करने में भी ग्लानि नही होती है।

इस प्रकार के इन्द्रिय विषय लोलुपी जीव पर-समय मिथ्यादृष्टि कहलाते है। ये स्त्री, पुत्र, मित्र. गाय, भैंस, सोना, चादी, मकान आदि के लिए अत्यन्त लालायित रहते है। इन पदार्थों को अपना मानते है। आसक्ति के कारण त्याग से दूर भागते है। जिनमें मनुष्य, देव आदि पर्यायो का धारी मै हूँ तथा ये पंचेन्द्रिय सुख मेरे है इस प्रकार का अहंकार और ममकार पूर्ण रूप से वतमान है, वे आत्म सुख से विमुख होकर कुछ भी नही कर पाते है। इनकी ज्ञान-शक्ति लुप्त या मूछित हो जाती है तथा वे शरीर को ही अपना मान लेते है।

जिसने अहंकार और ममकार जैसे पर पदार्थो को दूर कर दिया है और जो आत्मा को ज्ञाता, द्रष्टा, आनन्दमय, अमूर्तिक, अविनाशी, सिद्ध भगवान् के समान शुद्ध समझता है, वह सम्य-ग्दृष्टि है जैसे रत्न दीपक को अपने घरों में घुमाने पर भी, एक रत्नरूप ही रहता है, उसी प्रकार यह आत्मा अनेक पर्यायों को ग्रहण करके भी स्वभाव से एक है। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म राग द्वेष आदि भावकर्म और शरीर आदि नो कर्म ये सब आत्मा के शुद्ध

स्वभाव से भिन्न है, तथा यह आत्मा अपने स्वभावों का कर्ता और भोक्ता है, जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है, वह व्यक्ति इन्द्रिय भोगों से विरक्त हो जाता है। तथा उसे स्त्री, पुत्र, मित्र आदि का सयोग एक नौका पर कुछ काल के लिए संयुक्त पथिकों के समान जान पड़ता है। वह अज्ञानी होकर मोह नहीं करता है। वह घर में रहते हुए भी घर के बंधन मे नहीं फसता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति को ही अपना सब कुछ मानता है।

मोह जिसके कारण यह जीव अपने तेरे के भेद भाव को ग्रहण करता है, ज्ञान या विवेक से ही दूर हो सकता है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हे संसार के सम्बन्ध, वंश, गोत्र आदि अनित्य विजातीय धर्म दिखलाई पड़ते है। मिथ्यारुचि वालों को ये सांसारिक बधन अपने प्रतीत होते है, वे शरीर के सुखों में उलझे रहते है, इस कारण वे ध्यान करते हुए भी नित्य, शुद्ध, निर्विकल्प आत्म तत्व को प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उनकी दृष्टि सर्वदा बाह्य वस्तुओं की ओर रहती है। अत: साधक को सचेत होकर बाह्य वस्तुओं की ओर जाने वाली प्रवृत्ति को रोकना चाहिए।

जब जीव को यह प्रतीति हो जाती है कि मेरा स्वभाव कभी भी विभाव रूप नही हो सकता है, मेरा अस्तित्व सदा स्वाभाविक रहेगा, इसमे कभी भी विकार नही आ सकता है। जैसे सोना एक द्रव्य है, उसके नाना प्रकार के आभूषण बनाने पर भी सभी आभूषणों में सोना रहता है, उसके अस्तित्व का कभी नाश नही होता, केवल पर्यायें ही बदलती है, इसी प्रकार मेरा आत्मा नाना

स्वभाव और विभाव पर्यायों को धारण करने पर भी शुद्ध है, उसमें कुछ भी विकार नही है ।

इस अज्ञानी जीव को अगर सच कहें तो उसको बड़ा बुरा लगता है, जैसे मदोन्मत्त हाथी पर कंकड फेंक दें तो वह उछल करके उसके पीछे पड़ता है, उसी प्रकार इस जीव को सद्गुरु का उपदेश बड़ा बुरा मालूम होता है इसलिए मै अपने आत्मा को ही जाग्रत करने के लिए भगवान की वाणी सुनाता हूँ ।

एलेले उळ्ळुद्नाडे कोळ्ळिगोळुवनोंडेंव नाल्मातिदें ।
सले सत्यं बहुयोनि योळ्पलवु तायुं तंदेयोळ् पुट्टिदा ॥
मलशुक्लं गळोळाळ्दु बाळ्दुमनमन्यनोंदुं वैवल्लि तां- ।
पलगं पुट्टिदेयेंदोडें कुदिवरो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥३१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सत्य बात सबको बुरी लगती है । जो जैसा है उसे वैसा ही कहने पर सुननेवाले को दुःख होता है । इस जीव ने नाना योनियों में जन्म लिया, माता-पिता मिले । यदि कोई इससे कह दे कि तुम्हारा दूसरा पिता है, तू अन्य से उत्पन्न हुआ है,तो यह जीव इस बात को सुन कर क्रोध से आग बबूला हो जाता है, कहने वाले को लाखों गालियाँ देता है और उनसे कहता है कि मेरे माता-पिता दूसरे नहीं, तू ही अन्य पिता से उत्पन्न हुआ है,असल नही है । हा ! हा ! इस जीव में कितना राग है, जिससे यह इस सत्य को सुनकर भी खेद का अनुभव करता है । आश्चर्य है कि जीव रागवश महान्

अनर्थ कर रहा है।

कवि ने इस श्लोक में बताया है कि अज्ञानी जीव को संसार के विषयभोग में रत होने के कारण सद्गुरु का उपदेश रुचता नहीं है। जैसे गाय के स्तन में रहने वाली जोंक दूध को न पी करके खून को पीती है, इसी तरह विषय लिप्त इस जीव को सद्गुरु के उपदेश की तरफ रुचि नहीं होती है। क्योंकि अनादि काल का यह संस्कार है। तीव्र कर्म के उदय से इस जीव के अन्दर हिताहित का विचार नहीं आता। अहित की तरफ हमेशा दौड़ता रहता है। इसके बारे मे पंचाध्यायी में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि –

जम्हा कम्मस्सफल विसयं फासेहिं भुंजदे णियदे।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥ १४१ ॥

क्योकि इस जीव के द्वारा कर्मो का फल सुख और दुःख, जो पांच इन्द्रियो का विषय रूप है, तो निश्चित रूप से स्पर्शनादि इद्रियो के निमित्त से भोगा जाता है। इसलिए द्रव्य कर्म मूर्तिक है।

जो जीव विषयों से रहित परमात्मा की भावना से पैदा होने वाले सुखमई अमृत के स्वाद से गिरा हुआ है, वह जीव उदय में आ कर प्राप्त हुए कर्मो का फल भोगता है। वह कर्म फल मूर्तिक पंच इन्द्रियों के विषय रूप है तथा हर्ष विषाद रूप है तथा हर्ष विषाद रूप सुख दुःखमय है। यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से वह अमूर्तिक है। तथापि अशुद्ध निश्चय नय से परमार्थ रूप व अमूर्तिक है। परम आल्हादमई लक्षणधारी निश्चय सुख के विपरीत होने के कारण

यह विषयों का सुख दु:ख हर्ष विषाद रूप मूर्तिक है क्योंकि निश्चय पूर्वक स्पर्शनादि पांच इन्द्रियो से रहित अमूर्तिक शुद्ध आत्म तत्व से विपरीत जो स्पर्शनादि मूर्तिक इन्द्रियां है, उनके द्वारा ही वह भोगा जाता है। अतएव कर्म जिनका ये सुख दु.ख कार्य है, वे भी मूर्तिक है, क्योंकि कारण के सदृश ही कार्य होता है। मूर्तिक कार्य रूप के अनुमान से उनका कारण भी मूर्तिक जाना जाता है पांचों इन्द्रियों के स्पर्शादि विषय मूर्तिक है। तथा वे मूर्तिक इन्द्रियो से भोगे जाते है, उनसे सुख दु.ख होता है वे भी स्वयं मूर्तिक है। इस तरह कर्म को मूर्तिक सिद्ध किया गया, यह सूत्र का अर्थ है।

इस गाथा में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने कर्म बन्ध को मूर्तिक या पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल द्रव्य का कार्य सिद्ध किया है। कार्माण वर्गणा अनन्त पुद्गल परमाणुओ का स्कध है। तथापि सूक्ष्म इतना है कि हम किसी इन्द्रिय से उसे मालूम नही कर सकते। जो वस्तु इन्द्रिय गोचर नहीं होती है, उसका अनुमान उसके कार्य को देख कर किया जाता है क्योकि साध्य का साधन यह भी है 'कार्यात् कारणानुमानं' अर्थात् कार्य को देख कर कारण को जान लेना जिसके अनेक दृष्टांत प्रत्यक्ष में मिल सकते है। उनमे से कुछ यहाँ दिये जाते है (१) आत्मा को हम किसी भी इन्द्रिय से नही देख सकते हैं परन्तु उसके ज्ञानमई कार्य को देखकर ही यह निश्चय करते हैं कि शरीर में जीव है या इस शरीर में जीव नही है (२) मानव का मुख देखकर उसके परिणामों का पता लगा लेते हैं-उदास मुख दुःखित या उदासीन मन का चिन्ह है, रक्त चक्षु सहित विकारी मुख

बताता है कि यह प्राणी क्रोधी हो रहा है (३) स्त्री का शरीर बता देता है कि यह गर्भवती है (४) हर एक मानव के अनन्त माता पिता हो चुके हैं, यह ज्ञान भी अनुमान से होता है, हमने अनन्त को देखा नहीं है (५) स्कंधों को देखकर उनके कारण रूप परमाणुओं की सत्ता का ज्ञान होता है (६) समय, पल, घड़ी इस व्यवहार काल रूप कार्य से निश्चय कालाणु रूप द्रव्य काल का अनुमान होता है (७) बालू पर घोड़े के व सिंह के पग के चिन्ह देखकर यह निश्चय किया जाता है कि यहाँ से घोडा या सिंह अवश्य गया है (८) नदी के मध्य में उठी हुई जमीन को देखकर यह निश्चय करते हैं कि यहाँ बहती हुई नदी ने मिट्टी जमा की है। इत्यादि कार्यो से कारण का ज्ञान निश्चय से होता है, उसी तरह कर्मों के फल को मूर्तिक देखकर कर्म मूर्तिक हैं ऐसा अनुमान करना योग्य है। घातिया कर्मो का फल ज्ञान दर्शन व वीर्य को घात करना व मोह उत्पन्न करना है। जैसे सूर्य पर बादल आ जाने से व एक मूर्ति के ऊपर पर्दा पड़ जाने से हम सूर्य या मूर्ति को स्पष्ट नही देख सकते है, उसी तरह ज्ञानावरण व दर्शनावरण के उदय से हम पूर्ण दर्शन-ज्ञान नहीं कर सकते हैं। जितना उनका क्षयोपशम या घटाव है उतना ही देख-जान सकते है शरीर में शक्ति होने पर भी किसी चोर को या सिंहादि को देखकर कायरता आ जाती है, वीर्य निर्बल हो जाता है, उसी तरह अन्त-राय कर्म आत्मबल को घटाता है। जैसे भांग, चरस, शराब आदि नशो के पीने से ज्ञान बिगड़ जाता है, इसी तरह मोह के उदय से

ज्ञान विपरीत काम करता है । यदि मोहनीय कर्म का भेद क्रोध कषाय मूर्तिक न होता तो उसके उदय से शरीर पर उसका फल न दीखता। मुख की चेष्टा विगड़ जाना, लाल आंख हो जाना, शरीर का कांपना ये सब क्रोध के उदय के चिन्ह है। जैसे ज्वराविष्ट पर-माणुओं का अनुमान मुख को देखकर हो जाता है, वैसे ही तत्व-ज्ञानी मुख की चेष्टा देखकर यह अनुमान कर लेते है कि इसकी आत्मा में क्रोध, भय, काम भाव या अभिमान आदि है। अघातिया कर्मो के फल प्रत्यक्ष प्रगट है । शरीर की रचना उच्च व नीच परमाणुओं से होना नाम व गोत्रकर्म के कार्य है; साताकारी व असाताकारी सामग्री जैसे सुन्दर मकान, पर्याप्त धन, भोजन, वस्त्र, स्त्री, पुत्र, सेवक व दुःखदाई स्थान, अल्प भोजन, फटे वस्त्र, कलह-कारिणी स्त्री, आज्ञा उल्लंघन करने वाले पुत्र व सेवक आदि वेद-नीय कर्म के कार्य है । आयु कर्म का कार्य किसी शरीर में बना रहना है । इन सब पुण्य व पाप रूप बाहरी कार्यो को सब जीवों में विचित्र प्रकार का देखकर यही अनुमान होता है कि ये पुण्य-पाप कर्म के उदय के कार्य है, क्योंकि ये कार्य मूर्तिक है इसलिए इनका कारण भी मूर्तिक है ऐसा अनुमान किया जाता है।

सातावेदनीय कर्म के उदय से ही भोगने योग्य पाचों इन्द्रियों के इष्ट विषय के पदार्थ मिलते है। ये पदार्थ मूर्तिक है. इससे इनका कारण कर्म मूर्तिक है। ये विषय मूर्तिक स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रिय से भोगे जाते है जो कि मूर्तिक है इसलिए इनका कारण कर्म मूर्तिक है। सुख के विदित होने पर शरीर मे हर्ष के

अकुर व मुख पर प्रसन्नता व दुःख के होने पर शरीर में निर्बलता व मुख पर उदासी प्रगट दीखती है क्योंकि ये कार्य मूर्तिक है इसलिए इनका कारण इष्ट व अनिष्ट विषयों मे राग व द्वेष करना मोहनीय कर्म का असर है अतएव मोहनीय कर्म पोद्गलिक है। गाथा का यही आशय है। अमूर्तिक से अमूर्तिक के अन्तरंग विशेष गुणों को बाधा नही पहुँच सकती है, ये मूर्तिक पौद्गलिक ही बाधाकारी है। अशुद्ध आत्मा अनादि काल से अमूर्तिक होकर भी मूर्तिक के समान रूपी हो रहा है क्योंकि कोई भी आत्मा का प्रदेश कर्म बन्ध रहित शुद्ध नही है इसलिए इस मूर्तिक आत्मा पर मूर्तिक कर्मों का असर पड़ता है। सिद्ध भगवान साक्षात् अमूर्तिक है, उनके पास अनन्त कर्मवर्गणाएं मौजूद है किन्तु उनसे नही बंधी हुई तथा वे उनके अनन्त ज्ञानादि स्वभावों मे कुछ भी अन्तर नहीं डाल सकती है। पुद्गलो मे बड़ी शक्ति होती है। बिजली जाति के तैजस वर्गणा से अनन्त गुनी शक्ति कार्माण वर्गणा में है, इसीलिए कर्म के उदय मे बड़ी भारी शक्ति है। सातावेदनीय पुण्य कर्म के आकर्षण से बहुत दूर की इष्ट वस्तु सामने आजाती है। एक मुनि बिना किसी को कहे हुए अटपटी प्रतिज्ञा मन में धारण कर भिक्षा के लिए जाते है, उनके साता वेदनीय पुण्य कर्म के बल से किसी भी गृहस्थ के दिल मे उसी के अनुसार कार्य करने की भावना पैदा हो जाती है अथवा किसी गृहस्थ के तीव्र पुण्य के उदय से जो व्यवस्था गृहस्थ ने की है तथा मुनि को दान करूंगा यह भाव किया है, उसी के अनुकूल प्रतिज्ञा करने का भाव मुनि महाराज के मन में पैदा हो

जाता है। जैसे दण्डकवन में राम, लक्ष्मण, सीता ने मिट्टी के बर्तनों में रसोई बनाई थी और दान के भाव किये थे, तदनुकूल दो मुनि जो उसी वन में आए थे उन्होंने भिक्षार्थ आते हुए मन में यह प्रतिज्ञा करी कि यदि कोई राजपुत्र मिट्टी के बर्तनों में रसोई बनावेगा तब ही आज हम भोजन करेंगे अन्यथा नहीं। मुनि महाराज इसी प्रतिज्ञा को मन में धारकर भिक्षार्थ वन में विहार करते हैं और ठीक वैसा ही निमित्त बन जाता है। बस मुनि को भोजन का लाभ व दातार को पात्रदान का लाभ हो जाता है। इस तरह विचारवान् प्राणी को निश्चय हो जायगा कि यदि कर्म मूर्तिक व पुद्गलकृत नहीं होते तो उनके मूर्तिक कार्य न होते इसलिए कर्मों को मूर्तिक निश्चय करना योग्य है। वास्तव मे पुद्गल कर्म ही इस जीव का घात कर रहा है व भव सागर में भ्रमण करा रहा है। जैसा कि श्रीअमृतचन्द्र स्वामी ने समयसारकलश में कहा है—

> अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये।
> वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः॥
> रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
> चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः॥ १२-२॥

इस जीव के अनादि काल से होने वाले अज्ञानमई नाट्य में वर्णादिमई पुद्गल ही नाच रहा है, अन्य कोई नही अर्थात् उसी की संगति या असर से यह जीव भ्रमण कर रहा है या रागी द्वेषी हो रहा व शरीर आदि की प्राप्ति कर रहा है क्योंकि निश्चय से

यह जीव तो राग द्वेषादि पुद्गल के विकारों से विरुद्ध है, वीतरागी है तथा शुद्ध है और चेतनामई अमूर्तिक धातु की एक आकाश के समान मूर्ति है।

आत्मा कुल-गोत्रादि रहित है —

बाह्यापेक्षे यिनादोड' कुलबलस्थानादि पद्दं मनः-
सह्य' निश्चयदिदंमात्मनकुलं निर्गोत्रि निर्नामि नि-
र्गु'ह्योद्भूतननंगनच्युतननाद्यं सिद्धनेदें बुदे ।
ग्राह्य' तत्परिभाव मे भवहरं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥३२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आत्मा वंश, बल, स्थान आदि से जो प्रेम करता है वह मन को व्यावहारिक रूप से भले ही न्यायसम्मत जान पड़े, किन्तु निश्चित रूप से आत्मा कुल रहित, गोत्र रहित, नाम रहित, नाना योनियों में जन्म न लेने वाला, शरीर रहित, आदि अन्त रहित, सिद्ध स्वरूप ऐसा ग्रहण करने योग्य है। इस प्रकार के भाव से भव संकट का नाश हो सकता है।

कवि ने इस श्लोक में बताया है कि जब तक इस जीव के अन्दर कुल जाति वंशादि का पक्ष रहेगा, इसका राग रहेगा, तब तक आत्म सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए अनादि काल से इस भौतिक शरीर मे जो सुख है इससे भिन्न कुल आदि से शुद्ध आत्मा का ध्यान करना ही योग्य है क्योंकि जीव और कर्म अनादि काल से मित्र के नाते दोनों साथ साथ चले आ रहे हैं। इसलिए

ज्ञानी जीव को पर द्रव्य से भिन्न अपने आत्म स्वरूप का चिन्तन ही श्रेष्ठ है।

विवेचन— जीव और अजीव दोनों ही अनादि काल से एक क्षेत्रावगाह संयोग रूप मे मिल रहे है और अनादि काल से ही पुद्गलो के संयोग से जीव की विकार सहित अनेक अवस्थाएं हो रही है। यदि निश्चय नय की दृष्टि से देखा जाय तो जीव अपने चैतन्य भाव और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़पने को नही छोड़ता। परन्तु जो निश्चय या परमार्थ को नही जानते है वे संयोग से उत्पन्न भावों को जीव के मानते है। अत. असद्व्यवहार नय की दृष्टि से वश, वल, शरीर आदि आत्मा के है, परन्तु निश्चय दृष्टि से इनका कोई सम्बन्ध नही।

यह आत्मा कभी न घटती बढ़ती है न इसमें किसी भी प्रकार की विकृति आती है, इसका कर्मो के साथ भी कोई सम्बन्ध नही है। यह सदा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप है। शुद्ध निश्चय नय से इसमें ज्ञानावरणादि आठ कर्म भी नही हैं, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि अठारह दोषों के कारणों के नष्ट हो जाने से ये कार्य रूप दोष भी इसमे नहीं है। सत्ता चैतन्य आदि शुद्ध प्राणों के होने से इन्द्रियादि दस प्राण भी नही है। इसमें रागादि विभाव भाव भी नहीं है। मनुष्य इस प्रकार की निश्चय दृष्टि द्वारा अपनी आत्म-रुचि को बढ़ा सकता है तथा जो विषयों की प्रतीति हो रही है उसे कम कर सकता है।

यद्यपि यह संसारी जीव व्यवहार नय की दृष्टि द्वारा ज्ञान के

अभाव से उपार्जन किये ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों के निमित्त से नाना प्रकार की नर नरकादि पर्यायों मे उत्पन्न होता है, विनशता है और आप भो शुद्ध ज्ञान से रहित हुआ कर्मो को वाधता है। इतना सब कुछ होने पर भी शुद्ध निश्चय नय द्वारा यह जीव शक्ति की अपेक्षा से शुद्ध ही है। कर्मो से उत्पन्न नर नरकादि पर्याय रूप यह नहीं है। केवल यह व्यवहार का खेल है, उसकी अपेक्षा कार्य कारण भाव है। व्यवहार के निकलते ही इस जीव को अपनी प्रतीति हो जाती है तथा यह अपने को प्राप्त कर लेता है।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव नित्य है, शुद्ध है, शाश्वत चैतन्य रूप है, ज्ञानादि गुण इसमें वर्तमान है, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जोव उत्पन्न होता है, नाश होता है। कुटुम्ब, वंश, पुत्र, बन्धु आदि की कल्पना करता है। अध्यवसान विपरीत श्रद्धान द्वारा इस जीव ने पुद्गल द्रव्य के सयोग से हुए परिणमन को अपना समझ लिया है तथा उसके विकृत परिणामों को अपना मानने लगा है। जैसे समुद्र की आड़ में कोई चोज आ जाने पर जल दिखलायी नही पड़ता है और जव आड़ दूर हो जाती है तो जल दिखलायी पड़ने लगता है इसी प्रकार आत्मा के ऊपर जब तक भ्रम का आच्छादन रहता है, उसका वीतराग, शान्त स्वरूप दिखलायी नही पड़ता है और आच्छादन के दूर होने पर आत्मा दिखलायी पड़ने लगता है। अतः साधक अपनी आत्मा का कल्याण इसी निश्चय और व्यवहार दृष्टि को समझ कर ही कर सकता है जब तक उसकी दोनों दृष्टियाँ परिष्कृत नहीं होती, वास्तविकता

उसकी समझ में ही नहीं आती है।

इस जीवात्मा को अपने को ही हितकारी ग्रहण करना चाहिए—

पच्चं गोडडे कोळगे जीव हित मुळ्ळाचार मुळ्ळग्रदोळ् ।
मोचक्कैदिसलार्प सत्कुलसुधर्मश्रीय नेतन्नदु- ॥
दमचद्दं पदे कोन्य कुत्सितद शीलं वळ्तु सार्दात्मरं ।
मिचुंगे-पव्व यनात्मने के पिडिवं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥३२

हे रत्नाकराधीश्वर !

जीवात्मा को आत्म-हित की दृष्टि से उत्तम आचरण मोक्ष को प्राप्त करने के लिए समर्थ अच्छा कुल, श्रेष्ठ धर्म और सम्पत्ति आदि प्राप्त करने में कोई हर्ज नहीं है। इस तरह से ग्रहण करने के बाद अगर वह सत्कुल सम्पत्ति अच्छी तरह से खाने पीने में या राग-द्वेष बढ़ाने में या इन्द्रिय भोगों की वृद्धि करने में, दूसरे की हिंसा करने में, मद्य व्यसन बढ़ाने में, अनाचार में उसका उपयोग होता हो तो ऐसे सत्कुल, सत्य धर्म, अनेक गुण सम्पत्ति से क्या लाभ? अच्छे अच्छे भोजन की इच्छा रखने वाला, द्वेष और हिंसा से युक्त निकृष्ट आचरण को प्राप्त होकर याचना करने वाला यह जीव हित का उपदेश कब ग्रहण करेगा?

कवि ने इस श्लोक में सत्कुल, सज्जाति, इनके अनुकूल भावना इत्यादि प्राप्त होने के बाद उसका उपयोग अपने भावी सुख के लिए करना मनुष्य जन्म का कर्तव्य बताया है। अनादि काल से अज्ञान के कारण अशुभ कर्म के उदय से निंद्य पर्यायों में जन्म

लेकर यह अनन्त काल तक पड़ा रहा परन्तु वहाँ-स्व पर ज्ञान करके आत्म चर्चा करने की भावना नही हुई। ऐसी भावना उत्पन्न करने वाली एक मनुष्य पर्याय ही है। मनुष्य पर्याय में अगर उत्तम कुल प्राप्त हो जाय, तो वहाँ संभवतः इहलोक और परलोक में सुख की प्राप्ति की भावना हो सकती है। अगर नीच पर्याय में जन्म ले तो यह मानव अशुभ पाप क्रिया करने में रत हो जाता है और हित-अहित के विचार का उसको भेद नहीं रहता है। इसलिए जब भव्य मानव प्राणी ने संसार में ऐसे उच्च कुल में। जन्म ले करके बाह्य सम्पत्ति इत्यादि सामग्री प्राप्त की है तो उसक सदुपयोग करना चाहिए, आत्म साधन में उसको हमेशा लगान चाहिए। अशुद्ध परिणाम से आत्मा इस संसार में अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। इसका कारण मिथ्यात्व है। आत्मा अनादि काल से अखण्ड अविनाशी एक अमूर्तिक वस्तु है, ज्ञान दर्शन चेतनामय है, तो भी शुभ और शुद्ध भाव से शुद्धता को प्राप्त हो जाता है। इसके बारे में कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है कि—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसुगदी ॥१२८॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विषयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

वास्तव में जो कोई संसार में भ्रमण करनेवाला अशुद्ध आत्मा है उससे ही अशुद्ध भाव होता है। अशुद्ध भाव से कर्मों का बंध होता है, उन कर्मों के उदय से चार गतियों में से कोई गति प्राप्त होती है। गति को प्राप्त होने वाले जीव के स्थूल शरीर होता है। देह के सम्बन्ध से इन्द्रियां पैदा होती है । उन इन्द्रियों से ही उनके योग्य स्पर्शनादि विषयों का ग्रहण होता है। उस विषय के ग्रहण से राग या द्वेषभाव होता है । इस संसार रूपी चक्र के परिभ्रमण में राग द्वेष युक्त जीव के इसी प्रकार अशुद्ध भाव उपजता रहता है। ऐसा जिनेन्द्रदेवों ने कहा है । यह अवस्था अभव्यों की अपेक्षा अनादि से अनन्त काल तक रहती है तथा भव्यों की अपेक्षा यह अनादि होकर भी अन्त सहित है।

यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारी है। तथापि व्यवहार नय से अनादि काल से कर्म बन्ध में होने के कारण यह जीव अपने ही अनुभवगोचर अशुद्ध भाव करता हैं । इस अशुद्ध भाव से कर्मों से रहित व अनन्तज्ञानादि गुणमई आत्मा के स्वभाव को ढकने वाले पुद्गलमई ज्ञानावरण आदि कर्मों को बांधता है। इन कर्मों के उदय से देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच इन चार गतियों में से किसी में गमन करता है। वहाँ शरीर रहित चिदानंदमई एक स्वभाव रूप आत्मा से विपरीत किसी स्थूल शरीर की प्राप्ति होती है। उस शरीर के द्वारा अमूर्त अतीन्द्रिय परमात्म स्वरूप से विरोधी इन्द्रियाँ पैदा होती है। इन इन्द्रियों से ही शुद्ध आत्मा के ध्यान से उत्पन्न जो वीतराग परमानंदमई एक स्वरूप

सुख है उससे विपरीत पंचेन्द्रियों के विषय सुख में परिणमन होता है। इसी के द्वारा रागादि दोष रहित व अनन्त ज्ञानादि गुणों के स्थानभूत आत्म तत्व से विलक्षण राग और द्वेष पैदा होता है। राग द्वेष रूप परिणामों के निमित्त से फिर भी पूर्व के समान कर्मों का बंध होता है।

इस तरह रागादि परिणामों का और कर्मों के बध का जो परस्पर कार्य-कारण भाव है, वही आगे कहे जाने वाले पुण्य, पाप आदि पदार्थों का कारण है, ऐसा जान कर पूर्व में कहे हुए संसार चक्र के विनाश करने के लिए अव्याबाध अनन्त सुख आदि गुणों के समूह अपने आत्मा के स्वभाव में रागादि विकल्पों का त्याग कर भावना करनी योग्य है।

यह जीव किसी अपेक्षा परिणमनशील है । इसलिए अज्ञानी जीव विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञान को न पाकर पाप पदार्थ के आस्रव और बध का कर्ता हो जाता है। कभी मंद मिथ्यात्व के उदय से देखे; सुने, अनुभव किये हुए भोगों की इच्छा रूप निदान बंध से परम्परया पाप को लाने वाले पुण्य पदार्थ का भी कर्ता हो जाता है। किन्तु जो ज्ञानी जीव है वह विकार रहित आत्मतत्व में रुचि रूप तथा उसके ज्ञान रूप और उसी में निश्चल अनुभवरूप से रत्नत्रयमई भाव के द्वारा संवर, निर्जरा, तथा मोक्ष पदार्थों का कर्ता होता है और पूर्व में कहे हुए अभेद या निश्चय रत्नत्रय में ठहरने को असमर्थ होता है तब निर्दोष परमात्म. स्वरूप अर्हन्त व सिद्ध तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु इनकी

पूर्ण व विशेष भक्ति करता है जिससे वह संसार के नाश के कारण व परम्परा से मुक्ति के कारण तीर्थंकर प्रकृति आदि विशेष पुण्य प्रकृतियों को बिना इच्छा के व निदान परिणाम के बांध लेता है। इन प्रकृतियों का बंध भविष्य में भी पुण्य बंध का कारण है। इस तरह वह पुण्य पदार्थ का कर्ता होता है। इस प्रकार से अज्ञानी जीव पाप, पुण्य, आस्रव व बंध इन चार पदार्थों का कर्ता है तथा ज्ञानी जीव संवर, निर्जरा व मोक्ष इन तीनों पदार्थों का मुख्यपने कर्ता है, ऐसा भाव है।

प्रत्येक जीव सुख चाहता है, इसकी प्राप्ति के लिए वह नाना प्रकार के यत्न करता है। संसार के जितने भी कार्य हैं, वे सब सुख की प्राप्ति के लिए ही किये जाते हैं, सभी कार्यों के मूल में सुख प्राप्ति की भावना अन्तर्निहित रहती है। जब साधक में संसार के मोहक विषयों के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाती है तो वह वास्तविक सुख प्राप्ति के लिए यत्न करता है। वह विषय भोग को निस्सार समझ कर अतीन्द्रिय सुख प्राप्ति की चेष्टा करता है तथा संसार में भ्रमण कराने वाले मिथ्या चारित्र को छोड़ सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होता है।

सम्यक् चारित्र के दो भेद हैं– वीतराग चारित्र और सराग चारित्र। जिस चारित्र मे कषाय का लवलेश भी नही रहता है तथा जो आत्म-परिणाम स्वरूप है, उसे वीतराग चारित्र कहते है। इस चारित्र के पालने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो चारित्र कषायों के अंशों के मेल से आत्मा के गुणों का घात करने वाला है, वह

सराग चारित्र होता है। सराग चारित्र से पुण्य बंध होता है, जिससे इन्द्र, अहमिन्द्र आदि की प्राप्ति होती है। सराग चारित्र बंध का कारण है, यह सुख स्वरूप नहीं, इसके पालन करने से परम सुख की प्राप्ति नही हो सकती है। अतः आत्म विकास की अवस्था में पूजन पाठ, भक्ति आदि सराग चारित्र त्यागने योग्य है।

वीतराग चारित्र वस्तु का स्वभाव है। वीतराग चारित्र, निश्चय चारित्र, धर्म, समपरिणाम ये सब एकार्थवाचक है और मोहनीय से भिन्न विकार रहित सुखमय जो आत्मा का स्थिर परिणाम है वही इसका सवमान्य स्वरूप है। इसी कारण वीतराग चारित्र ही आत्म स्वरूप कहा जाता है, क्योंकि जब जिस प्रकार के भावों से युक्त यह आत्मा परिणमन करता है, उस समय वीतराग चारित्र रूप धर्म सहित परिणमन करने के कारण यह चारित्र आत्म स्वरूप में ही व्यक्त होता है। अतः आत्मा और चारित्र इन दोनों में ऐक्य है। कुन्दकुन्द स्वामी ने वीतराग चारित्र को ही सबसे बड़ा धर्म माना है और इसको परम सुख का कारण बताया है। जीव के लिए आराध्य यही चारित्र है —

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥
परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥
जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।

सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥
धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥

निश्चय से दर्शन मोह और चारित्र मोह रहित तथा सम्यग्दर्शन और वीतरागता सहित जो आत्मा का निज भाव है, वही साम्य भाव है। आत्मा जब सम्यग्दर्शन,ज्ञान, चारित्र रूप परिणमन करता है, तब जो भाव स्वात्मा सम्बन्धी होता है, 'उसे ही समता-भाव या शान्त भाव कहते है। यही संसार से उद्धार करने वाला धर्म है। आत्मा जब परभाव में परिणमन न करके अपने स्वभाव में परिणमन करता है, तब आत्मा ही धर्म बन जाता है। राग-द्वेष और मोह संसार है, इसे दूर करने के लिए वीतराग चारित्र की परम आवश्यकता है। आत्मा में ज्ञानोपयोग मुख्य है, इसी के द्वारा आत्मा में प्रकाश आता है तथा इसी के द्वारा जीव आप और पर को जानता है। जिस समय आत्मा उदासीन होकर पर पदार्थों को जानना छोड़ देता है, तब आप ही ज्ञाता और आप ही ज्ञेय बन जाता है। यही सच्चा सुख है। इसी के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

संसार में निश्चय दृष्टि से आत्म सुख ही सुख है—

ओंदोदात्मने शुद्धदि त्रिजगदापूर्णाकृतंगळ् जग-
द्वृंदोत्कंपित शक्तिगळ्परर्ग शक्यंगळ्जगत्कर्तृगळ् ॥
तंदिंतेन्लवनार्द्रचर्म दोड लोळ्तळ्ताने पेणशववा-
लिदें भागुशो पाप पुण्य युगल रत्नाकराधीश्वरा ! २४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शुद्ध निश्चय दृष्टि से एक आत्मा ही तीनों लोकों को व्याप्त करके रहने वाला आकार स्वरूप है। तीनों लोकों को हिला देने की शक्ति आत्मा में है। आत्मा दूसरों से जीता नहीं जा सकता। कार्माण शरीर आत्मा को गीले चमड़े में घुसा कर अर्थात् स्थूल शरीर धारण कराकर हाथी, घोड़ा, नौकर आदि ऐसे अनेक नाम देता रहता है, कितना आश्चर्य है।

जीव असख्यात प्रदेशमय है और समस्त लोक को व्याप्त करके भी रह सकता है। इस जीव में अपार शक्ति है, यह अपनी शक्ति के द्वारा तीनों लोको को कम्पित कर सकता है। इसके गुण अनन्त और अमूर्त है, यह इन्ही गुणो के कारण विविध प्रकार के परिणामो का अनुभव करता है। यह चेतनायुक्त बोध व्यापार से सम्पन्न है। इसकी शक्ति सर्वथा अजेय है, कभी भी यह परतन्त्र नहीं हो सकता है।

संसारी जीव की पर्यायें बदलती रहती हैं, अज्ञान या मिथ्यात्व के कारण विविध प्रकार की क्रियाएं होती हैं। इन क्रियाओं के कारण ही इसे देव, मनुष्य आदि अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। जब यह शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है तो इसे देव असुर आदि पर्यायों से छुटकारा मिल जाता है। जीव को शरीर आदि का देने वाला नाम कर्म है। यह आत्मा के शुद्ध भाव आच्छादित कर नर, तिर्यंच, नरक और देव गति में ले जाता है। जीव का विनाश कभी नही होता है, किन्तु एक पर्याय नष्ट होकर

दूसरी पर्याय . उत्पन्न होती है।

समस्त लोक में सर्वत्र कार्माण वर्गणाएं—पुद्गल द्रव्य के छोटे छोटे परमाणु तथा उनके संयोग से उत्पन्न सूक्ष्म स्कन्ध व्याप्त हैं। आत्मा इनमें से कई एक परमाणु या स्कन्धों को कर्म रूप से ग्रहण करता है। इन नाना स्कन्धों मे से, जो कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता रखते हैं, वे जीव के राग द्वेष परिणामों का निमित्त पाकर कर्म रूप में परिणत हो जाते है और जीव के साथ उनका बन्ध हो जाता है। कर्मबन्ध के कारण जीव नरक, तिर्यंच आदि गतियों मे भ्रमण करता है। गतियों के कारण इसे शरीर की प्राप्ति होती है। शरीर से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषय ग्रहण और विषय ग्रहण से राग द्वेष की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध जीव इस प्रकार सांसारिक भूल भुलैया में पड़ कर अशुद्ध भावों की परम्परा अर्जित करता रहता है।

जीव को औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, आहारक और कार्माण ये पांच प्रकार के शरीर मिलते है। जो स्थूल शरीर बाहर से दिखलाई पड़ता है, सप्त धातुमय है, तथा रोग, बीमारी आदि के कारण जिस शरीर में वृद्धि ह्रास होता है, वह औदारिक है। छोटा-बड़ा, एक-अनेक आदि विविध रूप धारण करने वाला शरीर वैक्रियिक शरीर कहलाता है। यह शरीर देव और नारकियो को जन्म से अपने आप मिल जाता है तथा अन्य जीवों को तपस्या आदि की साधना द्वारा प्राप्त होता है। भोजन किये गये आहार को पचाने वाला और शरीर की दीप्ति का कारणभूत तैजस

शरीर कहलाता है। शास्त्रों के ज्ञाता मुनि द्वारा शंका समाधान के निमित्त सर्वज्ञ गमन करने वाला तीर्थंकर के पास भेजने के अभिप्राय से रचा गया शरीर आहारक कहलाता है। जीव के द्वारा बन्धे हुए कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते है। प्रत्येक जीव में इस स्थूल शरीर के साथ कार्माण और तैजस ये दो सूक्ष्म शरीर अवश्य रहते है। मनुष्यों को नाम कर्म के कारण यह शरीर ग्रहण करना पड़ता है।

जीव जिस भाव से इन्द्रियगोचर पदार्थों को देखता है और जानता है, इससे वह प्रभावित होता है, अनुराग करता है, वैसे ही कर्मो के साथ सम्बन्ध कर लेता है। जीव की यह प्रक्रिया अनादि काल से चली आ रही है। अतः अब भेद विज्ञान द्वारा इस बन्धन को तोड़ना चाहिए।

जीव अनादि काल से अखण्ड अविनाशी है इसलिए उसको भेद विज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करना ही कठिन है। आचार्य कुन्दकुन्दजी ने कहा है कि—

> एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
> धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१००॥

भेद विज्ञानी मै इस तरह आत्मा को मानता हूं. कि आत्मा परभावों से रहित निर्मल है, निश्चल एक रूप है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनमयी है, अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से सबका ज्ञाता महान पदार्थ है, अपने स्वरूप में निश्चल है, पर द्रव्य के आलंबन से रहित

स्वाधीन हूं । इस प्रकार शुद्ध टंकोत्कीर्ण आत्मा को अविनाशी वस्तु मानता हूं ।

आत्मा किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिए अनादि, अनन्त, शुद्ध, स्वतः सिद्ध, अविनाशी है, और दूसरी कोई भी वस्तु ध्रुव नहीं है। यह आत्मा अपने स्वभाव से एक स्वरूप है । इस कारण शुद्ध है। यह ज्ञान दर्शन गुणमयी है, इसमें परद्रव्य से जुदापना है, अपने धर्म से जुदा नहीं है, इस कारण एक है। निश्चय से एक स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द रूप विषयों को ग्रहण करने वाली जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, उनको त्यागकर अपने अखण्ड ज्ञान से एक ही समय इन पांच विषयों का ज्ञाता यह आत्मा महा पदार्थ है, इसलिए इस आत्मा का पाँच विषयरूप पर द्रव्य से जुदापना है, परन्तु इनके जानने रूप स्वभाव से जुदापना नहीं है, इसलिए भी यह एकरूप है । इसी प्रकार यह आत्मा समय समय विनाशीक ज्ञेयपदार्थों के ग्रहण करने और त्यागने वाला नहीं है, अचल है, इस कारण इसके ज्ञेयपर्यायरूप परद्रव्य से जुदापना है, उसके जानने रूप भाव से जुदापना नहीं है, इसलिए भी एक है, और अन्य भाव सहित ज्ञेय पदार्थों के अवलंबन का अभाव है। यह आत्मा तो स्वाधीन है, इस कारण इसके ज्ञेय पदार्थों से भिन्नपना है, परन्तु इनके जानने रूप भाव से जुदापना नहीं है, इससे भी एक रूप है। इस प्रकार अनेक परद्रव्यों के भेद से अपनी एकता को नहीं छोड़ता है, इस कारण शुद्ध नय से शुद्ध चिन्मात्र वस्तु है, यही एक टंकोत्कीर्ण ध्रुव है, और अंगीकार करने योग्य है । जैसे मार्ग में गमन करते हुये

पथिक-जनो को अनेक वृक्षों की छाया विनाशीक और अध्रुव होती है, उसी प्रकार इस आत्मा के पर द्रव्य के सम्बन्ध से अनेक अध्रुव भाव उत्पन्न होते है, उनसे कुछ साध्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए एक नित्य स्वरूप यही अवलंबन योग्य है, बाकी सब त्याज्य है।

पाप बीज नरक के कारण और पुण्य बीज स्वर्ग के कारण हैं—

पापं नारक भूमिगोय् वदसुवं पुण्यं दिवक्कोय् वुदा।
पापं पुण्यमिवोंदु गूडिदोडे. तिर्दङ् मर्त्य जन्मंगलोळ.॥
रूपं माळ्कुमिवेल्ल मधुममिवे जन्मक्के सार्चि गोडल्।
पापं पुण्यमिवात्म बाह्यकवला रत्नाकराधीश्वरा! ॥३५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पाप जीव को नरक की ओर और पुण्य स्वर्ग की ओर ले जाता है। पाप और पुण्य दोनों मिलकर तिर्यंचगति और मनुष्य गति मे उत्पन्न करते है, पर यह सभी अनित्य है। पाप और पुण्य ही जन्म मरण के कारण हैं। क्या यह सब आत्मा के बाहर की चीज नहीं है ?

कवि ने इस श्लोक में पाप और पुण्य को ही जीव के सुख दुःख का कारण बताया है। यह पाप पुण्य ही ससार में मनुष्य को भ्रमण करने का कारण है। ये मनुष्य को कभी तिर्यंच, कभी देव, कभी पशु, कभी नारक इस तरह से करा देते है। सप्त तत्व मे पाप और पुण्य मिलाने से नौ पदार्थ होते है। वे ही चार गति के कारण होते है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है कि—

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा॥

जीव और अजीव पदार्थ तथा पुण्य और पाप और उनका आस्रव तथा संवर, निर्जरा, वन्ध व मोक्ष ये नौ पदार्थ होते है।

यहाँ इन नौ पदार्थों का कुल स्वरूप कहते हैं। देखना जानना जिसका स्वभाव है वह जीव पदार्थ है। उससे भिन्न लक्षण वाला पुद्गल आदि के पांच भेद रूप अजीव पदार्थ है। दान, पूजा आदि छह आवश्यकों को आदि लेकर जीव का शुभ भाव सो भाव पुण्य है, इस भाव पुण्य के निमित्त से उत्पन्न जो सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृति रूप पुद्गल परमाणुओं का पिंड सो द्रव्य पुण्य है। मिथ्या-दर्शन व राग आदि रूप जीव का अशुभ परिणाम सो भाव पाप है उसके निमित्त से प्राप्त जो असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृति रूप पुद्गल का पिंड सो द्रव्य पाप है। आस्रव रहित शुद्ध आत्मा पदार्थ से विपरीत जो राग द्वेष मोह रूप जीव का परिणाम सो भाव आस्रव है, इस भाव के निमित्त से कर्म-वर्गणा के योग्य पुद्गलों का योगों के द्वारा आना सो द्रव्यास्रव है। कर्मों के रोकने में समर्थ जो विकल्प रहित आत्मा की प्राप्ति रूप परिणाम सो भाव संवर है। इस भाव के निमित्त से नवीन द्रव्य कर्मों के आने का रुकना सो द्रव्य संवर है। कर्म की शक्ति मिटाने को समर्थ जो वारह प्रकार के तपों से वढ़ता हुआ शुद्धोपयोग सो संवर पूर्वक भाव निर्जरा है।

इस शुद्धोपयोग के द्वारा रस रहित होकर पुराने बंधे हुए कर्मों का एकदेश जल जाना सो द्रव्य निर्जरा है । प्रकृति आदि बंध से शून्य परमात्म पदार्थ से प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन व राग आदि रूप चिकना भाव सो भाव बंध है। इस भाव बंध के निमित्त से जैसे तेल लगे हुए शरीर में धूल जम जाती है वैसे जीव और कर्म के प्रदेशों का एक दूसरे में मिल जाना सो द्रव्य बन्ध है। कर्मों को मूल से हटाने में समर्थ जो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति रूप जीव का परिणाम सो भाव मोक्ष है। इस भाव मोक्ष के निमित्त से जीव और कर्म के प्रदेशों का सम्पूर्ण रूप से भिन्न हो जाना सो द्रव्य मोक्ष है। यह गाथा का अर्थ है।

इस गाथा में नौ पदार्थों के नाम अर्थ सहित कहे गए हैं। ये बहुत आवश्यक हैं। क्योंकि जो संसारी जीव है, वह अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक दुःखों से पीड़ित होकर उनसे छूटना चाहता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह जाने कि संसार रोग बढ़ने का कारण क्या है व किस कारण से रोग की वृद्धि को रोका जा सकता है व कैसे पुराना रोग दूर किया जा सकता है तथा नीरोग अवस्था में कैसा सुख रहता है। तथा संसार में जो सुख दुःख भोगना पड़ता है उसका कारण क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर रूप वास्तव में ये नौ पदार्थ हैं। पुण्य और पाप पदार्थ वास्तव में आस्रव बन्ध में गर्भित है, इसलिए कहीं मात्र सात तत्व ही प्रयोजनभूत कहे गये हैं। जीवों को सुख का कारण पुण्य कर्म है व दुःख का कारण पाप कर्म है, इस बात को विशेष

रूप से व विस्तार पूर्वक बताने के लिए पुण्य और पाप दो पदार्थ कहे गये हैं। क्योंकि जितना वचन का विस्तार है सो सब समझने समझाने के लिए है । संग्रहनय से संक्षेप कथन किया जाता है, व्यवहारनय से उसी का विस्तार इच्छानुसार व शिष्य की योग्यता के अनुसार कम व अधिक किया जा सकता है।

आठ कर्म मूल कर्म है उनमे जो आत्माके गुणों को घाते, ऐसे चार घातिया कर्म अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह पाप कर्म ही है । इनमें पुण्यपना रंचमात्र भी नहीं है शेष चार अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप के भेद होते हैं। साता वेदनीय, शुभ नाम, उच्चगोत्र, व शुभ आयु पुण्य कर्म हैं जब कि असाता वेदनीय, अशुभ नाम, नीच गोत्र व अशुभ आयु पाप कर्म हैं। बाहरी साताकारी व असाताकारी निमित्तों का सम्बन्ध मिलाना इन अघातिया कर्मों का कार्य है। जीव का स्वरूप अजीव से भिन्न है । और अजीव से भिन्न अन्य विश्व में क्या क्या है यह बताकर जिनके कारण यह जीव अशुद्ध या रोगी होता है वे कर्म पुद्गल द्रव्य रूप जड़ हैं, जीव के स्वभाव से भिन्न है, अजीव हैं ऐसा समझाया है। जीव की सत्ता में बंध के सन्मुख होने के योग्य शक्ति के द्वारा इन जड़ कर्म वर्गणाओ का हो जाना यह बताने को आस्रव है। फिर उन्हीं का जीव के प्रदेशों के साथ बंध रूप होकर मिल जाना अर्थात् जीव को कुछ काल तक बंध रूप मलिन रखना, इसके बताने के लिए बंध पदार्थ है। वास्तव में आस्रव और बंध पदार्थों से ही यह ज्ञान होता है कि किन भावों से

जीव अशुद्ध होता है। फिर संसार रोग मिटाने के लिए नया कर्म रूपी रोग रोका जाय इसके लिए संवर पदार्थ कहा है—पुराने बंधे हुए कर्म समय से पहले शीघ्र आत्मा से छुड़ा डाले जावें इसे बताने के लिए निर्जरा पदार्थ कहा है। रोग रहित अवस्था बताने को मोक्ष पदार्थ कहा है कि मोक्ष में जीव अपने आत्मा की शुद्ध अवस्था में सदा काल विद्यमान रहता है। इन नौ पदार्थों के ज्ञान से अपना हित करने का मार्ग सूझ जाता है।

यदि निश्चय नय से देखा जाय तो इन नौ पदार्थों में केवल दो ही द्रव्यों का संबंध है-जीव और पुद्गल का। इसीलिए आस्रव आदि पदार्थों के दो दो भेद बताए हैं। जैसे जीव आस्रव या भाव आस्रव तथा पुद्गल आस्रव या द्रव्य आस्रव, जीव बंध या भाव बंध तथा पुद्गल बंध या द्रव्य बंध, जीव संवर या भाव संवर, पुद्गल संवर या द्रव्य संवर, जीव निर्जरा या भाव निर्जरा, पुद्गल निर्जरा या द्रव्य निर्जरा, जीव मोक्ष या भाव मोक्ष, पुद्गल मोक्ष या द्रव्य मोक्ष, जीव पुण्य या भावपुण्य, पुद्गल पुण्य या द्रव्य पुण्य, जीव पाप या भाव पाप, पुद्गल पाप या द्रव्य पाप। जिन जीवों के भावों से पुद्गल में परिणमन होता है उनको भाव आस्रव आदि कहा है। व जिनमें परिणमन होता है उन पुद्गलों को द्रव्य आस्रव आदि कहा है। जीव और पुद्गल दोनो परिणमनशील है व जहाँ तक जीव अशुद्ध है वहाँ तक जीव के भावों का असर पुद्गल की परिणति (तबदीली) में व पुद्गल का असर जीव के भावों की परिणति में हो सकता है। जो केवल एक ही द्रव्य मानते हैं, उनके

मत में बन्ध व मोक्ष या मोक्ष क ाउपाय कुछ भी नहीं बन सकता है। जैसा स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा है —

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

एक ही द्रव्य मानने से पुण्य-पाप, कर्म का सुख-दुःख फल यह लोक-परलोक, ज्ञान व अज्ञान, बन्ध व मोक्ष इन सब का जोड़ा कभी नहीं बन सकता है । जीव और पुद्गल का मिश्रण संसार है और दोनों का पृथक हो जाना मोक्ष है । स्वामी कुन्द-कुन्द महाराज ने समयसार आदि में दो द्रव्यों की आवश्यकता बता दी है। कहा है—

एक्कस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥ १४६ ॥
एक्कस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीव भावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥ १४७ ॥

यदि एक मात्र इस जीव के ही रागादि भाव होते हैं ऐसा मानेंगे तो यह दोष आवेगा कि कर्म के उदय के विना भी जीव के रागादि भाव हो जाया करेंगे, तब कोई मुक्तात्मा भी सदा वीत-रागी नहीं रह सकेगा, उसके भी रागद्वेष भाव हो सकेंगे और यदि एक पुद्गल द्रव्य अपने आप ही विना जीव के भाव के निमित्त के कर्म रूप हो जाया करे तो पुद्गल ही कर्ता हो जायेगा, जीव के रागादि भावों का कुछ कार्य न रहेगा। प्रयोजन यह है कि जीव

और पुद्गल यद्यपि अपने अपने परिणमन में आप ही उपादान कारण हैं तथापि एक दूसरे के अशुद्ध परिणमन में एक दूसरे का निमित्त सहायपना आवश्यक है। पुद्गल कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के अशुद्ध भाव होते हैं। व जीव के अशुद्ध भावों के निमित्त से पुद्गल कर्मवर्गणा पिंड ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप बंधता है। जब ज्ञानी जीव अपने पुरुषार्थ को सम्हालता है तथा शुद्ध भावों में रमण करने लगता है तब कर्मवर्गणा स्वयं आत्मा से अलग होने लगती हैं और यह जीव कभी न कभी शुद्ध और मुक्त हो जाता है। जहाँ ममत्व है वहाँ बंध है, जहाँ निर्ममत्व है वहाँ मोक्ष है। जैसा कि स्वामी पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में कहा है —

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

जो ममता सहित जीव है वह बंधता है तथा जिसने ममता छोड़ दी है वह मुक्त हो जाता है इसलिए सर्व प्रयत्न करके ममत्व रहित भाव का विचार करना चाहिए।

इस तरह जीव अजीव आदि नव पदार्थों के नव अधिकार इस ग्रंथ में हैं, इस सूचना की मुख्यता से यह गाथा सूत्र समाप्त हुआ।

सुकृतं दुष्कृतमुं समानमदनन्यमेंच्चरेकेंदोडा ।
सुकृतं स्वर्गसुखक्के कारण मेनल्लत्सौख्यमे' नित्यमो ॥
विकृतं गोंडळिवंदळल्जनिसदो स्वप्नंवोलें माजदो ।
प्रकृति प्रांतिपगे नूंकदो पिरिददें रत्नाकराधीश्वरा ! ॥२६॥

हे रत्नाकराधीश्वर ! -

पाप और पुण्य दोनों समान है ऐसी बातों को अन्य मत वाले नही मानते हैं। उनके पुण्य स्वर्ग के लिए कारण है ऐसा कहने से क्या वह सुख निमित्तक है ? विकार को प्राप्त होकर मरते समय क्या दुःख उत्पन्न नहीं होता है ? स्वप्न के समान उस स्वर्ग का सुख नाश नहीं होता। वह सुख कर्म प्रकृति की प्राप्ति को तरफ ले नही जाता। इसलिए वह पुण्य के महत्व को प्राप्त कर देगा ? नहीं, इसलिए वह पुण्य भी सुख के लिए कारण नहीं है। उसका भी त्याग करने योग्य है। जैसे पाप को पाप समझ कर त्याग देते है, उसी प्रकार पुण्य भी पाप का कारण हो सकता है, इसलिए दोनो का ही त्याग करना चाहिए ऐसा आपका अभिप्राय है।

पाप और पुण्य दोनों ही क्षणभंगुर के समान है। इसलिए आचार्य कहते है कि मानव को क्षणभंगुर के लिए प्रयत्न करना निष्फल है। इस वस्तु को अनेक वार प्राप्त किया और अनेक वार छोड़ते आ रहे हैं। इसलिए शरीर सम्बन्धी वाह्य जितने पर पदार्थ हैं वे कोई संसार में जीव को सुखमयी बनाने वाले नही है। दोनों ही दुःख के कारण हैं। इसलिए पुण्य को महत्व नही दिया गया है। इसके बारे में अमितगति आचार्य ने अपनी तत्वभावना में बताया है कि जगत के क्षणभंगुर पदार्थ के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है।

अज्ञान रूप होने से पुण्य-पाप दोनों समान है। ये एक ही पुद्गल वृक्ष के फल हैं, अन्तर इतना ही है कि एक फल मीठा है तो

दूसरा खट्टा। फल रूप से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पुण्य के उदय से स्वर्गिक सुखों के प्राप्त हो जाने पर भी वे सुख शाश्वत नहीं होते। इन सुखों में नाना प्रकार की बाधाएं आती रहती हैं, अतः अनित्य पुण्य जनित सुख भी आत्मा से बाहर होने के कारण त्याज्य है। परमात्म प्रकाश के टीकाकार ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है —

एष जीवः शुद्धनिश्चयेन वीतरागचिदानन्दैकस्वभावोऽपि पश्चात्व्यवहारेण वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदनाभावेनोपार्जित शुभाशुभं कर्म हेतुं लब्ध्वा पुण्यरूपः पापरूपश्च भवति। अत्र यद्यपि व्यवहारेण पुण्यपापरूपो भवति, तथापि परमात्मानुभूत्यविनाभूतवीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रबहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना तस्या भावनाकाले साक्षादुपादेयभूतवीतरागपरमानन्दैकरूपो मोक्षसुखाभिन्नत्वात् शुद्धजीव उपादेय इति।

यह जीव शुद्ध निश्चय नय से वीतराग चिदानन्द स्वभाव है, तो भी व्यवहार नय से वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव से रागादि रूप परिणमन करता हुआ शुभ, अशुभ कर्मों के कारण पुण्यात्मा तथा पापी बनता है। यद्यपि यह व्यवहार नय से पुण्य-पाप रूप है, तो भी परमात्मा की अनुभूति से तन्मयी जो वीतराग सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और बाह्य पदार्थों में इच्छा को रोकने रूप तप से चार निश्चय आराधना हैं, इनकी भावना के

समय साक्षात् उपादेय रूप वीतराग, परमानन्द जो मोक्ष का सुख उससे अभिन्न आनन्दमयी निज शुद्धात्मा ही उपादेय है।

अभिप्राय यह है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के साथ राग और संगति करना सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि ये दोनों ही आत्मा की परतन्त्रता के कारण है। जिस प्रकार कोई पक्षी किसी हरे भरे वृक्ष को विषफल वाला जानकर उसके साथ राग और संसर्ग नही करता है उसी प्रकार यह आत्मा भी राग रहित ज्ञानी हो अपने बंध के कारण शुभ और अशुभ सभी कर्म प्रकृतियों को परमार्थ से बुरी जानकर उनके साथ राग और संसर्ग नही करता।

सभी कर्म, चाहे पुण्य रूप हों या पाप रूप, पौद्गलिक है, उनका स्वभाव और परिणाम दोनों ही पुद्गलमय है। आत्मा के स्वभाव के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही है। आत्मा जब इस पुण्य पाप क्रिया से पृथक् हो जाता है, इसे पराधीनता का कारण समझ लेत है तो वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार प्रकार की विनयों को धारण करता है। तथा अपने आत्मा को भी सर्वदा निष्कलंक, निर्मल और अखण्ड समझता है।

अज्ञानी जीव राग के कारण कर्मों का बन्ध करता ही है, क्योंकि राग बन्धक और वैराग्य मुक्तक होता है। शुभ, अशुभ सभी प्रकार के कर्म राग प्रवृत्ति से बन्धते है अतः कर्म परम्परा दृढ़तर होती चली जाती है। क्योंकि कर्म का त्याग किये विना ज्ञान का आश्रय नहीं मिलता है। कर्मासक्त जीव ज्ञान-सच्चे विवेक से कोसों दूर रहता है और समस्त आकुलताओं से रहित परमानन्द की

प्राप्ति उसे नहीं हो पाती है। अज्ञानी, कषायी जीव ज्ञानानन्द के स्वाद को नहीं जानता है।

पाप नष्ट होने से पुण्य होता है और पुण्य नष्ट होने से पुनः पाप की वृद्धि होती है—

दुरितं तीदोंडे पुण्य दोठिन्नलुवना पुण्यं कर' तीदोंडा।
दुरितंगोड्' वनिचलच्च खेडेयाटं कु'द्दात्मं गिवं ॥
सरिगंडात्म विचार वोंद् रोळे निंदानंदिसुत्तिर्पने।
स्थिर नक्कु' सुखीयक्कु मच्चयनला रत्नाकराधीश्वरा ! ३७।

हे रत्नाकराधीश्वर !

पाप का नाश होने पर आत्मा अपने पुण्य में अवस्थित रहता है। जब पुण्य सम्पूर्णतः नष्ट हो जाता है तब आत्मा पुनः पाप को प्राप्त हो जाता है। आत्मा का इधर उधर का भ्रमण पूर्ण नही होता। पाप और पुण्य को सम दृष्टि से देखकर आत्म-चिन्तन में स्थिर रहकर आनन्द मनानेवाला व्यक्ति स्थिर और नाश रहित सुख को प्राप्त होता है।

आत्मा के संक्लेश परिणामों से पाप का बन्ध होता है तथा जब यह संक्लेश प्रवृत्ति रुक जाती है और आत्मा में विशुद्ध प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है तो पुण्य का बंध होने लगता है। पापास्रव के रुक जाने पर आत्मा में पुण्यास्रव होता है। यह भी विजातीय है पर इसके उदय काल में जीव को सभी प्रकार के ऐन्द्रियिक विषय-भोग प्राप्त होते हैं। जीव इस क्षणिक आनन्द में अपने को भूल

जाता है तथा पुण्य का फल भोगता हुआ कषाय, राग द्वेष आदि विकारों के आधीन होकर पुनः पाप पंक में फंस जाता है। इस प्रकार यह पुण्य-पाप का चक्र निरन्तर चलता रहता है, इससे जीव को निराकुलता नहीं होती है।

पुण्य पाप इस प्रकार है जैसे कोई स्त्री एक साथ उत्पन्न हुए अपने दो पुत्रों में से एक को शूद्र के घर दे दे तथा दूसरे को ब्राह्मण के घर। शूद्र के घर दिया गया पुत्र शूद्र कहलायगा तथा वह माँस, मदिरा का भी सेवन करेगा, क्योंकि उसकी वह कुल-परम्परा है। ब्राह्मण के यहाँ दिया गया पुत्र ब्राह्मण कहलायगा तथा वह ब्राह्मण कुल-परम्परा के अनुसार मद्य, मांस आदि से परहेज करेगा। इसी प्रकार एक ही वेदनीयकर्म के साता और असाता ये दो पुत्र हैं। साता के उदय से जीव को भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है तथा क्षणिक इन्द्रिय-जन्य आनन्द को प्राप्त कर निराकुल होने का प्रयत्न करता है, फिर भी आकुलता से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता है। असाता का उदय आने पर जीव को दुःख प्राप्त होता है। इष्ट पदार्थों से वियोग होता है, अनिष्ट पदार्थों से संयोग होता है जिससे इसे शारीरिक और मानसिक बेचैनी होती है।

सुबुद्ध जीव असाता के उदय में सचेत होकर आत्म चिन्तन की ओर लग भी जाते है, परन्तु अधिकतर जीव इस पुण्य पाप की तराजू के पलड़ों में बैठकर झूलते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इस पुण्य पाप में आसक्त और विरक्त नहीं होता है, वह आसक्ति और विरक्ति के बीच संतुलन रखकर अपना कल्याण करता है। कविवर

बनारसीदास ने नाटक समयसार में शुभ-अशुभ कर्मों के त्यागने के ऊपर बड़ा भारी जोर दिया है। उन्होंने इन दोनों की आत्मा को धर्म नहीं माना है। कवि ने आत्मानुभूति में डुबकियाँ लगाते हुए लिखा है—

पाप बंध पुण्य बंध दुहूमें मुगति नाहि,
कटुक मधुर स्वाद पुद्‌गल को देखिये।
संकिलेस विसुद्धि सहज दोउ कर्म चालि,
कुगति सुगति जल जाल में विशेषिये॥
नारकादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसे द्वैतभाव ज्ञानदृष्टि में न लेखिये।
दोऊ महा अन्धकूप दोउ कर्म बंध रूप,
दुहू को विनास मोष मारग में देखिये।

पाप और पुण्य बन्ध इन दोनों से मोक्ष नहीं मिल सकता है। इन दोनों के मधुर और कटुक स्वाद पौद्‌गलिक ही आते है। संक्लेश और विशुद्ध परिणाम, पाप और पुण्यमय होते है, ये दोनों कुगति और सुगति को देने वाले हैं। इन दोनों के कारणों का भेद मिथ्यात्व ही है. ज्ञान में दोनों भेद डालने वाले है। दोनों ही अन्धकार रूप कर्मबन्ध कराने वाले है अतः दोनों के नाश से ही निर्वाण मार्ग की प्राप्ति होती है।

सारांश यह है कि आचार्य ने यह बतलाया है कि पाप और पुण्य दोनों ही संसार के कारण हैं इसके निमित्त से जीव संसार में

परिभ्रमण कर रहा है । अनादि काल से ये जीव अशुभ कर्म के उदय से चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है । कभी किसी सद्गुरु का समागम मिलता है, उस समय राग परिणति की मंदता करके देव गुरु शास्त्र को प्राप्त करता हैं । उसके निमित से शुभ राग का वध कर लेता है । शुभ राग के द्वारा जो पुण्य बंध हो जाता है फिर वह पुण्य संसार के लिए कारण होता है । इसका कारण यह है कि शुभ राग में जब जन्म लेता है तो वह फिर संसार का कारण हो जाता है । इसके बाद दोनों मिल करके इस आत्मा को चतुर्गति में भ्रमण के लिए कारण हो जाते है इसलिए भव्य जीवों को इन दोनों पाप और पुण्य से भिन्न अखण्ड अविनाशी नित्य निरजन परम सुखमयी आत्मा का अनुभव करना ठीक है ।

पुण्य और पाप दोनों ही ससार के कारण है—

लगेयन्दुष्कृतमोमें तां शुभदमात्मंगे केनल्पुण्यवृ-
द्धिगेतां मुंदनुबंध मादकतदिं पुण्यं सुपुण्यानुबं- ॥
धिगे बंदंददुवुं शुभं सुकृतमुं पापानुबंधक्के मुं- ।
पुगे पापक्कनुबंधि पापमशुभं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥३८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

विचार पूर्वक देखा जाय तो एक दृष्टि से पाप आगामी पुण्य-वृद्धि के लिए कारण स्वरूप होता हैं; इस अर्थ में वह आत्मा को शुभ देने वाला है तो पुण्य-पुण्यबंध का कारण होने से मंगल-कारक होता है । तथा यही पुण्य-पाप बंध का कारण होने से

अमंगलकारक होता है। पाप पाप-बंध का कारण होने से महान् अमंगलकारक होता है।

आत्मा की परिणति तीन प्रकार की होती है--शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग रूप। चैतन्य, आनन्द रूप आत्मा का अनुभव करना, इसे स्वतन्त्र अखण्ड द्रव्य समझना और पर पदार्थों से इसे सर्वथा पृथक अनुभव करना शुद्धोपयोग है। कषायों को मन्द करके अर्हन्त भक्ति, दान, पूजा, वैयावृत्य, परोपकार आदि कार्य करना शुभोपयोग है। यहाँ उपयोग--जीव की प्रवृत्ति विशेष शुद्ध नहीं होती है, शुभ रूप हो जाती है। तीव्र कषायोदय रूप परिणाम विषयों में प्रवृत्ति, तीव्र विषयानुराग, आर्त्त परिणाम, असत्य भाषण, हिंसा, प्रभृत्ति कार्य अशुभोपयोग है। शुभोपयोग का नाम पुण्य और अशुभोपयोग का नाम पाप है। आत्मा का निज आनन्द जो निराकुल तथा स्वाधीन है शुद्धोपयोग के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसी शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मा अर्हन्त बन जाता है, केवल ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, तथा आत्मा परमात्मा बन जाता है, क्षुधा तृष्णा आदि का अभाव हो जाता है। आत्मा समस्त पदार्थों का ज्ञाता दृष्टा बन जाता है।

परिणमनशील आत्मा जब अशुभ भाव में परिणमन कर राग द्वेष, मोहरूप परिणमन करता है, तब इससे कर्मों का बन्ध होता है, जिससे यह आत्मा चारों गतियों में भ्रमण करता है। राग, द्वेष, मोह, क्षोभ आदि विकार उत्पन्न होते रहते है। जो व्यक्ति आगम द्वारा तत्वों का अभ्यास कर द्रव्यों के सामान्य और विशेष स्वभाव

को पहचानता है तथा परपदार्थो से आत्मा को पृथक समझता है, वह विकारों को यथाशीघ्र दूर करने में समर्थ होता है। इन्द्रियों से सुख भोगने के लिए जो पुण्य या पाप रूप प्रवृत्ति की जाती है, उससे जो आनन्द मिलता है वह भी राग के कारण ही उत्पन्न होता है। यदि राग या आसक्ति विषयों की ओर न हो तो जीव को आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती है। शरीर एवं विषयों के पोषण करने वालों को आनन्द के स्थान में विषय तृष्णाजन्य दाह प्राप्त होता है, जिससे सुख नही मिलता और न पुण्य ही होता है। विपय-तृष्णा के दाह की शान्ति के लिए यह जीव चक्रवर्ती, इन्द्र आदि सुखों को भोगता है। पर उनसे भी शान्ति नहीं होती, विषय लालसा अहर्निश बढ़ती ही चली जाती है।

जब तक जीव को पुण्य का उदय रहता है, सुख मिलता है पर पाप का उदय आते ही इस जीव को नाना प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते है। जो जीव पुण्य के उदय से प्राप्त आनन्द की अवस्था में कषायों को मन्द रखता है, अपनी मोह वृत्ति को दूर करता है वह पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्जन कर सुख भोगता हुआ आनन्द प्राप्त करता है। सुख के आने पर मनुष्य को अपने रूप को कभी नही भूलना चाहिए। सुख वही स्थिर रहता है, जो आत्मा से उत्पन्न हुआ हो। क्षणिक इन्द्रियों के उपयोग से उत्पन्न सुख कभी भी स्थिर नही हो सकते है तथा निश्चय से ये आत्मा के लिए अहित-कारक हैं, इनसे और शुद्धात्मानुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो अर्हन्त परमात्मा के द्रव्य गुण पर्यायों को पहचानता है, वह पुण्य

का भागी बन जाता है तथा उसका पुण्य आत्मानुभूति को उत्पन्न करने में सहायक होता है। जो व्यक्ति विषय भोग और कषायों की पुष्टि में आसक्त रहता है, वह पापानुबन्धी पाप का बंध करता है, जिससे आत्मा का अहित होता है।

इसलिए जीव को शुभ अशुभ पाप और पुण्य उत्पन्न करने वाले भावों को छोड़ कर मन वचन काय से अपने आत्मा का ही ध्यान करना श्रेष्ठ है। परमात्मप्रकाश में कहा है कि—

सुण्णउं पउं झायंताहं वलि वलि जोइयडाहं।
समरसि भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहं ॥१५६॥

शुभ अशुभ मन वचन काय के व्यापार रहित जो वीतराग परमानन्दमयी सुखामृत-रस का आस्वाद वही उसका स्वरूप है, ऐसी आत्मज्ञानमयी परम कला भरपूर जो ब्रह्मपद शून्यपद निज शुद्धात्मस्वरूप उसको ध्यानी राग रहित तीन गुप्तिरूप समाधि के बल से ध्याते है, उन ध्यानी योगियों की मै बार बार बलिहारी जाता हूँ। ऐसे श्री योगीन्द्रदेव अपना अन्तरंग का धर्मानुराग प्रगट करते है,, परम योगीश्वरों के परम स्वसंवेदनज्ञान सहित महा समरसीभाव होता है। समरसीभाव का लक्षण ऐसा है, कि जिनके इन्द्र और कीट दोनों समान, चितामणिरत्न और कंकड़ दोनों समान हों। अथवा ज्ञानादि गुण और गुणी निज शुद्धात्म द्रव्य इन दोनों का एकीभावरूप परिणमन वह समरसीभाव है, उस कर सहित है। जिनके पुण्य पाप दोनों ही नहीं हैं। ये दोनों शुद्ध

चुद्ध चैतन्य स्वभाव परमात्मा से भिन्न हैं, सो जिन मुनियों ने दोनों को हेय समझ लिया है, परमध्यान में आरूढ़ हैं, उनकी मैं वार वार वलिहारी जाता हूँ।

पाप और पुण्य, दरिद्रता और लक्ष्मी कुछ भी नहीं देता, अपने द्वारा पाप और पुण्य होता है।

अदुतानेंतेने मुन्न गेय्द दुरितं दारिद्र दोळ्वळ्तोडं।
दयामूल मतक्के सदु नडेवं मुं देय्दुवं पुण्यं सं— ॥
पद्मं वां सुकृतानुवंधि दुरितं तन्निर्धनं मिथ्ययो—
ळ् पुदियन्तां दुरितानुवंधि दुरितं रत्नाकराधीश्वरा! ॥३६॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

पूर्व जन्म में किए हुए पाप से दरिद्रता में प्रवेश करने पर भी दया में प्रवृत्त होकर आगामी पुण्य सम्पत्ति को प्राप्त होता है, यह सुकृतानुवंधी दुरित है। यदि दरिद्रता को मिथ्यात्व में विताया जाय तो वह पापानुवंवी पाप है।

प्रत्येक मनुष्य के सामने दो मार्ग खुले रहते है-भला और बुरा। जिस मार्ग का वह अनुसरण करता है उसी के अनुसार उसके जीवन का निर्माण होता है। पूर्व जन्म में किये पापों के कारण इस जन्म में यदि दरिद्रता, रोग, शोक आदि के द्वारा कष्ट भी उठाना पड़े तथा इन कष्टों में वह दयामयी अहिंसा धर्म का पालन करता चला जाय तो उसका आगे उद्धार हो जाता है। इस प्रकार के पाप का नाम सुकृतानुवन्धी पाप होता है, क्योंकि ऐसे पाप के द्वारा आगामी के

लिए पुण्य की उपलब्धि होती है। यह भविष्य के लिए अत्यन्त सुखदायक हो जाता है।

मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है, अपने जीवन का कर्ता धर्ता खुद है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को जैसा चाहे, बना सकता है। इसका भाग्य किसी ईश्वर विशेष के आधीन नहीं। जो यह समझते है कि मेरी परिस्थिति सदाचरण पालने की नहीं है, मैं अत्यन्त निर्धन हूँ, मेरे पास दान पुण्य करने के लिए पैसा नहीं। शरीर मेरा रोगी है, जिससे व्रत, उपवास आदि नहीं किये जा सकते हैं, अतः मुझसे इस अवस्था में कुछ नहीं किया जा सकता है। ऐसी बातें अनर्गल है। प्रत्येक व्यक्ति में सब कुछ करने की शक्ति है, आत्मा मे परमात्मा बनने की योग्यता है तथा दृढ़ संकल्प और सद्विचार द्वारा मनुष्य बहुत कुछ कर सकता है। धन कोई पदार्थ नही है इससे न धर्म कर्म होता है और न आत्मोद्धार। जिन महापुरुषों ने आत्मकल्याण किया है, अपने को शुद्ध बनाया है, उनके पास धन नही था। पर इतना सुनिश्चित है कि दृढ़ संकल्प और सद्विचार उनके पास अवश्य थे। अपने स्वरूप को पहचानने की क्षमता उनमें थी, अतः अपने को समझ कर ही वे बड़े हुए थे। उनका अपना निजी विवेक जाग्रत हो गया था।

जो पापोदय से कष्ट उठा रहे है, यदि वे दिन भर पैसा कमाने के फेर को छोड़ दे तो दयामयी धर्म का प्रतिभास उन्हे हुए बिना नही रह सकता है। मनुष्य का स्वभाव है कि (जैसे बनता है वैसे) जब तक दम रहता है, काम करने की शक्ति रहती है, थक कर

नहीं बैठ जाता, धन कमाने की धुन में मस्त रहता है । वह न्याय अन्याय कुछ नहीं समझता । आज भौतिकता इतनी अधिक बढ गयी है कि सवेरे से लेकर शाम तक श्रम करने के उपरान्त व्यक्ति अपने सुधार की ओर दृष्टिपात भी नहीं कर पाता, उसका लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही रहता है । अतः पापोदय के रहने पर भी जीव पाप का ही बंध करता रहे और मिथ्यात्व में पड़ा जीवन से बाहर इधर उधर भटकता रहे तो इस पापानुबन्धी पाप से उसका उद्धार नही हो सकता है "अजागलस्तनस्येव जन्म तस्य निरर्थकम्" अर्थात् बकरी के गले के स्तन के समान ऐसे व्यक्ति का जन्म व्यर्थ ही होता है ।

अज्ञान तथा तीव्र राग द्वेष के वशीभूत होकर जो व्यक्ति दयामयी धर्म की विराधना करता है, वह महान अज्ञानी है । उसका यह कार्य इस प्रकार निन्द्य है जैसे एक व्यक्ति एक बार ही फल प्राप्ति के उद्देश्य से फले वृक्ष को जड़ से काट लेता है जिससे सदा मिलने वाले फलों से वंचित हो जाता है । अतः वर्तमान में किसी भी अवस्था में रहते हुए मनुष्य को अपना नैतिक और आध्यात्मिक विकास करने के लिए सर्वदा दृढ़ बनना चाहिए । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे नियम है जिनके पालने से इस जीव को सब प्रकार का सुख ही मिलता है । तत्वभावना में भी कहा है कि—

> निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा नश्वराः ।
> निंद्यस्थानभवार्तिभावजनकाः विद्याविदां निंदिताः ॥

नेत्थं चिंतयतोऽपि मे बत मतिर्व्यावर्तते भोगतः।
कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढः प्रपद्ये विधिम्॥

ये इन्द्रियों के भोग असार अर्थात् सार रहित तुच्छ जीर्ण तृण के समान है। भय को पैदा करने वाले है. आकुलतामय कष्ट को उत्पन्न करने वाले है व सदा ही नाश होने वाले है। दुर्गति में जन्म कराकर क्लेश को पैदा करने वाले है तथा विद्वानों के द्वारा निंदनीय है। इस तरह विचार करते हुए भी मेरी बुद्धि, खेद की बात है कि, भोगों से नही हटती है तब मै बुद्धि रहित किसको पूछूं, किसका सहारा लूं, कौन सी तदबीर करूं।

इस श्लोक मे एक श्रद्धावान जैनी अपनी भूल को विचारते हुए अपने कषायों के जोर को कम रहा है। इस जीव के साथ मोह कर्म का बन्ध है। मोह उदय में आकर जीव को बावला बना देता है और यह उन्मत्त हो न करने योग्य कार्य कर लेता है। मोह कर्म के मूल दो भेद है—एक दर्शन मोह, दूसरा चारित्र मोह। दर्शनमोह के उदय से आत्मा को अपने आपका सच्चा विश्वास नहीं हो पाता है। चारित्रमोह का उदय आत्मा में चारित्र को ठहरने नही देता है-अपने आत्मा के सिवाय अन्य चेतन व अचेतन पदार्थो में राग-द्वेष करा देता है। इसके चार भेद है-अनन्तानुबन्धी कषाय, जो श्रद्धान के बिगाड़ने में दर्शनमोह के साथी है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय होने पर श्रद्धान होने पर भी एकदेश भी त्याग नहीं किया जाता अर्थात् श्रावक के व्रत नहीं लिए जाते। प्रत्याख्यानावरण कषाय–जिसके उदय से पूर्ण त्यागकर साधु का आचरण नहीं पाला

जाता है। संज्वलन कषाय–जो आत्मध्यान को नाश नहीं कर सकते परन्तु जो मल पैदा करते है, पूर्ण वीतरागता को नहीं होने देते जिस किसी महान पुरुष के अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शनमोह के दबने से सम्यग्दर्शन हो गया है, वह पुरुष यह अच्छी तरह समझ गया है कि विषय भोगो से कभी भी इस जीव को तृप्ति नही होती है। उल्टी तृष्णा की आग बढ़ती हुई चली जाती है, इसलिए ये भोग असार हैं, फल कुछ निकलता नहीं, तथा भोगो के चले जाने व अपने मरण होने का भय सदा बना रहता है। यह भोगी जीव चाहता है कि भोग्य पदार्थ कभी नष्ट न हों व मै कहीं मर न जाऊँ। तथा इन भोगों की प्राप्ति के लिए व उनकी रक्षा के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। और यदि कोई भोग नहीं रहता है तो यह प्राणी आकुलता में पड़कर दुखी हुआ करता है। ये भोग अवश्य नष्ट होने वाले हैं। या तो आप ही मर जायगा या ये भोग्य पदार्थ हमारा साथ छोड़ देंगे। इनके भोगने में बहुत तीव्र राग करना पड़ता है जिससे दुर्गति हो जाती है। तथा इसीलिए इन भोगों को विद्वानों ने निन्दायोग्य बुरा समझा है।

श्री शुभचंद्राचार्य ने भी कहा है कि—

> अतृप्तिजनकं मोहदाववन्हेर्महेन्धनम्।
> असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः॥
> विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम्।
> करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम्॥

यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासंतापपापसंकलितम् ।
तदपि न सुखसंप्राप्य विषयसुखं वांछितं नृणाम् ।।

जिनेन्द्रों ने कहा है कि इन्द्रियों से होने वाला सुख कभी तृप्ति नही देता है। यह तो मोह की दावानल अग्नि को बढ़ाने को महान् इंधन का काम देता है । यह असाता की परिपाटी का बीज है। इससे आगामी दुःख मिलता ही रहता है। यह इन्द्रिय सुख विघ्नों का बीज है। सेवन करते करते हजारों अंतराय पड़ जाते हैं, यह आपत्तियों की जड़ है। इस सुख के आधीन प्राणी असत्य, चोरी, कुशील, हिंसादि पापों में फंस कर इस लोक में ही अनेक दुःखों में पड़ जाता है। यह सुख पराधीन है, अपने आधीन नहीं है। तथा भयभीत रखने वाला है इस सुख को इंद्रियाँ यदि बलवती हों तब ही ग्रहण कर सकती हैं । यह सुख यद्यपि तीव्र राग के कारण से दुर्गति का बीज है और तृष्णा संताप तथा पापों से भरा हुआ है तथापि इच्छित सुख सहज में नहीं मिलता है, बड़ा कष्ट सहना पड़ता है।

पूर्व में किया हुआ पुण्य ही इस लोक में सुख को देता है—

पडेवं पूर्वद पुण्यदिं सिरियनातं श्रीदयामूलदो-
ळ्नडेवं तां सुकृतानुबंधिसुकृतं सत्पावनाढ्यं गुणं- ।।
गिडे मिथ्यामतदल्लि वर्तिपनवं मुंदेयुवं दुःख मं ।
तुडियल्तां दुरितानुबंधिसुकृतं रत्नाकराधीश्वरा! ।।४० ।।

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व पुण्य से प्राप्त की हुई सम्पत्ति दयामूलक धम में परिवर्तित हो जाती है। वह सुकृतानुवन्धी सुकृत है। पुनः वह धनवान होकर उसी धन के द्वारा गुणहीन होकर मिथ्यात्व में प्रवर्तन करता है। वह आगे चल कर दुःख को प्राप्त होता है। वह दुरितानुवन्धी दुरित सुकृत है। इसलिए यह पुण्य पाप के लिए कारण है।

विवेचन—कवि ने इस श्लोक मे यह बतलाया है कि जो मानव ने पूर्व जन्म में पुण्य अर्जित किया है वह आज इन्द्रिय भोगों के लिए अत्यन्त सुखकारी है, परन्तु वही पुण्य मनुष्य को अपने निज स्वभाव से च्युत करके इन्द्रिय भोग में ले जाकर दीर्घ पाप वन्धन के लिए कारण होता है। अगर वह पुण्य स्व-पर कल्याण के लिये निमित्त हो जाता है, तो वह पुण्य मोक्ष के लिए कारण वन जाता है अर्थात् कर्म-निर्जरा का कारण होता है। अगर वह कर्म-निर्जरा के लिए कारण न हो तो वह पुण्य पाप के लिए कारण होता है। इसलिए यह पुण्य भी पाप को उत्पन्न करने वाला है। मानव जन्म प्राप्त करने के लिए पुण्यानुवन्धी पुण्य चाहिए। जो पुण्यानुवन्धी पुण्य निदान-वन्ध रहित वीतराग भावना से किया जाता है, उसके द्वारा अत्यन्त तीव्र पुण्य उत्पन्न होता है, वह पुण्य पाप को नाश करने वाला है। वही पुण्य आगे चल करके कर्म निर्जरा के लिए कारण होता है।

पुण्य और पाप दो पदार्थ हैं, इनके संयोगी भंग आगामी वन्ध की अपेक्षा से चार वनते हैं—पुण्यानुवन्धी पुण्य, पुण्यानुवन्धी

पाप, पापानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पाप, किसी जीव ने पहले पुण्य का बन्ध किया हो, उसके उदय आने पर वह पुण्य फल को भोगता हुआ अपने कृत्यों द्वारा पुण्य का आस्रव करे। वह इस प्रकार के कृत्यों को करे, जिनसे आगे के लिए भी पुण्य का बन्ध हो । मन, वचन और काय कर्म का आस्रव करने में हेतु है, इनकी शुभ प्रवृत्ति रहने से शुभास्रव होता है । जिस पुण्य के फल को भोगते हुए भी पुण्यास्रव होता है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य माना जाता है। ऐसा जीव वर्तमान और भविष्य दोनों को ही उज्वल बनाता है।

वर्तमान में पुण्य के फल का अनुभव करते हुए जो व्यक्ति पाप करने के लिए उतारु हो जाता है, जो सम्पतिशाली और अन्य प्रकार के साधनों से सम्पन्न होकर भी भविष्य की कुछ भी चिन्ता नहीं करता है वर्तमान में सब प्रकार के सुखों को प्राप्त होता हुआ भी पापबन्ध की ओर प्रवृत्ति करता है, वह जीव धूर्त और मूर्ख माना जाता है। सुख साधनों से फूलकर कषाय और भावनाओं के आवेश में आकर वह निद्य मार्ग की ओर जाता है। जीव की इस प्रकार की कुप्रवृत्ति पापानुबन्धी पुण्य कहलाती है । अर्थात् ऐसा जीव पुण्य के उदय से प्राप्त सुखों को भोगते हुए पाप का बन्ध करता है। पापास्रव जीव के लिए बन्धनों को दृढ़ करने वाला है, जीव इस आस्रव से जल्द छूट नही पाता है। वह कुप्रवृत्तियों में सदा अनुरक्त रहता हैं ।

वर्तमान में पाप के फल को भोगते हुए जो जीव सत्कार्यों को

करता है, सदाचार में सदा प्रवृत्ति करता है, जो भौतिक संसार को विपत्तियों की खान, मुसीबतों और कठिनाइयो का आगार मानता है, वह व्यक्ति संसार से भयभीत होकर पुण्य कार्य करने की ओर अग्रसर होता है। ऐसा व्यक्ति संसार में रुलाने वाले विषय कषायों से हट जाता है, उसमें आध्यात्मिक ज्ञान ज्योति आ जाती है, जिससे वह पुण्य कर्म करने की ओर प्रवृत्त होता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ ये कषायें एवं मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम, क्षयोपशम, या क्षय. ऐसे जीव के हो जाता है, जिससे उसके हृदय में करुणा, दया का आविर्भाव हो जाता है। यह जीव धर्म भावना के कारण अपनी.परिणति को सुधारता है। शास्त्राभ्यास द्वारा सच्चे विवेक और कर्तव्य कार्य की प्रेरणा प्राप्त कर यह जीव अपना कल्याण कर सकता है।

पाप के फल को प्राप्त कर जो व्यक्ति पुनः पाप कर्म में फँसना चाहता है, उसका वह आस्रव पापानुबन्धी पाप कहलाता है। यह आस्रव जीव के लिए नितान्त अहितकर होता है। इससे सर्वदा कर्म कलंक बढता जाता है, और बन्धन इतने कठोर तथा दृढ़ होते जाते है जिससे यह जीव अपने स्वरूप से सदा विमुख रहता है। पापानुबन्धी पाप जीव को नरक ले जाने वाला है। तीव्र कषाय, विषयानुरक्ति, पर पदार्थों में आसक्ति पापानुबन्ध के कारण है। अतः ज्ञानी जीव को सर्वदा पुण्यानुबंधी पाप और पापानुबन्धी पाप ये दोनों अशुभ त्याज्य है। कल्याणेच्छुक को इन दोनों आस्रवों का त्याग करना आवश्यक है।

पुण्य और पाप को जो समान नहीं मानता है वह संसार से कभी मुक्त नहीं हो सकता। ऐसा परमार्थ प्रकाश में कहा है कि—

जो णवि मण्णइ जीउ समुपुण्णु विं पाउ वि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ॥५५॥

यद्यपि असद्भूत (असत्य) व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्य पाप ये एक दूसरे से भिन्न है, और अशुद्ध निश्चय नय से भावपुण्य और भावपाप ये दोनों भी आपस में भिन्न हैं, तो भी शुद्ध निश्चय नय कर पुण्य रहित शुद्धात्मा से दोनों ही भिन्न हुए बंध रूप होने से दोनों समान ही हैं । जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी ये इसके समान हैं। इस तरह नय विभाग दोनों ही बंध का कारण है— से जो पुण्य पाप को समान नहीं मानता है वह आत्म स्वरूप से विपरीत जो मोह कर्म उससे मोहित हुआ संसार में भ्रमण करता है। इतना कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट बोला—यदि ऐसा ही है, तो कितने ही पर्यायवादी पुण्य पाप को समान मानकर स्वच्छंद हुए रहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ? तब योगीन्द्र देव ने कहा जब शुद्धात्मानुभवी जन तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्पसमाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए पुण्य पाप को समान जानते हैं, तब तो जानना योग्य है । परन्तु जो मूढ परम समाधियों को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं, और मुनि पद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ते हैं, वे दोनों बातों से भ्रष्ट हैं। वे तो यती है, न श्रावक है, वे निंदा योग्य ही हैं। तब

उनकों दोष ही है, ऐसा जानना ।

पहले पाप और पुण्य को अनिष्ट कहा गया है और पुण्य निष्ट है ।

अघ पुण्यंगल निष्टमेदु बलिकं लेसेंदेनेकेंदोडं-
गघटंबोक्के मनं सुधर्म के पुगल्कमुन्नाद् पापं क्रमं ॥
लघुवक्कु सुकृतं क्रमंविडिदु भोगप्राप्तियिं तिदु मू- ।
तिं घनंवोल्वलागि मुक्तिवडेगु रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पहले पाप और पुण्य को अनिष्ट कहा गया है, फिर उन्हें इष्ट भी कहा गया है, क्योंकि शरीर में प्रवेश करने से मन को एक श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति होती है । पाप क्रम से कम होता जाता है, पुण्य भी क्रम से, भोग की समाप्ति के पश्चात् क्षीण हो जाता है । शरीर भी जब बादल की तरह नष्ट हो जाता है तब जीव मोक्ष को प्राप्त होता है ।

पुण्य और पाप दोनों ही बन्ध के कारण होने से अशुभ कहे गये हैं । सांसारिक पर्याय की दृष्टि से पुण्य बन्ध जीवों के लिए सुखकारक है और पाप बन्ध दुःखकारक । शुद्ध निश्चयनय के समान व्यवहार नय की दृष्टि से भी आत्मा को शुभाशुभ अपरिणामन रूप माना जाय तो संसार पर्याय का अभाव हो जायगा, अतः पुण्य पाप भी दृष्टिकोण के भेद से इष्टानिष्ट रूप हैं । इन्हे सर्वथा त्याज्य नही मान सकते हैं । परिणमनशील आत्मा में-इनका होना

संसारावस्था में अनिवार्य सा है।

जब आत्मा में तीव्र राग उत्पन्न होता है, कषायों की वृद्धि होती जाती है तो अशुभपरिणमन और मन्द कषाय या मन्द-राग कारण परिणमन होने से शुभ पुण्य प्रवृत्ति रूप परिणमन होता है, तब यह आत्मा अपने कल्याण की ओर अग्रसर होने लगता है। प्रत्येक द्रव्य का यह स्वभाव है एक कि समय मे एक ही पर्याय होती है,अतः शुभ और अशुभ ये दो पर्यायें एक साथ नही हो सकती हैं। संसारावस्था में अशुद्ध परिणमन होने के कारण प्रायः अशुभ रूप ही प्रवृत्ति होती है। जो जीव अपने भीतर विवेक उत्पन्न कर लेते हैं, जिनमें भेद विज्ञान की दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, वे संसार के पदार्थों को क्षणविध्वंसी देखते हैं। उन्हें आत्मा, शरीर तथा इस भव के कुटुम्बियों का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है, संसार के भौतिक पदार्थों का प्रलोभन उन्हें अपनी ओर नही खीचने पाता है। वे समझाते है—

> अर्थाः पादरजः समा गिरिनदी वेगोपमं यौवनं।
> मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवितम् ॥
> भोगाः स्वप्नसमास्तृणाग्नि सदृशं पुत्रेष्टभार्यादिकं।
> सर्वस्वं क्षणिकं न शाश्वतमहो त्यक्तव्य,तस्मान्मया॥

धन पैर की धूलि के समान, यौवन पर्वत से गिरने वाली नदी के वेग के समान, मानुष्य जल की बून्द के समान चंचल और जीवन फेन के समान अस्थिर है। भोग स्वप्न के समान निस्सार और पुत्र

एवं प्रिय स्त्री आदि तृणाग्नि के समान क्षण नश्वर हैं। ये सभी वस्तुएँ क्षणिक है। अतः ये मैंने छोड़ दी हैं।

शरीर रोग से आक्रान्त है और यौवन जरा से। ऐश्वर्य के साथ विनाश और जीवन के साथ मरण लगा है अतः हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील सेवन, परिग्रह धारण महान् पाप है। इनका यथाशक्ति त्याग कर आत्मकल्याण करने को और प्रवृत्त होना चाहिए। विषय सेवन और पापों को करने की ओर मनुष्य की स्वाभाविक रुचि होती है। शुभ कार्यो की ओर बल पूर्वक प्रेरणा देने पर भी मन को प्रवृत्ति नही होती है। मावन्मन की कुछ ऐसी कमजोरी है कि वह स्वतः ही पापों की ओर जाता है। पुण्य कर्मो में लगाने पर भी नहीं लगता है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि पाप करना मनुष्य का स्वभाव नही है। झूठ बोलने पर उसका आत्मा विद्रोह करता है तथा उसे धिक्कारता है। इसी प्रकार कोई भी अनैतिक कार्य करने पर आत्मा विद्रोह करता है और अनैतिक कार्य से विरत रखने की प्रेरणा देता है। परन्तु जब मनुष्य की आदते पक जाती है, बार-बार वह निन्द्य कृत्य करने लगता है, तो उसका अन्तरात्मा भी उससे सहमत हो जाता है। अतएव यह सुनिश्चित है कि आरम्भ में मनुष्य पाप करने से डरता है, पुण्य कार्यो की ओर ही उसकी प्रवृत्ति होती है। यदि पाप के प्रथम क्षण से ही मनुष्य अपने को सम्हाल कर रखे तो उसकी प्रवृत्ति पाप मे कभी नहीं हो सकती है।

पुण्य तथा पाप भावों के स्वरूप का कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि—

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥ १३९ ॥

जिस जीव के भाव में मिथ्यात्व रूप भाव, रागभाव, द्वेष रूप भाव और चित्त का आल्हाद रूप भाव पाया जाता है उस जीव के अशुभ तथा शुभ ऐसा भाव होता है ।

भावार्थ—दर्शन मोह कर्म के उदय होते हुए निश्चय से शुद्धात्मा की रुचि रूप सम्यक्त्व नही होता और न व्यवहार रत्नत्रय रूप तत्वार्थ की रुचि ही होती है। ऐसे बहिरात्मा जीव के भीतर जो विपरीत अभिप्राय रूप परिणाम होता है, वह दर्शन मोह या मोह है। उस आत्मा के नाना प्रकार चारित्र मोह का उदय होते हुए न निश्चय वीतराग चारित्र होता है और न व्यवहार व्रत आदि के परिणाम होते हैं, ऐसे जीव के भीतर जो इष्ट पदार्थों में प्रीतिभाव सो राग है और अनिष्ट पदार्थों में अप्रीति भाव सो द्वेष है। मोह के मंद उदय से जो मन की विशुद्धि होना उसको चित्तप्रसाद कहते हैं। यहाँ मोह व द्वेष तथा विषयादि में अशुभराग सो अशुभ है तथा दान पूजा व्रत शील आदि रूप जो शुभ राग या चित्त का आल्हाद होना है सो शुभ भाव है, यह सूत्र का अभिप्राय है ।

इस गाथा में आचार्य ने भाव पाप और भाव पुण्य का स्वरूप बताया है जो क्रम से द्रव्य पाप और द्रव्य-पुण्य के बंध के निमित हैं। मिथ्यात्व भाव बड़ा प्रबल भाव पाप है जिसके कारण इस भाव के धारी जीव में पर्याय बुद्धि होती है, जिससे वह शरीर सम्बन्धी

इन्द्रियों के विषयों में और उनके सहकारी पदार्थों में अतिशय करके लीन होता है। और अपने सांसारिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक अन्याय रूप उपायों से भी काम लेता है। इसलिए सर्व पाप भावों का मूल कारण यह मिथ्या दर्शन रूप भाव पाप है। इस ही के निमित्त से अनंतानुबन्धी कषाय जनित राग और द्वेष की प्रवृत्ति होती है जिससे यह प्राणी अपने इष्ट पदार्थों में तीव्र राग तथा अनिष्ट पदार्थों से तीव्र द्वेष करता है। कभी कभी मिथ्यादृष्टि के भी मंद मिथ्यात्व और मन्द अनंतानुबन्धी कषाय के उदय से दान पूजा व्रत शील आदि सम्बन्धी राग भाव होता है। जिससे वह भाव पुण्य रूप भी हो जाता है तब वह पुण्य भी बांधता है परन्तु वह पुण्य भाव परम्परया पाप का ही कारण होता है। इसलिए आचार्यों ने धर्मध्यान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से पहले नहीं माना है। तो भी मिथ्यादृष्टि सातावेदनीय, देवायु, उच्चगोत्र आदि पुण्य कर्मों का बंध कर सकता है। इसलिए इस द्रव्य पुण्यबन्ध के हेतु रूप भाव पुण्य का होना उसके सम्भव है। पंचेन्द्रिय सैनी जीव के लेश्या भी छहों पाई जाती हैं, जिनमें पीत, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याएं हैं। इनके परिणामों में अधिकतर पुण्य कर्म का बन्ध होता है। वास्तव में पाप कर्म का उदय अधिक आकुलता का कारण है जब कि पुण्य कर्म का उदय कुछ देर आकुलता के घटाने का कारण है वर्तमान काल में उदय आकर पाप कर्म जब दुःखदाई है तब पुण्य कर्म सुखदाई है। यद्यपि बंध की अपेक्षा दोनों ही त्यागने योग्य हैं तथापि जब तक मोक्ष न हो तब तक पुण्य कर्म

का उदय साताकारी है तथा मोक्ष के योग्य सामग्री मिलाने का कारण है । इसीलिए पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में बहुत ही अच्छा कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकं ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ।। ३ ।।

हिंसा आदि पंच पापों की अपेक्षा जीव दया, सत्य वचन आदि पाँच व्रतों का पालना बहुत अच्छा है क्योंकि हिंसादि पापों से जब नरक में जाता है तब जीव दया आदि पुण्य कर्म से देव हो सकता है । नरक में जब असाताकारी सम्बन्ध हैं तब देवगति में साताकारी सम्बन्ध है । जब तक मोक्ष न हो, देवगति में व मनुष्य गति में रहना नरक गति व पशु गति में रहने की अपेक्षा उसी तरह ठीक है जैसे किसी को आने की राह देखने वाले दो पुरुषों में से एक का छाया में खड़ा रहना दूसरे के धूप में खड़े रहने से बहुत अच्छा है ।

भीतर से जब स्वाभाविक प्रसन्नता होती है तब ही चित्ताल्हाद कहलाता है । यह प्रसन्नता संक्लेश भाव के घटने और विशुद्ध भाव या मन्द कषाय के बढ़ने से होती है । जैसे किसी को दयापूर्वक दान देने से भीतर में हर्ष होता है—इस ही का नाम चित्तप्रसाद है । जो दुष्ट भावधारियों के चित्त में दूसरों को दुखी होते देखकर व विषय भोगियों के चित्त में इच्छित काम भोग के विषय मिलने पर हर्ष होता है वह संक्लेश भाव रूप है । तीव्र कषाय क्रोध, या लोभ से उत्पन्न है सो चित्तप्रसाद नहीं है । जहाँ कषाय की मंदता होकर

बिना किसी बनावट के अन्तरंग में आनन्द हो जाता है उसे ही चित्तप्रसाद कहते हैं। परोपकार व सेवाधर्म में यह चित्तप्रसाद अवश्य होता है। इसी से परोपकार को पुण्य कहा है।

राग को भी पाप व पुण्य दो रूप कहा है। जहाँ अप्रशस्त राग है अर्थात् जहाँ विषयों के व कषायों के पुष्ट करने का राग है, वह पाप रूप राग है। तथा जहाँ प्रशस्त राग है अर्थात् जहाँ आत्महित, धर्मध्यान, दान, व्रतपालन, परदु:ख निवारण आदि का भाव है वह पुण्य रूप राग है। ज्ञानी को यह भावना भानी चाहिए कि यह बंध का हेतु भावपुण्य और भावपाप दोनों ही प्रकार का भाव त्यागने योग्य है। एक शुद्ध भाव ही ग्रहण करने योग्य है जो बंध का नाशक व साक्षात् मोक्ष का साधक है—जैसा कि स्वामी अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में कहा है—

> संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना।
> संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा॥
> सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्यहेतुर्भव—
> न्नैः कर्मप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥ १०-४॥

मोक्ष के अर्थी जीव को उचित है कि इस सर्व ही क्रिया काण्ड को छोड़ देवे ऐसे त्याग करने पर फिर पुण्य तथा पाप के त्याग की बात क्या कहनी। जो कोई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्रमई अपने आत्मा के स्वभाव में रहता है वही मोक्ष का कारण होता है। उसी के उपयोग में आनन्द से पूर्ण आत्मज्ञान कर्म बंध रहित भाव

में बंधा हुआ स्वयं दौड़ा करता है।

जीव दया के समान कोई धर्म नहीं है—

पडियें जीवदयामतं परमधर्मं तन्मतंबोदिं सु -
गडे निर्गृंथरकेसंदं यति सूर्यबोल्प बांभोधियं।
फडुवेगं परिलंघिपं सुकृत कृद्गार्हस्थ्यनुं धर्मदा-
पडगिं मेल्लेने दांटेदे इरनला रत्नाकराधीश्वरा। ॥४२॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

जीव दया मत के सदृश दूसरा कोई धर्म नहीं है। यह सभी धर्मों में श्रेष्ठ है। इस धर्म के अनुसार चल कर कालान्तर में निर्ग्रन्थ रथ का अवलम्बन करने वाला यति, सूर्य के समान, संसार रूपी समुद्र को अति शीघ्रता से पार कर जाता है। पुण्य करने वाला तथा गृहस्थ धर्म का आचरण करने वाला गृहस्थ क्या उस धर्म रूपी जहाज से धीरे धीरे पार नहीं होगा? अभिप्राय यह है कि मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म दोनों जीव का कल्याण करने वाले हैं।

व्यवहार में धर्म का लक्षण जीव-रक्षा बताया है, इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है। जीवों की रक्षा करने से सभी प्रकार के पाप रुक जाते हैं। दया के समान कोई भी धर्म नहीं है, दया ही धर्म का स्वरूप है। जहां दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय पर हाथ रख कर विचारे तो उसे जीव-हिंसा में बड़े से बड़ा पाप मालूम होगा। जिस प्रकार हमें अपना आत्मा प्रिय

है, उसी प्रकार अन्य लोगों या जीवों को भी, अतः जो व्यवहार हमें अप्रिय है, अन्य के साथ भी उसका प्रयोग हमें कभी नहीं करना चाहिए। समस्त परिस्थितियों में अपने को देखने से कभी पाप नहीं होता है। जहाँ तक हममें अहंकार और ममकार लगे रहते हैं, वहीं तक हमें विषमता दिखलाई पड़ती है। इन दोनों विकारों के दूर हो जाने पर आत्मा में इतनी शुद्धि जाती है जिससे किसी भी प्रकार का पाप मनुष्य नही करता है। दया और श्रद्धा से बुद्धि की जाग्रति हो जाती है।

दया धर्म की मुख्यता

सर्वे वेदा न तत् कुर्युः सर्वे यज्ञाश्च भारत ।
सर्वं तीर्थाभिषेकाश्च यत्कुर्यात्प्राणिनां दया ॥ ५ ॥

हे भारत ! सर्व प्राणियों पर की गई दया वह करती है जो कि सर्व वेद, सर्व यज्ञ और सर्व तीर्थों में किया हुआ अभिषेक नही कर सकता है। अर्थात् जहाँ जीव दया नही वहाँ धर्म नहीं, वहां पुण्य नही, संयम नहीं, तप नहीं, दान नहीं, पूजा अर्चा सभी व्यर्थ हो जाता है। इसलिए दया धर्म ही मूर्त धर्म है, वह ही आर्ष धर्म है। जो प्राणियों पर दया नही करता है वह कभी भी इस संसार से मुक्त नही हो सकता है।

दया के आठ भेद है—द्रव्य, दया, भाव दया, स्वदया, पर दया, स्वरूप दया, अनुबन्ध दया, व्यवहार दया और निश्चय दया। समस्त प्राणियों को अपने समान समझना, उनके साथ सर्वदा

अहिंसामय व्यवहार करना, प्रत्येक कार्य को यत्नपूर्वक करना, जीवों की रक्षा करना तथा अन्य के सुख स्वार्थों का पूरा ध्यान रखना द्रव्य दया है। अन्य जीवों को बुरे कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धि से उपदेश देना भाव दया है। अपने पाप की आलोचना करना कि यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यात्व से ग्रस्त है, सम्यग्दर्शन इसे प्राप्त नहीं हुआ है, जिनाज्ञा का यह पालन नहीं कर रहा है, यह निरन्तर अपने कर्म बन्धन को दृढ़ कर रहा है अतः एव धर्म धारण करना आवश्यक है. सम्यग्दर्शन धारण किये बिना इसका उद्धार नहीं हो सकता है, यही इसे संसार सागर से पार उतारने वाला है, इस प्रकार चिन्तन कर धर्म में दृढ़ आस्था उत्पन्न करना स्वदया है। जीव इस प्रकार के विचारों द्वारा अपने ऊपर स्वयं दया करता है तथा अपने कल्याण को प्राप्त करता है। यह स्वोत्थान के लिए आवश्यक है,इसके धारण करने से अन्य जीवों के ऊपर तो स्वतः दयामय परिणाम उत्पन्न हो ही जाते है। वर्तमान में हम अपने ऊपर बड़े निर्दय हो रहे हैं, अपने उद्धार या वास्तविक कल्याण की ओर हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं। विषय-कषाय, जो कि आत्मा के विकृत रूप है, हम इन्हें अपना मानने लगे हैं।

छह काय के जीवों की रक्षा करना पर दया है। सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूप का विचार करना, आत्मा के ऊपर कर्मों का जो आवरण आ गया है उसके दूर करने का उपाय विचारना स्वरूप दया है। अपने मित्रों, शिष्यों या अन्य इसी प्रकार के अशिक्षितों को उनके हित की प्रेरणा से उपदेश देना तथा कुमार्ग से उन्हें सुमार्ग

में लाना अनुबन्ध दया है। उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक दया पालना व्यवहार दया है। इस दया का पालन तभी सम्भव है जब व्यक्ति प्रत्येक कार्य में सावधानी रखे और अन्य जीवों की सुख सुविधाओं का पूरा पूरा ध्यान रखे। शुद्ध उपयोग में एकता भाव और अभेद उपयोग का होना निश्चय दया है। यह दया ही धर्म का अन्तिम रूप है अर्थात् संसार के समस्त पदार्थों से उपयोग हटाकर एकाग्र और अभेद रूप से आत्मा में लीन होना, निर्विकल्प समाधि में स्थिर हो जाना, पर पदार्थों से बिल्कुल पृथक् हो जाना निश्चय दया है। इस निश्चय दया के धारण करने से जीव संसार-समुद्र से पार हो जाता है, निर्वाण लाभ करने में उसे विलम्ब नहीं होता।

दया धर्म के बारे में पद्मोत्तर खण्ड में देवी भगवती का कथन इस प्रकार मिलता है :—

देवयज्ञे पितृश्राद्धे तथा मांगल्यकर्मणि।
तस्यैव नरके वासो यः कुर्याज्जीवघातनम् ॥१॥

मद्व्याजेन् पशून् हत्वा, यो भक्षेत् सह बन्धुभिः।
स गात्रलोमसंख्याब्दैरसिपत्रवने वसेत् ॥२॥
आत्मपुत्रकलत्रादिसुसम्पत्तिकुलेच्छया।
यो दुरात्मा पशून् हन्यात् आत्मादीन् घातयेत् स तु ॥३॥

देवयज्ञ, पितृश्राद्ध एवं अन्य मांगलिक कार्यों में जो मनुष्य जीव-घात करता है, उसका नरक में वास होता है। तथा मेरा बहाना (निमित्त) लेकर के पशु को मार कर जो मनुष्य अपने बंधुओं के

साथ मांस भक्षण करता है, उसका पशु के शरीर के रोम जितने वर्षों तक असिपत्र नामक नरक में वास होता है। इस प्रकार जो मनुष्य आत्मा, पुत्र, स्त्री, लक्ष्मी और कुल की इच्छा से पशुओं को मारता है, वह अपने खुद के आत्मादि का नाश करता है।

आगे बढ़ कर यहाँ तक कहा गयाहै :–

सम्पत्तौ च विपत्तौ च, परलोकेच्छुकः पुमान्।
कदाचित् प्राणिनो हत्यां, न कुर्यात् तत्ववित् सुधी॥
वधात् रक्षति यो मर्त्यो जीवान् तत्वज्ञधर्मवित्।
किं पुण्यं तस्य वक्षेऽहं, ब्रह्माण्डं स तु रक्षति॥

तत्व को जानने वाले और श्रेष्ठ परलोक चाहने वाले पंडित पुरुष को सुख में या दुःख में किसी भी समय प्राणी हत्या नहीं करनी चाहिए। और धर्म को जानने वाला जो तत्वज्ञ पुरुष जीवों का वध से रक्षण करता है–जीव को बचा लेता है,उसके पुण्य का क्या वर्णन किया जाय? मानो वह ब्रह्मांड की रक्षा करता है।

इसी प्रकार पद्मोत्तरखण्ड में पार्वती का भी कथन है :–

स्वयं कामाशयो भूत्वा योऽज्ञानेन विमोहितः।
हन्त्यन्यान् विविधान् जीवान्, कृत्वा मन्नाम शंकर!॥
तद्राज्यवंशसम्पत्तिज्ञातिदारादिसम्पदाम्।
आचिराद्वै भवेन्नाशो मृतः स नरकं व्रजेत्॥

हे शंकर! स्वयं फल की इच्छा करने वाला और अज्ञान से मोह को पाया हुआ जो मनुष्य, मेरे नाम से विविध जीवों की हिंसा करता

है, उसका राज्य, वंश, सम्पत्ति, ज्ञाति और स्त्री आदि सब ऐश्वर्य थोड़े ही काल में नष्ट हो जाता है और वह मृत्यु पा करके नरक में जाता है।

हिंसा के निषेध के लिए धर्मशास्त्रकारों ने इस प्रकार उद्घोषणा पूर्वक कहा है। तिस पर भी अज्ञानी लोग खाने के लालच से, धर्म के निमित्त से. पूजा के निमिते से पशु वध करते हुए हिचकते नहीं। ऐसी मान्यताओं को मानने से दूर होते नहीं और घोर अकृत्यों को करते हुए लज्जित भी होते नहीं। कितने दुःख की बात है ? प्राणी हत्या न करते हुए अहिंसाधर्म की रक्षा पूर्वक यदि मनुष्य माता की पूजा और धर्मानुष्ठान करते हैं, तो वह कार्य कितना कल्याणकारी हो सकता है !

हिन्दू धर्म में तीन प्रकार की पूजा बताई हैं—

सात्विकी राजसी चैव त्रिधा पूजा च तामसी।
भगवत्याश्च वेदोक्ता, चोत्तमा मध्यमाधमा ॥

माता की पूजा सात्विकी, राजसी और तामसी, ऐसे तीन प्रकार की वेद में कही है। अनुक्रम से वह उत्तम, मध्यम और अधम जाननी चाहिए।

विचारने की बात है कि इन तीन प्रकार की पूजाओं में सात्विकी पूजा को उत्तम बताया है। जब कि सात्विकी पूजा को छोड़ कर राजसी और तामसी पूजा का आचरण करने वाला कैसे समझदार समझा जा सकता है ? उपर्युक्त सात्विकी पूजा किस

प्रकार हो सकती है, इसकी विधि बतलाते हुए कहा है :-

सात्विकी जपयज्ञाद्यैर्नैवेद्यैश्च निरामिषैः ।
माहात्म्यं भगवत्याश्च पुराणादिषु कीर्तितम् ॥
पाठस्तस्य जपः प्रोक्तः पठेद्देवीमनाः प्रिये ।
देवीसूक्तजपश्चैव यज्ञो वह्निषु तर्पणम् ॥

सात्विकी पूजा, जप, होम और मांस रहित नैवेद्य द्वारा होती है। उसमें पुराणादि में कथित देवी के माहात्म्य का पाठ करना, उसका नाम है जप। यह जप देवी के चरण में तन्मय होकर करना चाहिए। इस प्रकार देवी सूक्त का पाठ करना, वह जप और अग्नि में घृत की आहुति देना, उसका नाम है तर्पण।

ये दो प्रकार की पूजाएं हैं। ऐसी पूजा को छोड़ कर हिंसा-युक्त राजसी और तामसी पूजा का आचरण करना बुद्धिशालियों के लिए सर्वदा अनुचित है।

इस प्रकार दया बिना धर्म नहीं है; अतः सम्पूर्ण प्राणिमात्र पर दया करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है।

शरीर का सदुपयोग

तनुवं संघद सेवेयोळ्मनमनात्म ध्यानद-भ्यासदोळ् ।
धनमं दानसुपूजे योळ्दि नमनर्हद्धर्म कार्यं प्रव- ॥
र्तनेयोळ्पर्वनोन्दु नोंपिगळोळिर्दायुष्यमं सोच्चि-
तनेयोळ्तीर्चुव सद्गृहस्थननघं रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

शरीर को मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ की सेवा में लगाने वाला, मन को ध्यान के अभ्यास में, भगवान की स्तुति में, उनके गुणानुवाद में लगाने वाला, द्रव्य को जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा में, जिनालय बनाने में, जीर्णोद्धार करने में, शास्त्र लेखन में, तीर्थ क्षेत्र पूजा आदि में खर्च करने वाला, दिन को जैन-धर्म के प्रचार कार्य में प्रवर्तन, मध्यान्ह में प्रेमपूर्वक पर्व तिथि अष्टमी, चतुर्दशी व्रत नियम इत्यादि में बिताने वाला, और बची हुई आयु में मोक्ष की चिन्ता में समय व्यतीत करने वाला सद् गृहस्थ पाप से रहित होता है।

इस श्लोक में कवि ने कहा है कि मनुष्य शरीर को चार प्रकार के संघ की सेवा में व्यतीत करना चाहिए। मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका, यह चतुर्विध संघ कहलाता है। इनके प्रति हमेशा सद्भावना रखते हुए वैयावृत्य करना श्रावक का कर्तव्य है।

वैयावृत्य वृद्ध, बाल, रोगी तथा अन्य साधुओं की धर्म के अनुकूल अर्थात् शास्त्र के अनुकूल आहार दानादि द्वारा वैयावृत्य की जाती है। आहार, औषध, शास्त्र और अभय ये चार प्रकार के दान हैं। साधु के कर्म की निर्जरा के निमित्त और संयम की स्थिरता के लिए आहार दान किया जाता है। यह दान उनकी प्रकृति या उनके स्वास्थ्य के अनुसार तथा उनके संयम को बढ़ाने के लिये दिया जाता है। उसके साथ रोगी होने पर औषध दान शक्ति के अनुसार दिया जाता है। और शास्त्र दान ज्ञान की वृद्धि के लिए

अर्थात् अज्ञान को दूर करने के लिये या सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए दिया जाता है। इसके साथ जीव-दया अर्थात् जीवों की रक्षा करने के लिए पिच्छी दी जाती है। इसके अतिरिक्त वृद्ध, रोगी या थके हुए मुनि की थकावट दूर करने के लिए शरीर दबाकर वैयावृत्य की जाती है, यह सभी वैयावृत्य कहलाती है। वैयावृत्य भी महान् तप है जहाँ वैयावृत्य है वहाँ कर्म की निर्जरा है। वैयावृत्य से अपने अन्दर अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। वैयावृत्य करने वाले मनुष्य को तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार साधु की यथा-शक्ति वैयावृत्य करना प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है। इसी प्रकार घर में वृद्ध माता पिता की भी सेवा करनी चाहिए। यदि कोई धर्मात्मा हो और धार्मिक भावना से गिरता हो तो उसको उपदेश देकर धर्म में स्थित करना चाहिए। सारांश यह है कि सद्गृहस्थ को साधु, गुरुजन, माता पिता, धार्मिक बन्धु इन सबकी वैयावृत्य करनी चाहिए। वैयावृत्य का क्षेत्र विशाल है। साधु की सेवा वैयावृत्य कहलाती है और गुरुजनों आदि की सेवा सेवा कहलाती है, किन्तु दोनों ही वास्तव में सेवा हैं। सेवा का तो क्षेत्र और भी विशाल है गृहस्थ श्रावक पर बहुत दायित्व होते हैं। साधु जनों की भक्ति सेवा करना उसका कर्तव्य है। किन्तु घर में बड़ों की, बाहर दुखी जनों की सेवा करना भी उनका कर्तव्य है। इसीलिए तो कहा गया है—

सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् सेवा धर्म अत्यन्त गहन है। वह योगियों के ज्ञान से

परे है। वास्तव में दया भावना, समदत्ति, चार दान, गुरुभक्ति सभी सेवा के अन्तर्गत आ जाते है। सेवाभावी व्यक्ति को जो आत्म-संतोष होता है, वही उसका पुरस्कार है। क्या इस पुरस्कार से धन की समता हो सकती है?

मन का उपयोग ध्यान की ओर लगाना चाहिए। अनादि काल से यह जीव इस संसार में परिभ्रमण करते हुए अत्यन्त पवित्र उत्तम जैन कुल में उत्पन्न हुआ है। मेरा भाग्य है कि मैं इस समय इस पर्याय में हूँ मेरा कर्तव्य क्या है इस प्रकार जीव को हमेशा विचार करना चाहिए। जैसा कहा भी है कि —

कः कालो मम कोऽधुनाभवमहं वर्ते कथं सांप्रतम्।
किं कर्मात्र हितं परत्र मम किं किं मे निजं किं परम्॥
इत्थं सर्वविचारणाविरहिता दूरीकृतात्मक्रियाः।
जन्मांभोधिविवर्तपातनपराः कुर्वन्ति सर्वाः क्रियाः॥ २३॥

मेरा कौन सा काल है, अब कौन सा जन्म है, वर्तमान में किस किस तरह वर्ताव करूं, इस जन्म में मेरा कौन सा कार्य हितकारी है, पर-जन्म में कौन सा कार्य हितकारी है। मेरा अपना क्या है, पर क्या है, इस प्रकार की सर्व विवेकबुद्धि को न करते हुए तथा आत्मा का आचार दूर ही रखते हुए जगत के जन संसार समुद्र के भंवर में पटकने वाले सर्व आचरणों को करते रहते है।

विवेकी पुरुष व स्त्रियों को नीचे लिखे प्रकार प्रश्नों को व उत्तर को विचारते रहना चाहिए—

(१) मेरा कौनसा काल है ?

उत्तर—मेरा काल बालक है, युवा है या वृद्ध है, अथवा समय कैसा है। सुभिक्ष है या दुर्भिक्ष है। रोगाक्रान्त है या निरोग है। अन्यायी राज्य है या न्यायवान राज्य है, चौथा काल है, या पांचमा दुखमा काल है।

(२) मेरा अब कौनसा जन्म है ?

उत्तर—मैं इस समय मानव हूँ, पशु हूँ, देव हूँ, या नारकी हूँ, राजा हूँ या रंक हूँ।

(३) मैं अब किस तरह वर्ताव करूं ?

उत्तर—इसका उत्तर विचार करते हुए अपना ध्येय बना लेना चाहिए कि मै क्या इस समय मुनिव्रत पाल सकता हूँ या क्षुल्लक, ऐलक व ब्रह्मचारी श्रावक हो सकता हूँ, या मै गृहस्थ में रहते हुए धर्म साध सकता हूँ, या मैं गृहस्थ में रहते हुए कौन सी प्रतिमा के व्रत पाल सकता हूँ,या मैं आजीविका के लिए क्या उपाय कर सकता हूँ अथवा मैं परोपकार किस तरह कर सकता हूँ।

(४) इस जन्म में मेरा हितकारी कर्म क्या है ?

उत्तर—मैं इस जन्म में मुनि होकर अमुक अमुक शास्त्र लिख सकता हूँ व अमुक देश, जिले में जाकर धर्म का प्रचार कर सकता हूँ अथवा मैं गृहस्थ में रह कर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ को साध सकता हूँ। और धन से अमुक अमुक परोपकार कर सकता हूँ ?

(५) परलोक में मेरा हित क्या है ?

उत्तर—मैं यदि परलोक में साताकारी सम्बन्ध पाऊं, जहाँ मैं सम्यग्दर्शन सहित तत्व विचार कर सकूँ, तीर्थंकर केवली का दर्शन

कर सकूं, उनकी दिव्य ध्वनि को सुन सकूं, मुनिराजों के दर्शन कर के उनकी सत्संगति से लाभ उठा सकूं, ढाईद्वीप के व तेरह द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयों में दर्शन कर सकूं, तो बहुत उत्तम है जिससे मैं परम्परा से मोक्ष धाम का स्वामी हो सकूं।

(६) मेरा अपना क्या है ?

उत्तर—मेरा अपना मेरा आत्मा है, सिवाय अपने आत्मा के कोई अपना नहीं है। आत्मा में जो ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण है वे ही मेरी सम्पत्ति हैं। मेरा द्रव्य अखण्ड गुणों का समूह मेरा आत्मा है। मेरा क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी मेरा आत्मा है। मेरा काल मेरे ही गुणों का समय समय शुद्ध परिणमन है। मेरा भाव मेरा शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वभाव है। सिवाय इसके कोई अपना नही है।

(७) मेरे से अन्य क्या है ?

उत्तर—मेरे स्वभाव से व मेरी सत्ता से भिन्न सर्व ही अन्य आत्माएं हैं, सर्व ही अणु व स्कंधरूप पुद्गल द्रव्य है। धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा काल द्रव्य हैं। मेरी सत्ता में जो मोह के निमित्त से रागादि भाव होते हैं, ये भी मेरे नहीं है, न किसी प्रकार का कर्म व नोकर्म का संयोग मेरा अपना है, वे सब पर हैं।

जो विवेकी इन प्रश्नों का बिल्कुल विचार नहीं करते है वे आत्मोन्नति से सर्वदा दूर रहते हैं। वे वह कुछ भी आचरण नहीं पालते हैं जिससे आत्मा को सुख शांति प्राप्त हो। वे रात दिन संसार के मोह में फंसे रहते है और विषय कषाय सम्बन्धी अनेक न्याय व अन्याय रूप कार्यों को करते हुए संसार सागर में गोते

लगाते रहते है। ऊपर लिखित विवेक जिनमें होत्ता है वास्तव में वे ही मानव हैं। जिनमें यह विचार नहीं है वे पशु तुल्य नितान्त अज्ञानी तथा मूर्ख हैं। मानव जन्म पाकर जो इसे विषयों में खो देते है वे महा अज्ञानी है।

श्री ज्ञानार्णव में शुभचन्द्रजी कहते हैं —

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित्।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित् कामार्थलालसाः॥

सुप्राप्यं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे।
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे॥१२॥

मानव जन्म, उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की पूर्णता, बुद्धि की प्रवलता, साताकारी सम्बन्ध ये सब अत्यन्त दुर्लभ हैं। पुण्य योग से इनको पाकर भी जो कोई प्रमाद में फंस जाते हैं व द्रव्य के और काम भोगों के लालसावान हो जाते हैं, वे धर्म और रत्नत्रयमार्ग से भ्रष्ट रहते है। इस संसार रूपी समुद्र में जैनधर्म का मिलना मानवों को सुगमता से नहीं होता है। यदि कदाचित् अवसर आ जावे तो जैनधर्म को प्राप्त करके रक्षित रखना चाहिए। यदि सम्हाल न की तो जैसे भवसमुद्र में हाथ से गिरे हुए रत्न का मिलना कठिन है उसी तरह फिर जैनधर्म का मिलना दुर्लभ है।

जो पुरुष मनुष्य जन्म प्राप्त कर धन सम्पत्ति प्राप्त करके स्व या पर के कल्याण के लिए उसे खर्च नहीं करता है उसके प्रति कुन्दकुन्दाचार्य ने बताया है कि—

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणां फलाणसोहवहं।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहासवं जाणे ॥२६॥

धर्मात्मा, सम्यग्दृष्टि का दान कल्पवृक्ष के समान महान शोभा को प्राप्त होता है और लोभी पुरुष का दान मृतक पुरुष के विमान के समान है।

धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि पुरुषों का सुपात्र मे दान श्रद्धा, भक्ति और भावपूर्वक होता है इसलिए वह दान पचाश्चर्य विभूति के साथ स्वर्ग मोक्ष के महान फल को प्राप्त कराता है, परन्तु लोभी पुरुष का दान मान बढाई की इच्छा से दिया जाता है इसलिये वह मुर्दों की ठठरी के समान है।

श्रावक का मुख्य कर्तव्य

कुन्दकुन्दाचार्यानुसार श्रावक के मुख्य मुख्य ये कर्तव्य बताये है—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइधम्मं ण तं विणा तहा सोवि॥

सुपात्र में चार प्रकार का दान देना और श्री देव शास्त्र गुरु की पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है। जो नित्य इन (दोनों) को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर पालन करता है वही श्रावक है, धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि है। तथा ध्यान और जिनागम का स्वाध्याय करना मुनीश्वरों का मुख्य धर्म है। जो मुनिराज इन दोनों को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर अहर्निश पालन करता है वही

मुनीश्वर हैं, मोक्ष मार्ग में संलग्न हैं। यदि श्रावक दान नहीं देता है और न प्रति दिवस पूजा करता है, वह श्रावक नहीं है। जो मुनीश्वर ध्यान और अध्ययन नहीं करता है वह मुनीश्वर नहीं है।

दाणं पूजा सीलं उपवासं बहुविहं पि खिवणंपि।
सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्मविणा दीहसंसारं॥

दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास अनेक प्रकार के व्रत और मुनि-लिंग धारण आदि सर्व सम्यग्दर्शन के होने पर मोक्ष के कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शन के बिना जप तप दान पूजादि,सर्व कारण संसार को बढ़ाने वाले हैं।

दाणु ण धम्मु ण चागु ण भोगु ण वहिरप्प जो पदंगो स।
लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो॥

जो श्रावक सुपात्र में दान नहीं देता है, न अष्टमूल गुणव्रत संयम पूजा आदि अपने धर्म का पालन करता है और न भोग ही नीतिपूर्वक भोगता है वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है। वह जैनधर्म धारण करने पर भी जैनधर्म से बहिर्भूत है। वह लोभ की तीव्र अग्नि में पतंगे के समान पड़कर मरता है इसमें कोई संदेह नहीं है।

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ॥

जो श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रति दिवस देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करता है और सुपात्र में चार प्रकार का दान देता है

वह सम्यग्दृष्टि श्रावक है । दान देना तथा पूजा करना श्रावक के मुख्य धर्म है । जो भक्तिभाव और श्रद्धापूर्वक अपने धर्म का पालन करता है सो मोक्ष मार्ग में शीघ्र ही गमन करता है । वह संसार समुद्र से पार हो जाता है ।

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥

जो शुद्ध भाव से श्रद्धा पूर्वक पूजा करता है वह पूजा के फल से त्रिलोक के अधीश व देवताओं के इन्द्र से पूज्य हो जाता है और सुपात्र में जो चार प्रकार के दान देता है वह दान के फल से त्रिलोक में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है ।

दाणं भोयणमेत्त दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण ॥

भोजन (आहार दान) दान मात्र देने से ही श्रावक धन्य कहलाता है, पंचाश्चर्य को प्राप्त होता है, देवताओं से पूज्य होता है । एक जिनलिग को देखकर आहार दान देना चाहिए । जिनलिग धारण करने पर पात्रापात्र की परीक्षा नही करनी चाहिए ।

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥

सुपात्र को दान प्रदान करने से नियम से भोगभूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने परमागम में कहा है ।

खेतविसेसे काले ववियं सुबीयं फलं जहा विउलं।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसु दाणफलं ॥

जो मनुष्य उत्तम खेत में अच्छे बीज को बोता है तो उसको फल मनवांच्छित पूर्णरूप से प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम पात्र में विधिपूर्वक दान देने से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

मादुपिदुपुत्तमित्तं कलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं।
संसारसारसौक्खं सव्वं जाणउ सुपत्त दाणफलं ॥

माता पिता पुत्र स्त्री मित्र आदि कुटुम्ब परिवार का सुख और धन धान्य वस्त्र अलंकार रथ हाथी महल तथा संसार का सारभूत सुख यह सब सुपात्र दान का फल है अर्थात् सुपात्र दान से यह सब प्राप्त होता है।

सुकुल सुरूव सुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुशील सुगुणचारित्तं
सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥

उत्तम कुल, सुन्दर स्वरूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षा, उत्तम शील, उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक्चारित्र, उत्तम शुभलेश्या, शुभनाम और समस्त प्रकार के भोगोपयोग की सामग्री आदि सर्व सुख के साधन सुपात्र दान से प्राप्त होते है।

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवहिट्ठं।
संसार सारसौक्खं कमसो णिव्वाणवरसौक्खं ॥

जो भव्य जीव मुनीश्वरों को आहार दान देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह संसार के

सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त होता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

सीदुण्ह वाउपिउलं सिलेसिमं तह परीसमव्वाहिं।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिण्णए दाणं॥

श्री मुनिराज की प्रकृति शीत है या उष्ण, वायु वातरूप है या श्लेष्मारूप है या पित्त रूप है, मुनिराज ने कायोत्सर्ग और विविध प्रकार आसनों से कितना श्रम किया है, गमनागमन से कितना परिश्रम हुआ है, मुनिराज के शरीर में ज्वर संग्रहणी आदि व्याधि की पीड़ा तो नहीं है, कायक्लेश तप और उपवास के कारण मुनिराज के कोष्ठ आदि में शुष्कता तो नहीं है इत्यादि समस्त बातों का विचार कर उसके उपचार स्वरूप योग्य आहार औषधि दूध गर्म जल आदि देना चाहिए।

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिच्चा।
गब्भभवेव मादा पिदु वा णिच्चं तहा णिरालसया॥

जिस प्रकार माता पिता अपने गर्भ से होने वाले बालक का भरण पोषण, लालन पालन और सेवा सुश्रूषा तन मन की एकाग्रता और प्रेमभाव से करते है, सर्व प्रकार से बालक को सुरक्षित रखते है, इसी प्रकार सुपात्र की वैयावृत्य सेवा-सुश्रूषा आहार पान व्यवस्था निवास स्थान आदि के द्वारा पात्र की प्रकृति कायक्लेश वातपित्त आदि व्याधि और द्रव्य क्षेत्र काल के उपद्रवों को विचार कर करनी चाहिए।

इसी प्रकार धर्मात्मा श्रावकों को अपने धन को जिन-बिम्ब प्रतिष्ठा, जिनालय, तीर्थ क्षेत्र पूजा आदि में खर्च करना और जैन धर्म के प्रचार कार्य में प्रवर्तना चाहिये।

अष्टमी, चतुर्दशी पर्व तिथि को व्रत नियम आदि से बिताने वाले मनुष्य अपने जन्म को सफल बना लेते हैं।

आत्म चिन्तवन

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां संमता,
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिक्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम्।
साध्यं सिद्धिसुखं कियान् परिमितः कालो मनः साधनं,
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुरं किंवा समाधौ बुधाः॥

समाधि में परम ज्ञान सम्पन्न तीनों जगत के स्वामी ऐसे परमात्मा का चितवन करना चाहिये, यह वृत्ति श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमोदित है। उसी परमात्मा के चरणों का स्मरण न करना ही क्लेशकारी है, कर्मों का इस समाधि से क्षय होता है, मुक्ति का सुख प्राप्त होना फल है। इसमें समय कितना लगता है,बहुत थोड़ा अर्थात्, थोड़े समय में ही साध्य की सिद्धि हो सकती है। अपना मन ही उसका साधन है। बुद्धिमान मनुष्यों को समाधि में बाधाकारक क्या है, यह विचारना चाहिये।

तप से आत्मा की शुद्धि होना माना गया है। जैसे अग्नि में सुवर्ण को तपाने से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है वैसे ही बाह्य अन्तर दोनों प्रकार के तपों द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाता है।

सुख शान्ति ज्ञान ये आत्मा के ऐसे असाधारण गुण हैं जो कि दूसरे किसी भी पदार्थ में नही मिलते। इसीलिए आत्मा को अनुभवगोचर और सर्व वस्तुओं से निराला कहना पड़ता है। जैसे एक खास तरह का पीलापन सुवर्ण का ऐसा स्वभाव है कि वह दूसरे किसी पदार्थ में नहीं मिलता। इसलिए सुवर्ण सब धातुओं से एक निराली चीज माना जाता है और इसीलिए वह पीलापन जितना कम अधिक हो, सुवर्ण में दूसरी चीजो का मेल भी उतना ही कम अधिक होगा, यह मालूम पड़ सकता है। जिस समय सुवर्ण का वह पीलापन पूरा पूरा हो उस समय उसमें किसी दूसरी चीज का मेल भी नहीं माना जाता, वह सुवर्ण पूरा शुद्ध माना जाता है। इसी प्रकार जब कि आत्मा के सुख शान्ति तथा ज्ञानादिक खास स्वभाव हैं तो उनके कम अधिक होने से या विपरीत होने से उनके विघातक दूसरे विजातीय कारणों का मेल होना भी उस समय आत्मा मे मानना मुनासिब है। संसारवर्ती जीवों में सुख शान्ति तथा ज्ञान, ये गुण पूरे पूरे प्रकाशमान नहीं रहते या विपरीत रहते है यह बात बहुत ही सरलता के साथ जानी जा सकती है। क्योंकि संसार का सुख आकुलता तथा इष्ट वियोगादि दुःखों से पूरित रहता है, शान्ति का भी भंग इससे होता ही रहता है। ज्ञान सभी जीवों में परस्पर हीनाधिक रहता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि खान मे से तत्काल निकले हुए सुवर्ण की तरह संसारवर्ती जीव भी पूरे स्वच्छ निर्मल नही हैं। तो? अग्नि से जैसे वह सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही जीव की भी बाह्य तप से बाह्य शुद्धि तथा अन्तर तप से

अन्तर शुद्धि हो सकती है।

भव का अन्त कैसे हो ?

कल्याणमूर्ति द्रव्यदृष्टि के होने से दृष्टि स्वोन्मुख हो जाती है इसके आधीन ही मोक्ष तथा मोक्ष मार्ग है। द्रव्यदृष्टि ही भव का अन्त करने वाली है। द्रव्यदृष्टि होने के बाद कुछ अस्थिरता रह भी जाय और एक दो भव धारण करने भी पड़े तो वे भव बिगड़ते नहीं, अर्थात् युद्धादि करते हुए भी द्रव्यदृष्टि के बल से नीच गति का बंध नही होता। द्रव्यदृष्टि पूर्ण आत्मा को ही स्वीकार करती है। परद्रव्य तथा परलक्षी भावों को नहीं स्वीकार करती है। द्रव्यदृष्टि के बिना अनंतानंत उपाय करें तो भी मोक्ष नहीं पा सकता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी द्रव्य दृष्टि के आधीन है। आत्मदर्शन, आत्मज्ञान प्राप्ति का मुख्य उपाय द्रव्यदृष्टि ही है। द्रव्यदृष्टि से मोक्ष और पर्याय दृष्टि से संसार होता है। अनादि काल से पर्यायदृष्टि ही आत्मा ने की है। अब इसका अभाव करके द्रव्यदृष्टि ही मात्र करना है और कुछ नहीं करना है।

इसप्रकार मनुष्य अपने जीवन में उत्तम पर्याय पाकर इस मनुष्य जन्म का उपरोक्त लिखे अनुसार साधन करले तो उसका जीवन धन्य है, उसका मनुष्य पर्याय धन्य है। आत्म शांति प्राप्त करने में उसको दिक्कत नहीं पड़ती है। इसलिए प्रत्येक मानव को मानव पर्याय का स्व और पर के लिए उपयोग करना चाहिए। ये ही उपरोक्त श्लोक का सार है।

सुख दुःख में धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए—

पुत्रोत्साह दोळ्चरादि सकल प्रारम्भदोळ् व्याधियोळ् ।
यात्रासं-भ्रम दोळ्प्रवेशदेडेयोळ्वैवाहदोळ्नोविनोळ् ॥
छत्रांदोळ गृहादिसिद्धिगळो-ळर्हत्पूजेयु संघ स-
त्पात्राराधनेयुत्त-मोत्तमवला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पुत्र जन्मोत्सव में, विद्या अभ्यास के समय में, रोग में, यात्रा के समय में, गृह प्रवेश के समय में, विवाह के समय में, बाधा उत्पन्न होने के समय में, छत्र झूलना एवं अन्य उत्सव के समय में चतुर्विध संघ की सेवा, अरहन्त भगवान की पूजा, सत्पात्र की सेवा क्या व्यवहार धर्मों में श्रेष्ठ नही है।

जब तक यह जीव अपने निजानन्द, निराकुल और शान्त स्वरूप को नहीं पहचानता है, तब तक यह अस्थि, माँस और मल मूत्र से भरे अपावन घृणित स्त्री आदि के शरीर से अनुराग करता है। पचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है। इसे सभी प्रकार का परिग्रह सुखकारक प्रतीत होता है, किन्तु दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से इसके चित्त में विवेक जागृत हो जाता है और यह ज्ञायक स्वरूप होकर अपने निजानन्दमय सुधारस का पान करने लगता है।

पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब, धन आदि से जीव का ममत्व तभी तक रहता है, जब तक विरक्ति नही होती। यह जीव इन नश्वर पदार्थों

को अपना समझकर इनसे राग-विराग करता है तथा इनके अभाव और सद्भाव मे शोक और हर्ष मानता है। गृहस्थ यदि अपने कर्तव्य का यथोचित पालन करता रहे तो उसे पर पदार्थों से विरक्ति कुछ समय में हो जाती है। यद्यपि गृहस्थ धर्म निश्चय धर्म से पृथक् है, फिर भी उसके आचरण से निश्चय धर्म को प्राप्त किया जा सकता है। भगवत् पूजा, भगवान के गुणों का कीर्तन और उनका नाम-स्मरण ऐसी बातें हैं, जिनसे यह जीव अपना उद्धार कर सकता है। प्रभु-भक्ति सराग होते हुए भी कर्म बन्धन तोड़ने में सहायक है, परंम्परा से जीव में इस प्रकार की योग्यता उत्पन्न हो जाती है जिससे वह कर्म कालिमा को सहज में ही दूर कर सकता है।

प्रत्येक लौकिक कार्य के प्रारम्भ में भगवान का स्मरण, उनका पूजन, अर्चन और गुणानुवाद करना श्रेष्ठ है। इन कार्यो के विधि पूर्वक करने से श्रावक के मन को बल मिलता है, जिससे वे कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाते है तथा धर्म का आराधन भी होता है। कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को कभी भी धर्म को नही भूलना चाहिए धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थो का समान महत्व है। जो गृहस्थ इन तीनों का संतुलन नहीं रखता है, इनमें से किसी एक को विशेषता देता है तथा शेष दो को गौण कर देता है वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है। जिस समय अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन किया जाय, उस समय धर्म को नहीं भूलना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति लौकिक कार्यो के अवसर पर धर्म भूल जाते हैं, उन्हें सकट के समय ही धर्म याद आता

है। पर ऐसा करना ठीक नहीं है। धर्म का सेवन सदैव करना चाहिए। दया, दान, पूजन, सेवा, परोपकार, भक्ति इत्यादि कार्य प्रत्येक के लिए करणीय हैं, इनके किये बिना मानवता का पालन नहीं हो सकता है।

धर्म के विना ही जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जब तक मानव जगत की क्षणभंगुरता को न समझे तब तक सत्य धर्म की खोज नहीं हो सकती है। इसलिए अज्ञानी जीव इस क्षणभंगुरता की ममता को छोड़कर शाश्वत आत्म-सिद्धि की खोज करें। जगत की क्षणभंगुरता न समझने से क्या होता है ?

> संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं,
> दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम्॥
> तत्तावत् स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गैरनंगायुधे—
> र्वामानां हिमदग्धगुल्मतरुवद्यत् प्राप्तवान् निर्धनः॥ ५३॥

अरे, ससार में भ्रमते हुए तूने नरकादि गतियों मे, जिनके स्मरण मात्र से अत्यन्त भय उत्पन्न होता है ऐसे जो दुस्सह दुःख अभी तक भोगे उन्हे तू यों ही रहने दे. क्योंकि, वे अब साक्षात् दीखते नहीं हैं। परन्तु जैसे तुषार के पड़ने से छोटे छोटे पौधे दग्ध हो जाते हैं उसी प्रकार काम के बाणों के तुल्य स्त्रियों की कामोद्दीपक मन्द मन्द हंसी से तथा तीक्ष्ण कटाक्षों से विद्ध हुए जो तुझे दुःख हुए, उन सबों का तो स्मरण कर। वे तो अभी वर्तमान भव के हैं। भावार्थ—तू अनादि काल से विवेकशून्य हो रहा है। इसलिए

तूने जग की क्षणिक माया में फंसकर अनेक बार नरकादि के तीव्र दुःख भोगे है। परन्तु वे सभी दुःख परभव सम्बन्धी होने से तूने विसार दिये हैं। खैर, अब वर्तमान अवस्था में ही निर्धनता के कारण जो अनेक तरह के कष्ट तथा तिरस्कारादि दुःख सहे है, एवं काम के वशीभूत होकर स्त्रियों के तीव्र ताप उत्पन्न करने वाले कटाक्ष देखकर जो तीव्र वेदना निरन्तर सही है, उन्ही को तू विचार। इनके विचारने से भी तुझे जग की निस्सारता समझ पड़ेगी।

यदि संक्षेप में धर्म का विश्लेषण किया जाय तो मानवता से बढ़कर कोई धर्म समाज के लिए हितकर नही हो सकता है। समाज में सुख शान्ति स्थापन के लिए प्रधानतः अहिंसा का वर्ताव करना आवश्यक है। अहिंसक हुए बिना समाज में संतुलन नहीं रह सकता है। प्रत्येक व्यक्ति जब अपने जीवन में अहिंसा को उतार लेता है, विकार और कषायें उससे दूर हो जाती है तब वह समाज की ऐसी इकाई बन जाता है जिससे उसका तथा उसके वर्ग का पूर्ण विकास हो जाता है।

जब तक कोई भी व्यक्ति स्वार्थ के सीमित दायरे में बन्द रहता है, वह अपना व समाज का कल्याण नही कर पाता। अतः वैयक्तिक तथा सामाजिक सुधार के लिए अहिंसा का पालन करना आवश्यक है।

दान से मोक्ष-प्राप्ति होती है—

आहारभय वैद्य शास्त्रमेने चातुर्दानदिं सौख्यसं—
दोहं श्रीशिले श्रेष्य-कांस्य रजताष्टापाद रत्नंगळिं ॥

देहारं गेयलंग सौंदरवलं तच्चेत्यगेहप्रति—
ष्ठाहर्ष गेये मुक्तिसंपदवला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

आहार, अभय, भेषज और शास्त्र इन चार प्रकार के दान समूह से सुख, शोभायुक्त, पत्थर, सोना, चांदी और रत्न आदि के द्वारा मन्दिर बनाने से शारीरिक सौन्दर्य और शक्ति की प्राप्ति तथा इस मन्दिर मे सन्तोष पूर्वक जिन-बिम्ब की प्रतिष्ठा कराने से क्या मोक्ष रूपी श्रेष्ठ सम्पत्ति की प्राप्ति नही होगी ?

गृहस्थ को अपनी अर्जित सम्पत्ति में से प्रतिदिन दान देना आवश्यक है। जो गृहस्थ दान नही देता है, पूजा प्रतिष्ठा में खर्च नहीं करता है, जिनमन्दिर बनाने में धन व्यय नहीं करता है, उसकी सम्पत्ति निरर्थक है। धन की सार्थकता धर्मोन्नति के लिए धन व्यय करने में ही है। धर्म मे खर्च करने से धन बढ़ता है, घटता नही। जो व्यक्ति हाथ बांधकर कंजूसी से धार्मिक कार्यों में धन नही लगाता है, धन को जोड़-जोड़ कर रखता है, उस व्यक्ति की गति अच्छी नही होती है। धन के ममत्व के कारण वह मर कर तिर्यंच गति में जन्म लेता है। इस जन्म में भी उसको सुख नहीं मिल सकता है, क्योंकि वास्तविक सुख त्याग में है, भोग में नहीं।

अपना उदर पोषण तो शूकर कूकर भी करते है। यदि मनुष्य जन्म पाकर भी हम अपने ही पेट के भरने में लगे रहे तो हम शूकर कूकर के तुल्य ही हो जायेंगे। जो केवल अपना पेट भरने के लिए

जीवित है, जिसके हाथ से दान पुण्य के कार्य कभी नहीं होते हैं, जो मानव-सेवा में कुछ भी खर्च नहीं करता है, दिन रात जिसकी तृष्णा धन एकत्रित करने के लिए बढ़ती जाती है, ऐसे व्यक्ति की लाश को कुत्ते भी नहीं खाते। अभिप्राय यह है कि पुण्योदय से धन प्राप्त कर उसका दान पुण्य के कार्यों में सदुपयोग करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। प्रति दिन जितनी आमदनी मनुष्य को हो, उसका कम से कम दशांश अवश्य दान में खर्च करना चाहिए। दान करने से धन से मोह बुद्धि दूर होती है, आत्म बुद्धि जाग्रत हो जाती है। अतः परोपकार, सेवा और धर्म प्रभावना के कार्यों में धन खर्च करना परम आवश्यक है। इस जीवन की सार्थकता उसे अन्य लोगों के उपकार या भलाई में लगाने से ही हो सकती है।

दान कभी भी कीर्ति-लिप्सा या मान कषाय को पुष्ट करने के लिए नहीं देना चाहिए। जो व्यक्ति मान कषाय के कारण रत्न-त्रयात्मक धर्म, निर्दोष देव, गुरु, स्वजन, परिजन आदि का अपमान करता है, तथा सम्मान-प्राप्ति की लालसा से दान देता है, वह व्यक्ति स्वयं अपना पुण्य खो देता है; तीव्र कर्मों का बन्ध होकर संसार की वृद्धि करता है। जैसे घी का विधिपूर्वक उपयोग करने से स्वास्थ्य-लाभ होता है, समस्त रोग दूर हो जाते है और दूषित विधि से सेवन करने पर रोग उत्पन्न होते है, उसी प्रकार धन का भाव-शुद्धि पूर्वक मन्द कषाय होकर उपयोग करने से पुण्य-लाभ होता है, ममत्व दूर होता है और परिणामों में शुद्धि आती है, जिससे कर्म परम्परा हल्की हो जाती है, तथा कषाय पुष्ट करने के

लिए कुत्सित भावनाओं के कारण धन का उपयोग करने से पाप बन्ध होता है या अत्यल्प पुण्य का बन्ध होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सद्‌भावनापूर्वक बिना किसी आकाक्षा के दान पुण्य के कार्य करने चाहिए। इन कार्यो के करने से व्यक्ति को शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है।

भावपूर्वक दान देने से आत्मा में रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है, तीव्र जठराग्नि जैसे आहार को पचा देती है, उसी प्रकार भव में अर्जित कर्म समूह को तथा शरीर के रोगादि को भावसहित दिया गया दान नष्ट कर देता है। भावसहित दान देने वाला कभी दरिद्र, दीन, रोगी, मूर्ख, दुखी नहीं हो सकता है। अतः आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान और अभय दान इन चारों दानों को प्रति दिन करना चाहिए।

चारित्रं चिनुते तनोति विनयं ज्ञानं नयत्युन्नतिं।
पुष्णाति प्रशमं तपः प्रबलयत्युल्लासयत्यागमम्॥

पुण्यं कन्दलयत्यघं दलयति स्वर्गं ददाति क्रमा—
न्निर्वाणश्चियमातनोति निहितं पात्रे पवित्रे धनम्॥

जो मनुष्य सत्पात्र को दान देता है, उसके चारित्र का विकास होता है, विनय और ज्ञान उन्नत होते है. तप प्रशस्त होता है, जीवन में उसे उल्लास की प्राप्ति होती है, पाप का विनाश होता है, पुण्य की प्राप्ति होती है, स्वर्ग मिलता है और अन्त में निर्वाण

लक्ष्मी प्राप्त होती है।

लक्ष्मी कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते।
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगतालिंगति।
श्रेयः संहतिरभ्युदेति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थिति-
र्मुक्तिर्वांछति यः प्रयच्छति पुमान्पुण्यार्थमर्थं निजम्॥

जो मनुष्य पुण्य-संचय की कामना से दूसरों के लिए धन का दान करते हैं, उनकी लक्ष्मी इच्छा करती है, बुद्धि उसे ढूंढती फिरती है, कीर्ति की वह बाट देखती है प्रेम उसका चुम्बन करता है, सौभाग्य उसकी सेवा करता है, नीरोगता उसका आलिंगन करती है, कल्याण सामूहिक रूप से प्राप्त होता है स्वर्गों के भोग उसको वरते हैं और मुक्ति उसकी वांछा करती है अर्थात् दान देने से ये सभी चीजें प्राप्त होती हैं।

दान चार प्रकार के होते हैं—आहार दान, औषध दान, अभय दान और ज्ञान दान।

दान का वर्णन

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम्॥ ११३॥

सात गुणों से युक्त मन वचन काय से शुद्ध श्रावक को पंच पापों और कृषि इत्यादि आरम्भ परिग्रह से रहित श्रेष्ठ दिगम्बर मुनियों के लिये दान देना चाहिये। श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, ज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य इनको सप्तगुण कहते हैं। दाता में ये सात

गुण होने चाहिए। ऐसा दाता प्रशंसा के योग्य होता है। सत्पात्र को आहार दान करने से इह लोक में कल्याण होता है। ऐसा समझ कर विश्वास के साथ अर्थात् श्रद्धा के साथ मुनियों को दान देने में आनन्द मानने को सन्तोष कहते है। उनके गुणों में श्रद्धा रखना उसको भक्ति कहते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार दान के ज्ञान को विज्ञान कहते है। ख्याति पूजा लाभादि फल की इच्छा न करते हुए दान देने को अलुब्धता कहते है। क्रोधादि से रहित शांत भाव से दान देने को क्षमा कहते है। धनवान न होते हुए भी अत्यंत उत्साह पूर्वक दान देने को सत्य कहते है।

दाता के गुण इस प्रकार है—

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धं क्षमा सत्य।
यस्येते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥
खंडनी वेषणी चुल्ली उदकुम्भी प्रमार्जनी।
पंचसूत्रा गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छति॥

नवधा भक्ति

स्थापनमुच्चैःस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामश्च।
मनवचकायशुद्धय एषणशुद्धिश्च नवविधं पुण्यं॥

स्थापना, उच्च स्थान देना, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि और एषणा शुद्धि इनको नवधा भक्ति कहते है। मुनि को आहार दान के लिए प्रदक्षिणा पूर्वक पड़गाहने को स्थापना अथवा प्रतिग्रहण कहते है। मुनिराज को उन्नत आसन पर

बैठाने को उच्च स्थान कहते हैं । पाद प्रक्षाल करने को पाद प्रक्षाल कहते हैं। अष्टविध पूजा करने को अर्चना कहते हैं। उनको विनय पूर्वक पंचांग नमस्कार करने को प्रणाम कहते हैं। मन के शुद्ध परिणाम को मन शुद्धि कहते हैं। असभ्य वचन रहित मृदु वचन बोलने को वचन शुद्धि कहते है। यत्नाचार पूर्वक शरीर शुद्धि के साथ दान देने को काय शुद्धि कहते है । प्रत्येक वस्तु शोध करके आहार दान देने को एषणा शुद्धि कहते है। इस प्रकार सप्त गुण, नवधा भक्ति से विभूषित श्रावक द्वारा मुनिराज को आहार देने को आहार दान कहते हैं।

दान विधि

गृहस्थ आश्रम के श्रावक या श्राविका के लिए शास्त्र के अनुसार पूजा आदि षट् कर्मों में दान भी एक है । दान कहते हैं, 'अनुग्रहार्थम् स्वस्यातिसर्गो दानम्' तत्वार्थ सूत्र के इस सूत्र के अनुसार परोपकार के लिए धन आदि के त्याग करने को दान कहते हैं। जहाँ स्व और पर का कल्याण होता हो, कर्म की निर्जरा होती हो, वहाँ अपनी किसी वस्तु के त्याग करने या दान देने को दान कहते हैं। जिस दान से रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनि के संयम की वृद्धि या रक्षा होती हो, कर्मों की निर्जरा हो ऐसे पात्र को देना दान कहलाता है। दान चार प्रकार के है– आहार, अभय, भेषज और शास्त्र। कैसे पात्रों को आहार कराना चाहिए, कैसे देना चाहिए, क्या इसकी विधि है, इसका संक्षेप में वर्णन करते हैं।

उमास्वामी आचार्य ने अपने तत्वार्थसूत्र में कहा है कि 'विधिद्रव्यदातृपात्र विशेषात्तद्विशेषः' इस दान में विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दातृ विशेष और पात्र विशेष ऐसे चार प्रकार से विशेषता आती है अर्थात् इन चार कारणों से विशेष फल की प्राप्ति होती है।

विधि विशेषः—प्रति दिन श्रावक को अपने द्वार को शुद्ध करके स्वस्तिक आदि मांगलिक चिन्ह से सुशोभित करना चाहिए। इन बाह्य चिन्हों से साधु को पता लगता है कि यह श्रावक का घर है यह मंगलमय है और ये आहार करने योग्य घर है। श्रावक सुबह उठ कर नित्य क्रिया करके मन्दिर में जाते हैं और वहाँ भगवान के दर्शन पूजा करने के बाद अपने घर आकर शुद्ध धोती दुपट्टा पहन कर प्रासुक पानी से भरे हुए कलश को लेकर और अष्ट द्रव्य अथवा पुष्प फल आदि अपने हाथ में लेकर अपने द्वार के आगे पंच नमस्कार मंत्र को पढते हुए अतिथि की प्रतीक्षा करनी चाहिए। जब मुनि आहार के निमित्त उठते हैं तब वे शुद्धि करके भिक्षा वृत्ति के समय में मन में संकल्प करके उठते हैं कि अगर संकल्प के योग्य शुद्ध आहार मिलेगा तो आहार करेंगे। अगर कोई दाता यह आकर कहे कि मुनि को हमारे घर ही आना चाहिए, ऐसे स्थान पर मुनि नही जाते हैं। मुनि अतिथि हैं. भ्रामरी वृत्ति से आहार करते है। साधु कभी-कभी अटपटे संकल्प करके उठते हैं कि अमुक चीज या परिस्थिति मिलेगी, तब ही आहार लेंगे। ऐसी दशा में यदि उनके उद्देश्य के अनुकूल आहार मिले तो आहार लेते है नही तो उस दिन उपवास करते है।

दातृ संकल्प—मैने उच्च कुल में जन्म लिया, वह मुनि दान द्वारा सार्थक है, जैन स्त्री पुरुष इस प्रकार की भावना करते हुए मगल वस्तु या फल फूल इत्यादि अपने हाथ में लेकर खड़े होते है। इस प्रकार सकल्प करने को दातृ संकल्प कहते हैं।

चरण संकल्प—मैं आज एक ही मार्ग में आहार को जाऊँगा, एक ही घर में जाऊँगा, अथवा इस प्रकार मिलेगा तो स्वीकार करूँगा, इस प्रकार संकल्प करने को चरण संकल्प कहते है।

अमत्र संकल्प—मै आज सोना चांदी अथवा पीतल आदि पात्रों में कोई हाथ में आहार लेकर खड़ा हो तो आहार लूँगा ऐसा संकल्प करने को अमत्र संकल्प कहते है।

अन्न संकल्प—आज ऐसे रस पदार्थ अथवा ऐसे अमुक धान्य वा आहार मिलेगा तो मैं आहार करूँगा अन्यथा नही करूँगा, इस प्रकार के संकल्प को अन्न संकल्प कहते है।

इस प्रकार मुनिराज अनेक प्रकार के भिक्षा नियम ले करके चलते है। भिक्षा पद्धति को भ्रामरी पद्धति कहते है। जैसे भ्रमर आदि पुष्पों को किसी प्रकार का उपद्रव या कष्ट न देते हुए धीरे धीरे पुष्प के रस को पा करके उड़ जाता है, उसी प्रकार मुनिराज भी दाता को किसी प्रकार-का उपद्रव न करते हुए, बल्कि आनन्द देते हुए अन्न ग्रहण करते है अर्थात् भिक्षा करते है।

मुनि आहार के समय जाते समय विशेष मुद्रा धारण कर लेते हैं, वे बाया हाथ टेढ़े कमल के डण्डे के समान करके अपने कंधे पर रखते हैं। आर्जिका ऐलक की आहार मुद्रा में हाथ छाती पर

रहता है, क्षुल्लक आदिकी मुद्रा में हाथ की अंगुली बांध कर जाते हैं। इस प्रकार जब आते हैं तब मुनि अर्जिका क्षुल्लक जैसा पात्र हो उसी प्रकार देख करके नवधा भक्ति के साथ, अपने घर में ले जाकर आहार देना चाहिए।

जिस समय मुनिराज अपने घर की तरफ आ जाते है तो उनको देखकर मन में अत्यन्त हर्ष से युक्त होकर प्रतिग्रह करना चाहिए अर्थात् मुनिराज को अपनी तरफ आते देखकर उस समय 'नमोस्तु स्वामिन् नमोस्तु स्वामिन् नमोस्तु अत्र तिष्ठ तिष्ठ भ्रामरी शुद्धि करोमि स्वाहा' ऐसे मंत्र को तीन बार कहे। जब वे मुनिराज खड़े होजाय तो बाईं ओर से उनकी तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिए। इसके बाद मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, पिण्ड शुद्धि है जो व्रत आदि लिया हो, उसको भी कह देना चाहिए। और रात्रि भोजन का त्याग है, ऐसा कहना चाहिए। ऐसा कह करके 'आहार शुद्ध है, जल शुद्ध है, मेरे घर में आहार के लिए पधारिये' ऐसा कह कर मुनिराज को झुक कर तीन बार नमस्कार करे। पश्चात् 'भूमि शुद्धि करोमि स्वाहा' यह कहकर अपने कलश से पानी डालते हुए आगे बढ़ना चाहिए। उसके बाद अपने दरवाजे मे पानी से भरा हुआ लोटा रख देना चाहिए। भीतर जाते समय पाँव धो करके जाना चाहिए। उसको प्रतिग्रह विधि कहते है।

उच्च स्थान—'नमोस्तु स्वामिन् नमोस्तु इदं उच्चासनं ग्रहण ग्रहण' ऐसे मंत्र से उन्नत आसन पर या पटरे पर उनको बिठाना चाहिए। उसे उच्च आसन कहते हैं।

अगीक्षारण–'नमोस्तु स्वामिन् नमोस्तु' मुनि को इस प्रकार कह कर उनको उच्चासन पर बैठाने के बाद उनके सामने एक भगौना या थाली रखना चाहिए उसमें 'पाद प्रक्षालनं करोमि स्वाहा' से ऐसे मंत्र पढ़कर उनके पैर गरम पानी से धोना चाहिए। बाद में पाद प्रक्षाल करने के बाद चरणोदक लेना चाहिए। उसको अंगीक्षारण कहते है।

अर्चा—उसके बाद एक पाटे पर अष्ट द्रव्य से उन मुनिराज की पूजा करनी चाहिए। पूजा करने के पहले उसी पाटे पर स्वस्तिक की मंत्रोच्चार के साथ रचना करनी चाहिए। उसके बाद अष्टक कह करके भक्ति से पूजा करनी चाहिए।

पूजा विधि—जैसे नीचे लिखा हुआ है उसके समान सातिया लिखना चाहिए और अंकों को उसके नीचे लिखना चाहिए। इसके बाद बिन्दी रखना चाहिए।
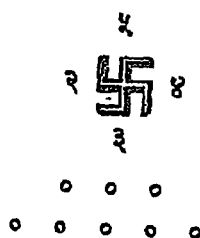
उसके बाद आव्हानन करना चाहिए। बाद में सबसे पहले अष्ट अर्चन करना चाहिए। इस प्रकार नीचे के श्लोक को मुंह से उच्चारण करना चाहिए—

सतीं श्रुतस्कंधवने विहारिणी-
मनेकशाखागहने सरस्वतीं ॥
गुरु प्रबोहेण जडानुकंपिना।
स्तुवेऽभिवंदे वनदेवतामिह।

ॐ ह्रीं क्लीं हासकला सर्वशास्त्रप्रकाशिनीं वद वद वाग्वादनी सरस्वती देवी एहि संवौषट् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः अत्र मम सन्निधी भव भव वषट ऐसा कह कर आव्हानन स्थापन सन्निधीकरण करके ॐ ह्री शब्दब्रह्म मुखोत्पन्न द्वादशांग सरस्वती देव्यै जलम् निर्वपामि स्वाहा।

इस प्रकार सरस्वती और गणधर पूजा होने के बाद मुनि की पूजा करनी चाहिए ॐ ह्रीं परम पूज्य .... अत्र आगच्छ आगच्छ संवौषट् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः। इसी प्रकार ॐ ह्री श्रीं २८ मूलगुण सहित साधु चरणेभ्यो अथवा ३६ मूलगुण सहित आचार्य चरणेभ्यो जलम् निर्वपामि स्वाहा

ॐ ह्रीं श्रीं २८ मूल गुण सहित साधु चरणेभ्यो अथवा ३६ मूलगुण सहित आचार्य चरणेभ्यो चन्दनम् निर्वपामि स्वाहा

इस प्रकार पूजा करने के बाद नमोस्तु स्वामिन् नमोस्तु ऐसा कह कर पंचाग नमस्कार करने के बाद अपने हाथ तीन बार बेसन लगा कर धोने चाहिए। इसके बाद एक उच्चासन पर रखी हुई सामान वाली थाली को तीन बार ठीक प्रकार से धोना चाहिए। बाद में ठीक से देख करके परोसते समय गर्म चीज नीचे न रखते

हुए सावधानी से धीरे धीरे थाली में परोसना चाहिए। तब उस थाली को सामने टेबिल या उच्चस्थान पर रख करके मन शुद्धि वचन शुद्धि, काय शुद्धि, नवधा भक्ति शुद्धि पूर्वक आहार तैयार किया हुआ है, ऐसा कह करके शुद्धि बोलना चाहिए। तब बाद में मुनिराज के खड़े होने के बाद थाली में रखे हुए पदार्थों का नाम बताना चाहिए। जो उनका त्याग किया हुआ पदार्थ हो उसको अलग कर देना चाहिए और बाद में शुद्धि पूर्वक ठीक सावधानी से ग्रास देना चाहिए। दिगम्बर मुनि कर-पात्र में ही आहार करते है, उनका कोई अन्य पात्र नहीं होता है। आहार देते समय प्रमाण मात्र ग्रास बना करके उनके हाथ में रखना चाहिए। वहाँ अत्यन्त शांति रहना चाहिए, जोर से या ज्यादा नही बोलना चाहिए। बोलने से आहार में श्वास के द्वारा छींटे जाने की संभावना रहती है। ज्यादा भीड़ नही करनी चाहिए, दो या तीन आदमियों को आहार देना चाहिए। अन्तराय आदि का भी ख्याल रखना चाहिए।

मन शुद्धि—दाता अपने मन में क्रोध मान माया लोभ आकुलता न करते हुए और भय न करते हुए शांति परिणाम वाला होना चाहिए।

वचन शुद्धि—मुनिराज आहार के लिए अपने घर में आवें, तब से आहार करके जावे तब तक घर में हित मित और मृदु वचन बोलना चाहिए। किसी के प्रति राग नही करना चाहिए, दूसरे जीव के मन में चोट लगे ऐसा कोई कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए।

काय शुद्धि—पिण्ड शुद्धि और कुल शुद्धि है, अष्ट मूल गुण का धारण मेरे है ऐसा विश्वास दिलाना चाहिए। शरीर पर धोती दुपट्टा और चन्दन का टीका लगा करके शुद्धि पूर्वक हाथ धो करके तीन बार हाथ जोड़ करके अर्थात् अपने हाथ धोते समय 'हस्त शुद्धि करोमि स्वाहा, ऐसे तीन बार बोलना चाहिए और अपने हाथ धोने चाहिए।

आहार शुद्धि—मुनिराज आहार को खड़े होने के बाद सिद्ध भक्ति पूर्वक आहार लेते है। इसलिए उस समय तीन बार आहार शुद्धि कहना चाहिए। ऐसे तीन बार कह करके 'स्वामिन् आहार पानी शुद्ध है मन वचन काय शुद्ध है।' इसके बाद वे अपने हाथ आगे करते हैं, तब न डरते हुए उनकी प्रकृति के अनुसार आहार को अत्यन्त सावधानी पूर्वक देना चाहिए। आहार होने के बाद उनके चरण धोना चाहिए। तब वे चरण धोने के बाद णमोकार मंत्र की जाप देते है। जाप करने के बाद 'नमोऽस्तु नमोऽस्तु, कह करके नमस्कार करना चाहिए। बाद में पानी कमण्डल में भर कर जहाँ जाना चाहे वहाँ पहुँचना चाहिए। इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक आहार दे करके जो श्रावक भक्ति करता है उसको इस लोक और परलोक में सुख मिलता है और परम्परया मोक्ष का गामी होता है।

इसी प्रकार चार दान में ये प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं—आहारदान मे श्रीसेन राजा, औषध दान मे वृषभसेन राजा की पुत्री, शास्त्र दान मे ग्वाल का जीव, अभय दान में शूकर प्रसिद्ध हुए है। पुराणों में उनका चरित्र प्रसिद्ध है, उनका ज्ञान कर लेना चाहिए।

पिडिदोन्दर्चिसे नोने दानपलंपिं माडे छत्पुण्यदिं ।
कुडुगं निम्मय धर्ममोंदे नृपरोळ्पं भोगभूलच्मियं- ॥
विडुगण्यांसिरियं बळिक्के सुकृतं भोगंघळोळ्विदोंडं ।
कुडुगुं मुक्तियनितंदाकुडुवरो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

प्रेम पूर्वक पूजा करने से, व्रत करने से और संतोषपूर्वक दान से जो पुण्य होता है, वह राज सम्पत्ति, देव सम्पत्ति और भोग भूमि को देने वाला होता है। इसके पश्चात् शेष पुण्य भोगादि के समाप्त होने पर भी मोक्ष प्रदान करने में सहायक होता है।

शुद्धोपयोग की प्राप्ति होना इस पंचम काल में सभी के लिए संभव नहीं। यह उपयोग कषायों के अभाव से प्राप्त होता है तथा आत्मा परपदार्थों से बिल्कुल पृथक् प्रतीत होती है। आत्मानुभूति की पराकाष्ठा होने पर ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु शुभोपयोग प्राप्त करना सहज है, यह कषायों की मन्दता से प्राप्त होता है। सच्चे देव की श्रद्धापूर्वक भक्ति करना तथा उनकी पूजन करना, दान देना, उपवास करना आदि कार्य कषायों के मन्द करने के साधन है। इन कार्यों से क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का उपशम या क्षयोपशम होता है।

जिसमें क्षुधा, तृष्णा, राग, द्वेष आदि अठारह दोष नहीं हों, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, और अतीन्द्रिय सुख का धारी हो, ऐसे अर्हन्त भगवान तथा सर्व कर्म रहित सिद्ध भगवान सच्चे देव है। इनके

गुणों में प्रीति बढ़ाते हुए मन से, वचन से तथा काय से पूजा करना शुभोपयोग है। भगवान की मूर्ति द्वारा भी वैसी ही भक्ति हो सकती है, जैसी साक्षात् समवशरण में स्थित अर्हन्त भगवान की भक्ति की जाती है। पूजा के दो भेद हैं–द्रव्य पूजा और भाव पूजा।

पूज्य या आराध्य के गुणों में तल्लीन होना भाव पूजा और आराध्य का गुणानुवाद करना, नमस्कार करना और अष्ट द्रव्य भेंट चढ़ाना द्रव्य पूजा है। द्रव्य पूजा निमित्त या साधन है और भाव पूजा साक्षात् पूजा या साध्य है। भावों की निर्मलता के बिना द्रव्य पूजा कार्यकारी नहीं होती है। स्वामी समन्तभद्र ने भक्ति करते हुए बताया है—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥

संसार के दृष्टा, साधुओं द्वारा वन्दनीय, केवलज्ञान के धारी, परमौदारिक शरीर के धारी, कर्म कलंक से रहित, निरंजन रूप, कृतकृत्य, श्री ऋषभनाथ भगवान मेरे चित्त को पवित्र करे। भावों की निर्मलता से ही शुभ राग होता है, इसी से महान् पुण्य का बन्ध होता है। और कर्मों की निर्जरा भी होती है। इस प्रकार भगवान के गुणों में तल्लीन होने से कषाय भाव मन्द होते हैं और शुभोपयोग की प्राप्ति होती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने शुभोपयोग की प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

देवजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्ते सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरूपां चाशुभोपयोगभूमिकां अतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवास प्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमंगीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ॥

यह आत्मा जब दुख रूप अशुभोपयोग हिंसा—झूठ, चोरी, सप्त व्यसन, परिग्रह आदि का त्याग कर शुभोपयोग की ओर प्रवृत्त होता है, भगवत् पूजन, गुरु सेवा, दान, व्रत. उपवास, सप्तशील आदि को धारण करता है तो इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति इसे होती है। वस्तुतः आत्मा के लिए शुद्धोपयोग ही उपयोगी है, पर जिनकी साधना प्रारम्भिक है, उनके लिए शुभोपयोग भी ग्राह्य है। अतः प्रत्येक गृहस्थ को देव पूजा, गुरुभक्ति, सयम, व्रत, उपवास आदि कार्य अवश्य करना चाहिए। इन कार्यो के करने से देव, अहमिन्द्र इन्द्र आदि पदों की प्राप्ति होती है, पश्चात् परम्परा से परमपद भी मिलता है।

बिना पुण्य के संसार की भोग सम्पत्ति नहीं मिल सिकती है—

पुण्यंगेय्यदे पूर्वदोळ्वरिदे तानीगळमनं नोडेला ।
बण्यक्कोभरणक्के भोगकेनसु रागक्के चागक्के ता— ॥
रुण्यक्कग्गद लक्ष्मिगं बयसि बायं बिट्टू कांक्षामहा—
रण्यं बोक्ककटेके चिंतिसुवदो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

पूर्व मे स्वयं पुण्य कार्य को न करके, व्यर्थ ही दूसरे के रूप, शृंगार, ऐश्वर्य, वैभव, भोग, अंगलेपन, सुगंधित वस्तुओं के उपयोग को, दान को, यौवनावस्था जैसी श्रेष्ठ सम्पत्ति को देखकर ईर्ष्यावश मुंह खोलकर आशा रूपी महा जंगल में प्रवेश करके चिल्लाने से क्या होगा ?

ससार मे सुख संम्पत्ति की प्राप्ति पुण्योदय के विना नही हो सकती है । जिसने जीवन में दान, पुण्य, सेवा, पूजा, गुरुभक्ति नही की है, उसे ऐश्वर्य की सामग्री कैसे मिलेगी ? वह दूसरो की विभूति को देखकर क्यों जलता है ? क्योकि विना पूर्व पुण्य के सुख सामग्री नहीं मिल सकती है । देव पूजा, गुरु भक्ति, पात्र दान आदि पुण्य के कार्य हैं । जो व्यक्ति इन कार्यो को सदा करता रहता है, उसके ऊपर विपत्ति नही आती है, वह सर्वदा आनन्दमग्न रहता है । केवल जिनेन्द्रदेव का पूजा की ही इतना वड़ा माहात्म्य है कि भाव सहित पूजा करने वाले को सारी सुख सामग्रियां उपलव्ध हो जाती है । कविवर वनारसीदास ने पूजन का माहात्म्य वतलाते हुए लिखा है—

लोपै दुरित हरै दुख संकट, आवै रोग रहित नित देह ।
पुण्य भंडार भरै जश प्रगटै, मुकति पन्थसों करै सनेह ॥
रचै सुहाग देय शोभा जग, परभव पहुँचावत सुरगेह ।
कुगतिवंध दह मलहि बनारसि, वीतराग पूजा फल येह ॥

देवलोक ताको घर आंगन, राजरिद्ध सेवैं तसु पाय।
ताको तन सौभाग्य आदि गुन, केलि विलास करैं नित आय॥
सो नर त्वरित तरै भवसागर, निर्मल होय मोक्ष पद पाय।
द्रव्य-भाव विधि सहित बनारसि, जो जिनवर पूजे मन लाय॥

जिनेन्द्र भगवान की पूजा पाप, दुःख, संकट, रोग आदि को दूर कर देती है। प्रभु भक्ति से मन की विशुद्धि होती है, जिससे पुण्य का बन्ध होता है। पूजा से संसार में यश, धन, वैभव आदि की प्राप्ति होती है। जीव निर्वाण मार्ग से स्नेह करने लगता है। यह सौभाग्य, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि को प्रदान करती है। देवगति का बन्ध पूजा करने से होता है। नरक तिर्यंच गति भगवान के पूजक को कभी नहीं मिल सकती है। भक्ति सहित पूजा करने वाले को राज्य, ऋद्धि, स्वर्गलोक आदि सुखों की प्राप्ति होती है। पूजक शीघ्र ही संसार समुद्र से पार हो जाता है, कर्म मल के दूर हो जाने से स्वच्छ हो जाता है। पूजा सर्वदा भाव सहित करनी चाहिए। मन के चंचल होने पर पूजा का फल यथार्थ नहीं मिलता है। अतः देव पूजा, गुरुभक्ति, संयम, दान, स्वाध्याय और तप इन गृहस्थ के दैनिक कर्तव्यों को प्रति दिन अवश्य करना चाहिए। इन किये बिना गृहस्थ का जीवन निरर्थक ही रहता है।

गृहस्थ पूजा, दान आदि के द्वारा इस लोक में भी सुख भोगता है। उसके चरणों में ऐहिक विभूतियाँ पड़ी रहती हैं। संसार की ऐसी कोई सम्पत्ति नहीं, जो उसे प्राप्त न हो, वह संसार का शिरो-

मणि होकर रहता है। क्योंकि शुद्धात्माओं की प्रेरणा पाकर उन्हीं के समान साधक आत्म विकास करने के लिए अग्रसर होता है। जैनधर्म की उपासना साधनामय है, दीनता भरी याचना या खुशामद नहीं है। शुद्धात्मानुभूति के गौरव से ओत-प्रोत है, दीनता क्षुद्रता, स्वार्थपरता को जैन पूजा में स्थान नही। भगवत् भक्ति भावों को विशुद्ध करती है, आत्मिक शक्तियों का विकास करती है, कषायें मन्दतर होती हैं जिससे पुण्यानुबन्ध होने के कारण सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जिनेन्द्र पूजन के समान ही गृहस्थ को दान तप और गुरु भक्ति भी करनी चाहिए, क्योंकि इन कार्यों से भी महान पुण्य का लाभ होता है। आत्मा में विशुद्धि आती है और कर्म क्षय करने की शक्ति उत्पन्न होती है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को जिनेन्द्र पूजन, गुरु भक्ति और पात्र दान प्रतिदिन करना आवश्यक है।

निदान बन्ध रहित ही पुण्य मोक्ष का कारण होता है—

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१७२॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का मार्ग है, वे ही सेवने योग्य है। साधुओं ने ऐसा कहा है। इन्हीं से कर्म बन्ध या मोक्ष होता है।

इस गाथा में आचार्य ने यह बात दिखलाई है कि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय आत्मा के स्वभाव है। जैसे पानी का स्वभाव शीतल, निर्मल, तथा मीठा है वैसे आत्मा का स्वभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

च सम्यक्चारित्र रूप है--जैसे मिश्री डालने से पानी का स्वभाव कुछ गंदला व अन्य तरह का मीठा हो जाता है वैसे शुभोपयोग रूप पंच-परमेष्ठी की भक्ति, दान, पूजा आदि परिणामों के मिश्रण से वे ही शुभ गुण शुभरूप आचरण करते हुए साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म के कारण हो जाते हैं तथा जैसे खारा और गंदला पानी लूणे पानी में मिलाने से वही पानी मैला और खारा हो जाता है जो पीने वाले को बुरा लगता है,वैसे ही मिथ्यात्व भाव इन्द्रिय विषय की चाह व क्रोधादि कषाय के द्वारा अनेक पदार्थों में रमा हुआ यह श्रद्धानादि भाव अशुभोपयोग होकर पाप बंध का कारण हो जाता है।

इसका भाव यही है कि मोक्ष के अनन्त सुख को चाहने वाले जीव के लिए उचित है कि पाप बंध के कारण अशुभ उपयोग से बच-कर जहाँ तक संभव हो शुद्ध आत्मा में ही श्रद्धा व ज्ञान सहित चर्या करे। यदि उपयोग वीर्य की कमी से स्वात्मानुभव में अधिक न ठहर सके तो उसे श्री परमेष्ठी की भक्ति, स्वाध्याय, दान, धर्म गोष्ठी व परोपकारादि शुभोपयोग में लगाकर अशुभ से रोके, तथापि शुभ उपयोग को साक्षात् मोक्ष का कारण न मान कर उसको परम्परा से मोक्ष का कारण व साक्षात् पुण्य बंध का कारण जाने। तात्पर्य यह है कि निश्चय से आत्माधीन रत्नत्रय ही ग्रहण करने योग्य है।

श्री पद्मनन्दि मुनि ने एकत्वभावनादशक में कहा है—

चैतन्यैकत्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा।
लब्ध्वा कथंचिदेषा हि चिंतनीया मुहुर्मुहुः॥

मोक्ष एव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः ।
संसारेऽत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥

चेतना के स्वभाव में एकता पाकर अनुभूति का पाना यद्यपि दुर्लभ है, तथापि यही मोक्ष को देने वाली है । इसे जिस तरह बने पाकर इसी का बार बार चिन्तन करना चाहिए । साक्षात् मोक्ष ही सुख रूप है । मोक्ष के चाहने वालों को उस ही का साधन करना चाहिए । संसार में यहाँ वह सुख नहीं है । यदि कुछ सुख है तो वह मोक्ष का सुख नही है ।

ईश्वर श्रीमन्तता अथवा दरिद्रता किसी को नहीं देता

आरिच्चार्कळेदर्दरिद्र मनदा वंगावनेनोंदु स-
त्कारं गेय्यदे भाग्यमं किडिसिदं पूर्वार्जितप्राप्तियिं ॥
दारिद्र्यं धनमेंबेरळ्मनिकुं मत्तेके धीरत्वमं ।
दूरं माडिमनंमदा कुदिवदो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४८॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

किसने मनुष्य को दरिद्रता दी तथा उसे आदरहीन बनाते हुए किसने उसके ऐश्वर्य का नाश किया ? तात्पर्य यह है कि पूर्व जन्म में किए हुए पाप-पुण्य से ही दरिद्रता तथा सम्पत्ति मिलती है, इसका भाग्य विधाता अन्य कोई नहीं है । तब फिर मनुष्य धैर्य का परित्याग कर मन में शोक क्यों करता है ?

जैनागम मे कर्मों का कर्ता और भोक्ता जीव को स्वयं ही माना गयाहै । प्रत्येक जीव स्वतः अपने भाग्य का विधायक है । कोई परोक्ष

सत्ता ईश्वरादि उसके भाग्य का निर्माण नहीं करती है। अपने शुभ अशुभ के कारण स्वयं जीव को सुखी और दुखी होना पड़ता है। श्री नेमिचंद्राचार्य ने जीव के कर्ता और भोक्तापने का वर्णन करते हुए बताया है---

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदनकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं॥

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स॥

व्यवहार नय की अपेक्षा यह जीव पुद्गल कर्मों का कर्ता है। यह मन, वचन और शरीर की व्यापार रूप क्रिया से रहित जो निज शुद्धात्म तत्व की भावना है उस भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का एवं औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीनों शरीरों और आहार आदि छः पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल पिण्ड रूप नोकर्मों का कर्ता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से यह घट, पट, महल, रोटी, पुस्तक आदि बाह्य पदार्थों का कर्ता है।

अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा यह जीव राग, द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्ता है। ये भाव ही जीव के कर्म बंध में कारण होते है। इन्हीं के कारण यह जीव इस प्रकार कर्मों को ग्रहण करता है जैसे लोहे के गोले को आग में गर्म करने पर वह चारों ओर से पानी को ग्रहण करता है, इसी प्रकार यह जीव भी अशुद्ध भावों से

विकृत होकर कर्मों को ग्रहण करता है । शुद्ध निश्चय नय से यह जीव मन, वचन, काय की क्रिया से रहित होकर शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप में परिणमन करता है । इस नय की अपेक्षा यह जीव विकाररहित परम आनन्दस्वरूप है । यह अपने स्वरूप में स्थित सुखामृत का भोक्ता है। अतः जीव अपने कर्मो और स्वभावों का कर्ता स्वयं ही है, अन्य कोई उसके लिए कर्मों का सृजन नहीं करता है तथा इस जीव को भी किसी ने भी नही बनाया है, यह अनादि काल से ऐसा ही है ।

कर्मफल का भोगने वाला भी यही है। इसे कर्मो का फल कोई ईश्वर या अन्य नही देता है । उपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से यह जीव इष्ट तथा अनिष्ट पंचेन्द्रियों के विषयों का भोगने वाला है। यह स्वयं अपने किये हुए कर्मो के कारण ही धनी और दरिद्र होता है, इसको धनी या दरिद्र बनाने वाला अन्य कोई नही है। अतः धन के नष्ट होने पर या प्राप्त होने पर हर्ष विषाद करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह तो कर्मो का ही फल है । जो व्यक्ति दरिद्र होने पर हाय हाय करते है, वेदना से अभिभूत होते हैं, उन्हें अधिक कर्म का बन्ध होता है। हाय हाय करने से दरिद्रता दूर नहीं हो सकती है, बल्कि और अशान्ति का अनुभव करना पड़ेगा। धैर्य और सहनशीलता से बढ़कर सुख और शान्ति देने वाला कोई उपाय नही। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बन कर अपना स्वयं विकास करना होगा । जब तक व्यक्ति निराशा में पड़कर स्वावलम्बन को छोड़े रहता है, उन्नति

रुकी रहती है। स्वावलम्बन ही आत्मिक विकास के लिए उपादेय है, अतः अपने आचरण को निरन्तर शुद्ध बनाने का यत्न करना चाहिए।

भावार्थ यह है कि इस जीव को पाप और पुण्य कोई नहीं देता है, अपने किए हुए कर्म के अनुसार यह जीव इस फल को भोगता है। अगर पाप और पुण्य को कोई देवता देता हो तो इस संसार में जो तपश्चर्या दान पुण्य किया जाता है यह सब ही व्यर्थ हो जायेगा। इस संसार में कोई देवी कोई देवता मनुष्य को पाप या पुण्य नही दे सकता है। जैसे मनुष्य करनी करता है उसी प्रकार पाप पुण्य का भी भागी होता है। इस संसार में प्रत्यक्ष देखा ज ाता है, जो अच्छे काम करता है उसे अच्छा कहा जाता है, बुरे को बुरा कहा जाता है। इसी तरह मनुष्य के कर्तव्य या मनुष्य धर्म से च्युत होने के कारण संसार में जो मनुष्य के लिए मनमानी सामग्री चाहिए वह नही मिल सकती है। भला बुरा ये ही संसार के लिए कारण है। इसलिए संसार में जिनको अपनी भलाई करनी है उनको इसी मनुष्य पर्याय के द्वारा श्री वीतराग जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए निर्मल मार्ग को ग्रहण करके अपनी बिगड़ी हुई अवस्था को सुधार लेना चाहिए। अपने सुख का मार्ग प्राप्त करने का अवसर इसी मनुष्य पर्याय में है। सुख और शान्ति अपने ही पास है। मनुष्य की पर वस्तु के प्रति जब तक राग परिणति होती है इस जीव को सुख और शान्ति भी नही मिल सकती है। जब सासारिक विषय वासना के प्रति घृणा हो जाती

है जब यह जीव अपने शाश्वत निज स्वरूप के प्रति झुक जाता है तभी उस मनुष्य का कंगालपना मिट जाता है । इस जीव को दरिद्र अवस्था में ले जाने वाली, इस आत्मा को कंगाल बनाने वाली ये ही इन्द्रिय सम्बन्धी पर वस्तु है। जब तक जीव इसके मोह को नही छोड़ता तब तक इसको असली सुख और शान्ति नही मिल सकती । अगर किसी को अखण्ड अविनाशी जीव बनना है तो भगवान वीतराग द्वारा कहे हुए निज शुद्ध आत्मा के प्रति लौ लगानी चाहिये, ये ही सिद्ध आत्मा को प्राप्त करना है। इसी विषय की पुष्टि करने के लिए कवि नीचे का श्लोक कहता है।

कुरुरायं बहुवित्तमं कुडुवना कर्णंगे मत्ता सहो—
दरर्गा पांडवर्गेनुमं कुडनदें पिंवोळ्तिनोळ्कर्णनु—
र्वरे दारिद्र्यनेनल्के संदनररे धर्मधराधीशरा ।
दरिदें पापशुभोदयक्रियेयला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥४६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

दुर्योधन कर्ण को बहुत द्रव्य देता था पर पांडवों को तो कुछ नही देता था। फिर भी अन्त में कर्ण दरिद्र बन गया और वे धर्मराज पृथ्वीपति आदि बन गये । क्या यह पाप पुण्य का फल नही है।

सांसारिक ऐश्वर्य, धन, सम्पत्ति आदि अपने अपने भाग्योदय से प्राप्त होता है। किसी के देने लेने से सम्पत्ति प्राप्त नही हो सकती है। कोई कितना ही धन क्यों न दे, पुण्योदय के अभाव में

वह स्थिर नहीं रह सकता है। जब मनुष्य के पाप का उदय आता है, तो उसकी चिर अर्जित सम्पत्ति देखते देखते विलीन हो जाती है। पुण्योदय होने पर एक दरिद्री भी तत्काल थोड़े ही श्रम से धनी बन जाता है। जीवन भर परिश्रम करने पर भी पुण्योदय के अभाव में धन की प्राप्ति नहीं हो सकती है। प्रायः अनेक बार देखा गया है कि एक मामूली व्यक्ति भी भाग्योदय होने पर पर्याप्त धन प्राप्त कर लेता है। भाग्य की गति विचित्र है, जब अच्छा समय आता है तो शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, जंगल में मंगल होने लगता है, कुटुम्बी रिश्तेदार स्नेह करने लगते है, पर अशुभोदय के आने पर सभी लोग अलग हो जाते हैं, मित्र घृणा करने लगते हैं और धन न मालूम किस रास्ते से निकल जाता है। अत' सुख दुःख में सर्वदा समता भाव रखना चाहिए।

जो व्यक्ति इन कार्यों के विचित्र नाटक को समझ जाते है, वे दीन दुःखियों से कभी घृणा नहीं करते उनकी दृष्टि में ससार के सभी प्रकार के चित्र झलकते रहते हैं, वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि ये संसार के भौतिक सुख क्षणविध्वंसी है, इनसे राग द्वेष करना बड़ी भारी भूल है। जो तुच्छ ऐश्वर्य को पाकर मद-उन्मत हो जाते हैं, दूसरों को मनुष्य नहीं समझते, उन्हें संसार की वास्तविक दशा पर विचार करना चाहिए। यह झूठा अभिमान है कि मैं किसी व्यक्ति को अमुक पदार्थ दे रहा हूँ, क्योंकि किसी के देने से कोई धनी नहीं हो सकता। कौरवो ने कर्ण को अपरिमित धन दिया, पर क्या उस धन से कर्ण धनी बन सका? कौरव

पाण्डवों को कष्ट देते रहे, उन्होंने लोभ में आकर अनेक वार पाण्डवों को मारने का भी प्रयत्न किया, पर क्या उनके मारने से या दरिद्र बनाने से पाण्डव मर सकें ? किसी के भाग्य को बदलने की शक्ति किसी में भी नही है ।

चिरकाल से अर्जित कर्म ही मनुष्यों को अपने उदयकाल मे सुख या दुःख दे सकते हैं । किसी मनुष्य की शक्ति नहीं, जो किसी को सुख या दुःख दे सके । मनुष्य केवल अहंकार भाव में भूल कर अपने को दूसरे के सुख दुःख का दाता समझ लेता है । वस्तुतः अपने शुभ या अशुभ के उदय के बिना कोई किसी को तनिक भी सुख या दुःख नही दे सकता है । संसार के सभी प्राणी अपने अपने उदय के फल को भोग रहे हैं ।

अहंभाव और ममतावश मनुष्य अपने को अन्य का सुख दुःख दाता या पालक पोषक समझता है । पर यह सुनिश्चित है कि अपने सदुदय के बिना मुंह का ग्रास भी पेट मे नहीं जा सकता है, उसे भी कुत्ते बिल्ली छीन कर ले जायेंगे । माता पिता सन्तान का जो भरण पोषण करते है, वह भी सन्तान के शुभोदय के कारण ही । यदि सन्तान का उदय अच्छा नही हो तो माता-पिता उसको छोड़ देते है और उसका पालन अन्यत्र होता है । अतः अहंकार भाव को त्यागना आवश्यक है । यह ध्रुव सत्य है कि कोई किसी के लिए कुछ नही करने वाला है ।

उपभोगं वरे भोगवैतरे मनोरागंगळि भोगिपं- ।
तुपसर्गं वरे मेण्दरिद्र बडसल्पं वोवमंताळ्दुनि- ॥

म्म पादांभोजयुगं सदा शरणेनुचिन्छैसुवंगा गृहा
स्थपदं ताने मुनीन्द्र पद्धतियला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥ ५० ॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

भोग और उपभोग के प्राप्त होने पर, शरीर में दुःसाध्य रोग उत्पन्न होने पर, और दरिद्रता के आने पर जो गृहस्थ संतोष धारण करके तुम्हारे चरण कमल की शरण लेता है, क्या उसका गार्हस्थ्य जीवन मुनि-श्रेष्ठ मार्ग के तुल्य नही है ?

जो व्यक्ति संसार के समस्त भोगोपभोगों के मिल जाने पर उनमें रत नहीं होता है, भगवान के चरणों का ध्यान करता है, तथा घर गृहस्थी में रहता हुआ भी ममत्व से अलग रहता है, वह मुनि के तुल्य है। जिस गृहस्थ को संसार की मोह माया नहीं लगी है, जो ससार को अपना नहीं मानता है, जिसे समता बुद्धि प्राप्त हो गयी है, वह घर में रहता हुआ भी अपना कल्याण कर सकता है। उसके लिए संसार को पार करना असंभव नही, वह अपने आत्म विश्वास, सज्ज्ञान और सदाचरण द्वारा संसार को पार कर लेता है। इस दुर्लभ मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर अनादि काल से चली आयी जन्म-मरण की परम्परा को अवश्य दूर करना चाहिए।

असाध्य रोग हो जाने पर जो हाय हाय करते हैं, चीखते चिल्लाते है, विलाप करते है, वे अपनी जन्म मरण की परम्परा को और बढ़ाते हैं। वे संक्लेश परिणाम धारण करने के कारण और

दृढ़ कर्मबन्धन करते है। रोने-चिल्लाने से कष्ट कम नहीं होता है, बल्कि और बढ़ता चला जाता है। अतः असाध्य रोग, या और प्रकार के शारीरिक कष्ट के आने पर धैर्य धारण करना चाहिए। धैर्य धारण करने से आत्मबल की प्राप्ति होती है, जिससे आधा कष्ट ऐसे ही कम हो जाता है। जो व्यक्ति शारीरिक कष्ट के आने पर विचलित नही होता, पंचपरमेष्ठी के चरणों का ध्यान करता है वह अपना कल्याण सहज में कर लेता है।

दरिद्रता भी मनुष्य की परीक्षा का समय है। जो व्यक्ति दरिद्रता के आने पर घबड़ाते नही है, सन्तोष धारण करते हैं, तथा कर्म की गति को समझ कर जिनेन्द्र प्रभु के चरणों का स्मरण करते हैं, वे अपना उद्धार अवश्य कर लेते है। धन, विभूति, ऐश्वर्य आदि के द्वारा मनुष्य का उद्धार नही हो सकता है। ये भौतिक पदार्थ तो इस जीव के साथ अनादि काल से चले आ रहे है, इनसे इसका थोड़ा भी उपकार नहीं हुआ। बल्कि इनकी आशक्ति ने इस जीव को संसार में और धकेल दिया, जिससे इसे कर्मो की जंजीर को तोड़ने मे विलम्ब हो रहा है। जो व्यक्ति दरिद्रता, शारीरिक कष्ट या वैभव के प्राप्त हो जाने पर इन सब चीजों को अस्थिर समझ कर आत्म चिन्तन में दृढ़ हो जाते है, वे मुनि के तुल्य है। ससार की ओर आकृष्ट करने वाले पदार्थ उन्हें कभी भी नहीं लुभा सकते हैं, उनके मन मोहक रूप के रहस्य को समझ जाते हैं, जिससे उनमें मुनि के समान स्थिरता आ जाती हैं। आत्म ज्ञान उनमें प्रकट हो जाता है, जिससे वे पर पदार्थो को अपने से भिन्न समझते हुए अपने स्वरूप

में विचरण करते हैं।

जो गृहस्थ उपर्युक्त प्रकार से समता धारण कर लेता है, अपने परिणामों में स्थिर हो जाता है, उसे कल्याण में विलम्ब नहीं होता। महाराज भरत चक्रवर्ती के समान वह घर में अनासक्त भाव से रह कर भी राज-काज सब कुछ करता है फिर भी उसे केवलज्ञान प्राप्त करने में देरी नहीं होती। उसकी आत्मा इतनी उच्च और पवित्र हो जाती है जितनी एक मुनि की। उसके लिए वन और घर दोनों तुल्य रहते हैं। परिग्रह उसे कभी विचलित नहीं करता है और न परिग्रह की ओर उसकी रुचि ही रहती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा धैर्य धारण कर आत्म-चिन्तन की ओर अग्रसर होना चाहिए।

पर वस्तु से भिन्न आत्मा का ध्यान करना ही श्रेष्ठ है। प्रवचनसार में कहा भी है कि—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तुणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओप्पगो अप्पा ॥ १०१ ॥

जो शरीरादि भाव हैं, वे पर द्रव्य से तन्मयी है, आत्मा से भिन्न हैं, और अशुद्धता के कारण है। वे आत्मा के कुछ नहीं लगते, विनाशीक हैं, और जो यह आत्मा है, वह अनादि अनन्त है, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट है, सदा सिद्ध रूप है, ज्ञानदर्शनमयी है, और एक ध्रुव है। इस कारण मैं शरीरादि अध्रुव (विनाशीक) वस्तु को अंगीकार नहीं करता हूं, शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता हूं।

स्व परं भेद—

खिहियुं कारमुम्लम्नुं लोगरुवुप्पुं कैपेयुं वेरे वे-
रे हितं दोकुं मेनुत्तवक्कोलिववोल् श्रीगं दरिद्रादुरा ॥
गृहकं भोगके रोगकं पळिकेगं केडिगेयुं वाधेगु-
त्सहमं माळ्प गृहस्थनुं सुखियला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥५१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मीठा, कड़ुवा, तिक्त, नमकीन और खट्टा ये अलग अलग रुचि वताने वाले रस हैं। इसी प्रकार ऐश्वर्य, दरिद्रता, दुराग्रह, भोग रोग, निद्रा, नाश और वाधा को अपने स्वरूप से अलग मानकर उत्साहित रहने वाला गृहस्थ क्या सुखी नही है ?

व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य जीवन में नाना प्रकार के दुःख-सुख के अवसर आते हैं। कभी यह ऐश्वर्य पाकर आनन्द से नाचने लगता है, तो कभी दरिद्रता पर विलाप करने लगता है। भोग के समय आनन्द मानता है, पर रोग के समय यही कष्ट का अनुभव करता है। इसी प्रकार संयोग, वियोग, उत्पत्ति, विनाश, साता, असाता आदि के अवसर आते हैं। इनमें प्रत्येक व्यक्ति को नाना प्रकार के अनुभव होते हैं। जिस प्रकार भोजन में मधुर, लवरण अम्ल, तिक्त, कटु रसों का अनुभव होता है, तथा इन रसों के रहने से भोजन स्वादिष्ट माना जाता है, उसी प्रकार मानव जीवन का निर्माण भी विभिन्न परिस्थितियों के आने पर ही होता है। जो व्यक्ति इन विचित्र हर्ष, विषादकारक परिस्थितियों में दृढ़ रहते हैं,

विचलित नहीं होते, तथा इन्हें व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं वे कभी दुखी नहीं हो सकते। वास्तव में आत्मा का स्वभाव तो सुख स्वरूप ही है, दुःख का उसके ऊपर केवल आरोपण किया गया है। इस आरोपित धर्म का जब मनुष्य को अनुभव हो जाता है तो वह अपने अपने वास्तविक रूप को समझ लेता है। और वह ससार की विभिन्न परिस्थितियों को समझकर धैर्य धारण करता है।

यदि ऐश्वर्य-दरिद्रता में मनुष्य को समदृष्टि प्राप्त हो जाय, तो फिर वह कभी दुखी नहीं हो सकता है। दुःख का अनुभव तभी तक होता है जब तक भेद बुद्धि लगी रहती है, मनुष्य जब तक अपना, तेरा समझता है और परपदार्थो के साथ ममता रखता है तभी तक उनके संयोग वियोग से कष्ट का अनुभव करता है। पदार्थ के नाश होने पर उसके साथ अपना ममत्वभाव रहने के कारण ही तो व्यक्ति को दुःख होता है। जब ममत्व भाव अलग हो जाता है तो फिर उसके नाश से कष्ट नहीं होता। अतएव सुख प्राप्त करने का एक मात्र साधन समता भाव ही है। जहाँ समता है वहाँ शांति है, सुख है और है सच्चा विवेक। ऐश्वर्य और दरिद्रता तो पौद्गलिक कर्मो का विपाक है। इसका आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं।

जो व्यक्ति सांसारिक प्रलोभनों के आने पर विचलित नहीं होता है, हर्ष-विषाद की स्थिति में तटस्थ रहता है तथा अनासक्त भाव से संसार के प्रत्येक काम को करता रहता है, वह साम्यभाव

का धारी होता है। ऐसा ही सम्यग्दृष्टि जीव अपने कर्म जाल को नष्ट करने में समर्थ होता है। यही जल से भिन्न कमल की कहावत को चरितार्थ करता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक जब संसार के प्रत्येक प्रकार के अनुभव से परिपक्व हो जाता है तो वह तटस्थ वृत्ति को प्राप्त हो जाता है। साधारण व्यक्ति में और सम्यग्दृष्टि में इतना ही अन्तर होता है कि प्रथम विपत्तियों के आने पर घबड़ा जाता है, पर द्वितीय सर्वदा सुमेरु के समान अडिग रहता है। मनुष्य की मनुष्यता की परख विपत्ति के समय ही होती है। आचार्य ने इसी कारण सुख-दुःख में समताभाव रखने के लिए कहा है। साम्यभाव की जागृति हो जाना ही सद्विवेक का सूचक है। साम्यभाव पर पदार्थों से मोह बुद्धि को दूर करने में परम सहायक है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख मे समताभाव धारण करना चाहिए। यह समताभाव आत्मा का गुण है, इसकी जागृति होने से आत्मस्वरूप की उपलब्धि में विलम्ब नही होता।

इन विषयों के होते हुए भी जो संसारी इनका त्याग कर के आत्म स्वरूप के प्रति रुचि रखता है उसी को आत्म-सिद्धि होती है। आत्मानुशासन में कहा भी है कि—

> अकिंचनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
> योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः॥

पर पदार्थ कभी अपना नही बन सकता है। पदार्थ इकट्ठे करने की भावना कितनी ही चाहे की जाय और कितने ही उपाय

किये जांय, पर वे अपने निज स्वरूप में आकर मिल नहीं सकते हैं। आत्मा आत्मा ही रहेगा और पर पर ही रहेंगे। यह वस्तु स्वभाव की स्वाभाविक गति है। आत्मा अमूर्तिक और चेतन है। दूसरे सर्व पदार्थ मूर्तिमान हैं और जड़ हैं। इस प्रकार जीव और बाकी कुल पदार्थ अपने अपने निराले स्वभावों को रखने वाले जब कि माने गये हैं तो वे एक दूसरे में कैसे मिल जांयगे या एक दूसरे की वे भलाई बुराई क्या करेंगे? दूसरी बात यह है कि आत्मा में वह आनन्द भरा हुआ है कि जो जड़ पदार्थों में असंभव है। शरीर से चेतना निकल जाने पर वह शरीर तुच्छ और फीका भासने लगता है। इसका कारण यही है कि शरीर जड़ है, उसमें आनन्द या सुख की मात्रा क्या रह सकती है? शरीर में रहते हुए भी जो सुखानुभव होता है वह चेतना का ही चिन्ह है, न कि जड़ शरीर का। क्योंकि आनन्द या सुख ज्ञान के बिना नहीं होता। वह ज्ञान का ही रूपान्तर है। तो फिर जड़ में वह कैसे मिल सकता है? इसी लिए सुख की लालसा से जड़ विषयों का सेवन करना, उनसे सुख चाहना पूरी पूरी भूल है। तब? केवल आत्मा का स्वभाव जानने के लिए उसी का ध्यान करो, चिंतन करो तो संभव है कि कभी आत्मा का पूरा ज्ञान हो जाने से पूरा निश्चल सुख प्राप्त हो जाय। जब कि अज्ञान अवस्था में भी थोड़ा सा ज्ञान शेष रहने के कारण जीवों को कुछ सुख अनुभवगोचर होता दीखता है तो पूर्ण ज्ञानी बनने पर पूरा सुख क्यों न मिलेगा? जब कि चेतना ही आनन्ददायक है तो जड़ पदार्थों में फँसने से आनन्द कैसे मिल सकता है,

क्योंकि जड़ पदार्थो में फंसने से ज्ञान नष्ट या हीन अवस्था को प्राप्त होता है जिससे कि आनंद की मात्रा घट जाना संभव है। पदार्थों में फंसने वाला जीव आत्म ज्ञान से तो वंचित होता है और इधर जड़ पदार्थों से कुछ मिलने वाला नही है इसलिए दोनों तरफ के लाभ से जाता है। उसे न इधर का सुख, न उधर का सुख। यदि वही जीव सब तज कर अकेले अपने आपको भजने लगे तो तीनों जग का सुख प्राप्त कर सकता है। फिर उससे बचा ही क्या रहा? इसीलिए मानना चाहिए कि वह तीनों लोक का स्वामी बन चुका।

जब कि यह जीव सब झगड़े छोड़कर आत्मज्ञान को प्राप्त करके सारे असार संसार में से अपने चिदानन्द को सारभूत समझने लगा और उस लोक-श्रेष्ठ आनन्द का अनुभव करने लगा तो इससे बड़ा और तीन लोक का स्वामी कौन होगा ? कोई नहीं । उस समय ये ही तीन लोक का स्वामी बन जायगा । क्योंकि जो जिस-का स्वामी होता है वह उसके सार तत्व को भोगता है। जीव जब कि तीनों लोक के एकमात्र सार सुख आत्मानन्द को भोगने लगा तो वह तीनों लोक का स्वामी हो चुका। इसलिए यह कहा कि—

तू ऐसी भावना कर कि मैं अकिंचन हूं, सभी जड़ पदार्थो से मेरा ज्ञानमय स्वरूप निराला है। ऐसी भावना करते करते जब तू अहं अर्थात् आत्म स्वरूप को अपना अभिन्न स्वरूप समझ जायगा, तब तू तीनों लोक का पूर्ण स्वामी बन जायगा। इसलिए तू सब झंझटों से अपने को निराला समझ कर अपने स्वरूप में ठहरने का प्रयत्न

कर। ऐसे स्वरूप की प्राप्ति योगियों को ही हो सकती है। एकाकी आत्मा का ध्यान करने से त्रैलोक्यपति कैसे बन जाता है, यह बात भी योगियों को ही पूरी समझ में आई है अथवा यों कहिये कि एकाकी-पने की भावना से प्राप्त होने वाला सुख योगियों को ही मिल सकता है, केवल कहने सुनने से वह प्राप्त नहीं होता। एकाकी आत्मा को मान कर उसका चिंतन ध्यान करने से तू भी योगी हो सकता है। योगी बनने से तुझे भी उस परमात्मा के पद की प्राप्ति होगी और तभी उस पद का पूरा आनन्द तुझे अनुभव होगा।

ज्ञानी आत्मदृष्टि को बदलता नहीं है

घटिका पात्रकनन्य रोळकथेयनोंदं ब्बचिसुत्तिदोंडं ।
स्फुटदिं चित्तमुमंचियु पदपद्क्का पात्रेयं सागु में ॥
तुडु तानंब तुटुवाह्य दोळनेगळदोडं ध्यानं त्त्वणक्कोमेंसं
घटसल्निम्म पदंग ळोळ्पुखियला रत्नाकराधीश्वरा! ॥५२॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

घड़ी रखने वाले व्यक्ति अन्य कार्यों को करते रहने पर भी अपना ध्यान घड़ी पर ही (समय देखने के लिए) रखते है। उसी प्रकार बाह्य वस्तुओं पर ध्यान रखने पर भी जो व्यक्ति बारम्बार आपके चरणों में आसक्त रहता है, क्या वह सुखी नहीं है ?

संसार के समस्त प्रलोभनों से हटाकर जो अपने को प्रभु चरणों में लगा देता है, वह अपना कल्याण अवश्य कर लेता है। संसार के कार्यों को करते हुए भी इनमें आसक्त न होना यही व्यक्ति की

विशेषता है। मोहक प्रलोभन अपनी ओर व्यक्ति को अवश्य खींचते हैं, मनुष्य लुब्धक होकर विषयों की ओर आकृष्ट हो जाता है और अपने इस मनुष्य जीवन को नष्ट कर देता है। हर क्षण प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि इस जीवन मे लेश मात्र भी सुख नहीं है।

जिनके पास अक्षय लक्ष्मी, धन दौलत, मोटर गाड़ी, रथ पालकी नौकर चाकर प्रभृति सभी सुख के सामान वर्तमान है, राज्य में भी जिनकी प्रतिष्ठा होती है, जिनकी आज्ञा बड़े बड़े व्यक्ति मानते है, जिनके संकेत मात्र से दूसरो का हित, अहित हो सकता है ऐसे सर्व सुख सम्पन्न व्यक्ति ऊपर से भले ही सुखी दिखाई पड़ते हों, पर वास्तव में वे भी सुखी नही है। उनके भीतर भी कोई दु:ख लगा ही रहता है, उनकी आत्मा भी भीतरी दु:ख से छटपटाती रहती है। अत: संसार को नीरस समझ कर इससे आसक्ति का त्याग करना होगा। आसक्ति जीव को विषयों मे बल-पूर्वक खीच कर लगा देती है, इससे जीव उसमें तन्मय हो जाता है, अपना हित अहित कुछ भी नही देखता है। सांसारिक सुखों की तृष्णा इस जीव को अपनी ओर देखने के लिए वाध्य करती है, जिससे विषयी तो तत्क्षण उस ओर झुक ही जाते है। जो अपने को सुबुद्ध भी समझते हैं, उनको भी इनका चाकचिक्य चकाचोंधित किये विना नही रहता।

प्रत्येक क्षण मनुष्य को सजग रहने की आवश्यकता है। उसे इन धोखेबाज कुगतियों मे ले जाने वाले विषयों का त्याग करना

पड़ेगा। विषय मनुष्य को ठगने वाले हैं, ये आत्मा की शक्ति को आच्छादित करने वाले है। संसारी जीव, जिनका आत्मिक विकास अभी बिल्कुल नहीं हुआ है जल्द ही विषयों के आधीन हो जाते है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को आत्म चिन्तन एवं आत्म मनन की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

आत्मोत्थान को केन्द्र-बिन्दु मानकर संसार के कार्यो को करते हुए तथा आजीविका अर्जन करते हुए भी अपने को निर्लिप्त अनुभव करने वाला व्यक्ति ही अनासक्त कर्म करने वाला कहा जायगा। जैसे कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल से बिल्कुल भिन्न रहता है, ठीक इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को संसार के भोगों से भिन्न रहना चाहिए। मोह के उदय से सम्यग्दृष्टि को भी वीतराग चारित्र की प्राप्ति में बाधाएं आती हैं, चारित्र की घातक कषायें वार बार उत्पन्न होकर आत्म सम्पत्ति को प्रकट नहीं होने देती है। मोह आत्मा की शुद्धि में सबसे बड़ा बाधक है, इसके कारण प्राणी को नाना प्रकार के त्रास उत्पन्न होते है, वह अपने स्वरूप को भूल जाता है।

दिन रात प्रत्येक व्यक्ति आत्म तत्त्व की आस्था से रहित होकर पर पदार्थों को अपना समझ कर पुद्गल से अनुराग कर रहा है, जिससे यह अपने निज रूप को भूला हुआ है। अर्हन्त भगवान और सिद्ध भगवान के चरणों का ध्यान करने वाला अपने निज रूप को प्राप्त कर ही लेता है। वह प्रभु भक्ति में लीन होकर अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप का स्मरण करता है, शुद्ध आत्मा को संसार के

विषयों से पृथक् मानता है तथा अपनी शुद्ध परिणति में लीन हो जाता है। अतः प्रभु भक्ति अवश्य करनी चाहिए। कहा भी है कि—

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अन्तर भेदिया।
वर्णादि अरु रागादि तै निज भाव को न्यारा किया॥

निज मांहि निज के हेतु निज करि, आपको आपै गह्यो।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मंझार कछु भेद न रह्यो॥

जिसने बहुत तेज धार वाली सुबुद्धि रूपी अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी, टुकड़े २ कर देने वाली छैनी को अन्तर में डाल कर टुकड़े टुकड़े कर दिया अर्थात् भेद विज्ञान करके आत्मा के स्वरूप को पहचान लिया तथा वर्ण आदि बाह्य पदार्थों से अथवा ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मों से और राग द्वेष आदि भाव कर्मों से अपने स्वरूप को पृथक कर दिया, वहाँ अपने में अपने लिए अपने द्वारा अपने आपको प्राप्त कर लेता है। तब उस अवस्था में गुण और गुणी में, ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय में कोई भेद नहीं रहता।

जिस प्रकार पैनी छैनी या तलवार से हृदय के टुकड़े २ हो जाते है, उस अवस्था में छैनी को बाह्य आवरण म्यान से और अंतरंग जग वगैरह से पृथक करके उसकी मोटी धार को सान पर चढ़ा कर पैनी करनी पड़ती है, इससे छैनी का असली स्वरूप दीखने लगता है, बिना दोनों आवरणों को दूर किये स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान होने पर ही वस्तु

का अंतरंग तत्व अर्थात् उसके वास्तविक स्वरूप या पदार्थ का ज्ञान हो जाता है तथा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों और रागादि भाव कर्मों को हेय समझ कर आत्मा इनसे अपना सम्बन्ध अलग कर लेता है।

पर दृष्टि को हटा करके आत्मदृष्टि को बना लेना ही सुख का उपाय है—

पिडिदोतन कैगे सूत्रवेनसुं सिल्किदोंडं व्योमदोळ् ।
नडेगुं गाळिपटं समंतदर वोल्मेय्योळमनं जंजडं ॥
बडेदिचल्सिलुकिदोंडं नेनडु लोकाग्रक्के पाय्दत्तला -
गडें सिद्धांघ्रिगळाळ्पळचे सुखियै रत्नाकराधीश्वरा ! ॥५३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मनुष्य पतंग को उड़ाने के लिए जब हाथ में लेता है तब डोरी थोड़ी रहती है । डोरी के बढ़ाने पर पतंग आकाश में जा खेलती है। विपत्तिग्रस्त शरीर में फंसे रहने पर भी मन स्मरण शक्ति के सहारे सिद्ध भगवान के कमल रूपी चरणों का स्पर्श कर सुखी होता है।

जैसे डोरी के सहारे पतंग आकाश में चढ़ जाती है, इसी प्रकार विषयों के आधीन होकर मन भी स्वानुभूति से या सिद्ध भगवान की भक्ति से दूर हट जाता है। वायु जिस प्रकार पतंग को आकाश में ऊंचा चढ़ा देती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म इस जीव को भक्ति से हटा देता है। मन के स्थिर हुए बिना विषयों में

आसक्ति बनी ही रहती हैं, अतः मन को ध्यान के द्वारा एकाग्र करना चाहिए। मन को एकाग्र करने के लिए एकान्त में अभ्यास करना परम आवश्यक है तथा कभी भी मन को खाली नहीं रखना चाहिए। जिनके पास काम ज्यादा नहीं होता, उनका मन खाली समय में अवश्य इधर उधर भटकता है। अतः सर्वदा मन को सोचने के कार्य में रत रखना चाहिए।

आत्मा के इस सीमित शक्ति वाले शरीर में रहने पर भी जागरूक, सावधान प्राणी अपने हित का साधन कर लेता है। यथार्थता यह है कि अनादि कालीन कर्मों से आबद्ध होने के कारण आत्मा स्वतन्त्र नहीं है और अपने निज स्वभाव में विचरण कर रहा है। इसी कारण यह साधारण दशा में पड़ा हुआ शरीर से आविष्ट होकर अनेक प्रकार के क्लेश और बन्धनों को सहन कर रहा है। शरीर में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वर्तमान हैं, पर आत्मा में ये चारों गुण नहीं है अत, 'य. अतति गच्छति जानाति सः' आत्मा' अर्थात् जानने देखने वाला आत्मा है।

मेरे आत्मा में निश्चय से कर्मो का बन्ध नहीं है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा कर्मो के कारण समस्त पदार्थों का ज्ञाता नही है जैसी आत्मा मुझ में है, वैसी ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, और पचेन्द्रिय-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, लट, चिऊंटी, भौरा, मक्खी, हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, स्त्री, पुरुष, आदि जीवों में वर्तमान है। इनमे भी जानने देखने की शक्ति है, किन्तु इनका ज्ञान आच्छादित मात्रा में ज्यादा है। अतः अपनी शक्ति के

विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि संसार के सभी जीवों को अपने समान समझा जाय, उनसे प्रेम भाव रखा जाय तथा सभी प्राणियों के सुख दुःख को अपने समान माना जाय । पूरी अहिंसा भावना के जाग्रत हुए बिना जीव में सिद्ध-भक्ति करने की योग्यता नहीं आती है । अहिंसक वृत्तिवाला व्यक्ति अपने भीतर आत्मिक शान्ति सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकता है ।

कर्म-मल से मलिन अपनी आत्मा को स्वच्छ करने का एक अनुपम साधन यह अहिंसा है । अहिंसा द्वारा ही सुत, स्त्री,धन,धान्य, गृह, व्यापार आदि से जीव अपनी ममता को दूर कर सकता है । काम, क्रोध, लोभ आदि तुच्छ वृत्तियों का विध्वस अहिंसा द्वारा ही किया जा सकता है । दिव्य, अनुपम, अलौकिक आनन्द का आस्वादन एवं कार्माण शरीर को सर्वथा दूर करने का उपाय अहिंसा ही है । अहिंसक सुख दुःख हर्ष विषाद, लाभ हानि, मान अपमान आदि में तुल्य रहता है वह अपनी बुद्धि को स्थिर कर शान्ति, दया, क्षमा, नम्रता उदारता आदि उच्च भावनाओं की भूमि में पहुँच जाता है । इसी के द्वारा भगवान की भक्ति होती है तथा यह अनासक्त कर्म करने में प्रवृत्त रहता है ।

ज्ञानी जीव की दृष्टि हमेशा अपने निज स्वरूप की तरफ ही रहती है । संसार में अनेक इन्द्रिय विषय भोग में लिप्त होने पर भी उनका उपयोग अपने निजात्मा की तरफ ही रहता है । जैसे हाथी के गण्डस्थल पर अंकुश लेकर के बैठे हुए महावत का लक्ष्य अंकुश की तरफ रहता है, उस हाथी को इधर उधर जाने नहीं देता है तथा

अपने आधीन कर लेता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ज्ञान रूपी अंकुश से इन्द्रिय रूपी हाथी को (अपने भेद ज्ञान रूपी अंकुश के द्वारा) वश में कर लेता है और अपने मन को परवस्तु मे विचरने नहीं देता है। उसकी दृष्टि हमेशा अपने आत्मा के स्वरूप के प्रति रहती है। जैसे नृत्य करने वाली नर्तकी अपने सिर पर कलश ले करके अनेक हाव भाव करती हुई नृत्य करती है और लोगों के मन को आकर्षित करती है, इतना होते हुए भी उसके सिर पर रक्खे हुए कलश की ओर ही उसका उपयोग बना रहता है, उसी तरह ज्ञानी जीव की दृष्टि भी संसार के विषय भोग के भीतर रहने पर भी उसका उपयोग मलिन नही होता है। वह संसार में रहते हुए भी अपनी दृष्टि में फर्क नहीं आने देता है और वह संसार और भोग से विरक्त हुआ अपने लक्ष्य बिन्दु को ठीक रखते हुए कर्मो की निर्जरा करने की तरफ लक्ष्य बनाये रहता है। सारांश यह है कि जब संसारी आत्मा संसार के स्वरूप को अच्छी तरह से समझ लेता है, तब उसके अन्दर भेद बुद्धि उत्पन्न होती है और स्व पर का ज्ञान हो जाता है। तब दोनों को भिन्न भिन्न रूप में देखते हुए उस पर वस्तु से विमुख होता है। यही ज्ञान की दृष्टि है। जब तक इस प्रकार इस जीव की दृष्टि नही बदलती है तब तक सुख और शान्ति नहीं मिलती है।

पंच परमेष्ठी का स्मरण ही संसार-नाश का कारण है

नडेत्रागळ्क्षोंक्दिागठिळेंयोळत्रोळ्त्रा गळेंळवागळुं ।
त्तुडिवागळत्तुडिदप्पिदागळेंदेंगेट्टागळसुरखात्रा त्पियोळ् ॥

विडिदर्हत्प्रभु सिद्धशंकर समुद्राधीश्वर आदि यें –।
दोडनभ्यासिसुवातने सुखियला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥ ५४॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

चलने फिरने में ठोकर खाकर जमीन पर गिरते समय, उठते समय, बात करते समय, भयभीत होते समय जो मनुष्य तत्क्षण अर्हन्त परमेष्ठिन् ! सिद्ध परमेष्ठिन् ! प्रभो ! हे समुद्राधिपते ! आदि कह कर भगवान को स्मरण करने वाला है, वह क्या सुखी नहीं है ?

आरम्भिक साधक के लिए प्रभु भक्ति बड़ी भारी सहायक होती है। भक्ति में परम सुख, शान्ति, ज्ञान और आनन्द का निवास है। भगवान की भक्ति का फल किसी को भी भौतिक सुखों के रूप में नहीं मिलता है, प्रत्युत मानसिक और आत्मिक शान्ति मिलती है। भौतिक पदार्थ बाह्य और अनित्य सुख के साधन हैं और ये प्रवृत्ति मार्ग से उत्पन्न दान, पूजा, सेवा, परोपकार आदि के करने से प्राप्त होते है। प्रभु भक्ति स्वात्मानुभूति को जाग्रत करने का एक साधन है, इससे आन्तरिक शान्ति, ज्ञान, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, तप आदि की प्राप्ति होती है। भगवान के स्मरण और ध्यान से आत्मा की पूर्ण श्रद्धा जाग्रत होती है और वीतराग चारित्र की प्राप्ति होने का साधन दृष्टिगोचर होने लगता है।.

जीवन का सच्चा धर्म, कर्म यही है कि संसार के अन्य कार्यों में आसक्त रहने पर भी प्रभु भक्ति को कभी न भूले, नित प्रति

भगवान का स्मरण, दर्शन, पूजन गुण कीर्तन आदि को अवश्य करता रहे। इसी में सच्ची निपुणता, चतुराई और कुशलता है कि जीव सब कुछ करते हुए भी भगवान के चरणों का आश्रय न छोड़े। भक्ति करने से मोह रूपी अन्धकार विलीन हो जाता है और सम्यग्दर्शन रूपी भास्कर की किरणे हृदय के समस्त कालुष्य को दूरकर बोध वृत्ति को जाग्रत कर देती है। सच्ची शान्ति, प्रेम और पवित्रता भक्ति के द्वारा ही जाग्रत होती है।

यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि भौतिक पदार्थों के मनोनुकूल मिल जाने पर भक्ति करने या प्रभु के गुणों में लीन होने की भावना जल्द उत्पन्न होती है। भौतिक पदार्थो की बहुलता और उनकी आसक्ति जीव को आत्मोद्धार से दूर करती है। दुःख या विपत्ति के दिनों मे जीव जिसमे भौतिक पदार्थो के सचय का अभाव रहता है, प्रभु भक्ति की ओर अधिक खिचता है। अतः भौतिक पदार्थो के सुख की अपेक्षा मनुष्य के पवित्र चारित्र को दुःख-ताप ने ही उज्ज्वल बनाया है तथा शुद्धात्मानुभूति की ओर ले जाने में सहायता प्रदान की है।

भगवान की भक्ति से तथा उनके गुणों के स्मरण से सराग चारित्र के धारी सम्यग्दृष्टि जीव को भेद विज्ञान की प्राप्ति होती है। उसका यह ज्ञान शाब्दिक नही होता है। वीतराग चारित्र को प्राप्त करने का प्रबल पुरुषार्थ उसमें जाग्रत हो जाता है। अनन्तज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का भण्डार आत्मतत्व उसके अनुभव

में आने लगता है। पर पदार्थों से उसका मोह दूर हो जाता है और वह स्वानुभूति में लीन होता है।

जो व्यक्ति प्रभु-भक्ति के द्वारा लौकिक एषणा की पूर्ति करना चाहता है, वह संसार में सोने के बदले में मिट्टी खरीदने वाला है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसने प्रभु-भक्ति का वास्तविक अर्थ ही नही समझा। भगवान की आराधना से लौकिक इच्छाओं की तृप्ति करना सबसे बड़ी मूर्खता है। वीतरागी प्रभु के गुणों के चिन्तन से जब अनादि कालीन कर्मबद्ध आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है तो फिर कौन सा लौकिक कार्य असाध्य रह जायगा ? प्रभु-भक्ति से बड़े से बड़ा कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। अतः प्रत्येक समय चलते, फिरते, उठते, बैठते, पंच परमेष्ठी भगवान की भक्ति करनी चाहिए।

पच परमेष्ठी नमस्कार का फल

अपवित्रः पवित्रो वा, सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

अपवित्र अवस्था हो या पवित्र, अच्छी स्थिति हो या कोई दुःख हो, आपत्ति हो जो पंच नमस्कार का ध्यान करता है, उसके पाप नष्ट हो जाते है।

स्मरण का फल

अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं, स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

चाहे पवित्र हो या अपवित्र, चाहे किसी दशा में हो, जो पर-

मात्मा का स्मरण करता है, वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूप में पवित्र हो जाता है अर्थात्, वह सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर देता है।

अपराजित मंत्र का फल

अपराजितमन्त्रोऽयं, सर्वविघ्नविनाशकः।
मंगलेषु,च सर्वेषु, प्रथमं मंगल मतम्॥

यह मंत्र अपराजित है अर्थात् जो इसका आराधन करता है, उसे कोई जीत नही सकता। यह सर्व विघ्नों का नाश करने वाला है। सभी मंगलोंमें इसको सबसे प्रथम मंगल माना गया है।

अर्हन्त पद का स्वरूप

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणमाम्यहम्॥

अर्हम् यह अक्षर ब्रह्म स्वरूप है, पंच परमेष्ठी का वाचक और सिद्ध चक्र का उत्तम वीज रूप है। उसको मै सर्व प्रकार से भक्ति के साथ नमस्कार करता हूँ।

सिद्धचक्र को नमस्कार

कर्माष्टकविनिर्मुक्तं, मोक्षलक्ष्मीनिकेतनम्।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं, सिद्धचक्रं नमाम्यहम्॥

यह सिद्धचक्र आठ कर्मो से मुक्त है, मोक्ष लक्ष्मी का स्थान है और सम्यक्त्व आदि गुणयुक्त है। ऐसे सिद्धचक्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

नमस्कार मंत्र का महत्व

चक्रिविष्णुप्रतिविष्णुबलाद्यैश्वर्यसम्पदः ।
नमस्कारप्रभावाब्धेस्तटमुक्तादिसन्निभाः ॥

चक्रवर्ती वासुदेव और बलदेव आदि के ऐश्वर्य और सम्पत्ति नवकार मंत्र के प्रभाव रूप समुद्र के किनारे पर पड़े हुए मोती के समान हैं।

वशीकरणादि कर्म में मंत्र की सत्ता

वश्यविद्वेषणक्षोभस्तम्भमोहादिकर्मसु ।
यथाविधि प्रयुक्तोऽयं, मन्त्रः सिद्धिं प्रयच्छति ॥

विधि के अनुसार इस पंच परमेष्ठी मंत्र का प्रयोग किया जाय तो यह मंत्र वशीकरण मोहन आदि कर्म की सिद्धि प्राप्त कर देता है।

णमोकार मंत्र कल्पवृक्ष के समान है

तिर्यग्लोके चन्द्रमुख्याः पाताले चमरादयः ।
सौधर्मादिपु शक्राद्यास्तदग्रेऽपि च ये सुराः ॥
तेषां सर्वाः श्रियः पंचपरमेष्ठिमहत्तरोः ।
अंकुरा वा पल्लवा वा, कलिका वा सुमनानि वा ॥

तिर्यंच लोक मे चन्द्रमा आदि, पाताल में चमरेन्द्र इत्यादि, ऊर्ध्व लोक में सौधर्म आदि इन्द्र और उसी प्रकार आगे रहने वाले जो देवता है उनकी सम्पूर्ण ऐश्वर्य और विभूति पच परमेष्ठी के स्मरण मात्र से प्राप्त और वृद्धिगत हो जाती हैं। वे विभूतियां

पंच परमेष्ठी रूप कल्पवृक्ष की अंकुर, पल्लव कली और पुष्प है।

पंचपरमेष्ठी मंत्र जप का फल

ते गतास्ते गमिष्यन्ति, ते गच्छन्ति परं पदम्।
आरूढा निरपायं ये, नमस्कारमहारथम्॥

जो नमस्कार मंत्र रूपी अविनाशी महारथ के ऊपर आरूढ़ हुए है वे सभी परम पद मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं अथवा आगे भी इसी मंत्र के प्रताप से प्राप्त होंगे और वर्तमान में भी प्राप्त हो रहे हैं।

णमोकार मंत्र का फल

जपन्ति ये नमस्कारलक्षपूर्णं विशुद्धितः।
जिनसंघपूजितैस्तैस्तीर्थंकृत् कर्म बध्यते॥

इसी प्रकार मन वचन और काय की शुद्धि से पूर्णतया एकाग्र मन होकर एक लाख बार णमोकार मंत्र का जो जाप करता है वह चतुर्विध संघ के द्वारा पूजनीय होता है और तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध करता है।

विपत्ति में णमोकार मंत्र का स्मरण

प्रदीप्ते भुवने यद्वत्, शेषं मुक्त्वा गृही सुधीः।
गृह्णात्येकं महारत्नमापन्निस्तारणक्षमम्॥

जब बुद्धिमान पुरुष के ऊपर कोई आपत्ति आ जाये तो उस समय कोई तलवार या कोई शस्त्र काम नहीं कर सकता। उस समय सम्पूर्ण आपत्तियों से पार करने में समर्थ एक णमोकार मंत्र ही काम आता है।

णमोकार मंत्र का उपयोग

आकालिकरणोत्पाते, यद्वा कोऽपि महाभटः।

अमोघमस्त्रमादत्ते सारं दम्भोलिदण्डवत् ॥

जैसे कोई महान् योद्धा अकस्मात् रण में उत्पात खड़ा हो जावे तो वह, अमोघ अस्त्र का प्रयोग करता है, उसी प्रकार प्राणी पर यदि कोई अनिवार्य संकट आ पड़े, उस समय केवल णमोकार मंत्र ही काम देता है। आपत्ति में वही एक मात्र अव्यर्थ उपाय है, और कोई नही है।

एवं नाशक्षणे सर्वश्रुतस्कन्धस्य चिन्तने।

प्रायेण न क्षमो जीवस्तस्मात्तद्गतमानसः ॥

इसी प्रकार विनाश के समय सर्व आगम और श्रुतस्कन्ध के चिन्तन करने पर भी जब उसके निवारण में समर्थ नही होता है, तब जो मनुष्य विश्वास के साथ पंच परमेष्ठी का स्मरण करता है, वह उत्तम गति को प्राप्त होता है।

अन्तकाल में आश्वासन

सर्वथाप्यक्षमो दैवाद्यद्वान्ते धर्मबान्धवात्।

शृण्वन् मंत्रममुं चित्ते, धर्मात्मा भावयेदिति ॥

सर्वथा असमर्थ मनुष्य जब दैवयोग से अपने मरण समय में धर्म बान्धव से णमोकार मंत्र का श्रवण करे तो उसे चित्त में मनन करना चाहिए। इसका आशय यह है कि इससे उसका गति-बन्ध सुधर जाता है अर्थात् उसे उच्च गति का बन्ध होता है

अथवा पहले गति वंध हो चुका हो तो उसका आयु-बन्ध कम हो जाता है।

धर्मात्मा मनुष्य को इसका चिन्तन करना चाहिए—

अमृतैः किमहं सिक्तः, सर्वांगं यदि वा कृतः।
सर्वानन्दमयोऽकाण्डे, केनाप्यनघबन्धुना ॥

जो मनुष्य इस णमोकार मंत्र को स्मरण श्रवण करते हुए ऐसा विचार करता है कि अहो ! क्या किसी निर्दोष बन्धु ने मेरे सर्व शरीर में अमृत का सिंचन कर दिया है, मैं सर्वानन्दमय हो गया हूँ अर्थात् मेरे आत्मा के हर प्रदेश में आनन्द भर गया है।

परं पुण्य परं श्रेयः परं मंगलकारणम्।
यदिदानीं श्रावितोऽहं पंचनाथनमस्कृतिम् ॥

मृत्यु काल में वह विचारता है कि यह अत्यन्त पुण्यदायक है, अत्यन्त मंगल रूप है, अत्यन्त मगलकारक है कि मुझे पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र का श्रवण कराया।

अहो दुर्लभलाभो मे, ममाहो प्रियसंगमः।
अहो तत्वप्रकाशो मे, सारमुष्टिरहो मम ॥

अहा ! मुझे दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ; अहा ! मुझे मित्र का समागम हुआ; अहा ! मुझे तत्व का प्रकाश हुआ; अहा ! सार वस्तु से मेरी मुट्ठी भर गई।

अद्य कष्टानि नष्टानि दुरितं दूरतो ययौ।
प्राप्तः पारं भवाम्भोधेः, श्रुत्वा पंचनमस्कृतिम् ॥

आज पंच परमेष्ठी मंत्र सुन करके मेरे सारे कष्ट नष्ट हो गये, मेरा पाप दूर भाग गया, मैं आज संसार सागर से पार हो गया।

प्रशमो देवगुर्वाज्ञापालनं नियमस्तपः।
अद्य मे सफलं जन्म, श्रुतपंचनमस्कृतेः॥

मैंने आज जिस पंचपरमेष्ठी मंत्र का उच्चारण सुना है, उससे मेरे मन में शान्ति मिली है, देव-गुरु की आज्ञा का पालन हुआ है, मैंने आज व्रत का पालन किया है, तप का अनुष्ठान किया है। मेरा जन्म सफल हो गया।

सारांश यह है कि मृत्युकाल की पीड़ा के समय भी जब णमोकार मंत्र कान में पड़ जाय तो मरने वाला व्यक्ति अत्यन्त हर्षित होता है। क्योंकि वह मन में विचारता है कि मुझे मेरी निधि मिल गई, जिससे मुझ पापी का इस पवित्र क्षण के कारण भी मानव-जन्म सार्थक हो गया। निश्चय ही इस हर्ष के कारण उसके कर्मों की शृंखला खटाखट टूटने लगती है उसके असख्यात कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

स्वर्णस्येवाग्निसन्तापो, दिष्ट्या मे विपदप्यभूत्।
यल्लेभेऽद्य महानर्घ्यं, परमेष्ठिमयं महः॥

वह उस समय विचारता है कि भाग्य से णमोकार मन्त्र मुझे श्रवण हो गया। इससे इस अन्तिम काल में भी मुझे महा अमूल्य पंचनमस्कार रूप तेज प्राप्त हो गया, जिससे मेरे कष्ट भी

दूर हो गये, जैसे अग्नि मे पड़कर कुन्दन शुद्ध हो जाता है।

उत्तम भाव का फल

एवं शमरसोल्लासपूर्वं श्रुत्वा नमस्कृतिम्।
निहृत्य क्लिष्टकर्माणि सुधीः श्रयति सद्गतिम्॥

इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष शान्ति रस के हर्ष से हर्षित होकर णमोकार मंत्र सुनकर अपने संक्लिष्ट कर्मों का नाश कर सद्गति को प्राप्त होता है।

भावना सिद्धि के क्रम

उत्पद्योत्तमदेवेषु विपुलेषु कुलेष्वपि।
अन्तर्भवाष्टकं सिद्धः, स्यान्नमस्कारभक्तिभाक्॥

णमोकार मंत्र की आराधना करने वाला मनुष्य उत्तम देव गति में जन्म लेता है। और बाद में उत्तम मनुष्य कुलों में उत्पन्न होकर आठ भव के अन्दर सिद्ध गति को प्राप्त होता है।

णमोकार मंत्र आराधना की सत्ता

जिण सासणस्स सारो चउद्दसपुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे नवकारो संसारो तस्स किं कुण॥

श्री जिन शासन का सार स्वरूप और चौदह पूर्व का उद्धार रूप यह णमोकार मंत्र है। यह मंत्र जिसके मन में वास करता है,उसका संसार क्या विगाड़ सकता है अर्थात् संसार से वह पार हो जाता है।

णमोकार मंत्र के चिन्तवन से होने वाले सुख

ऐसो मंगल निलओ भवविल ओसव्व संति जणओअ।
नवका रपरम मंतो चिंति अमित्तो सुहं देइ॥

जिस मनुष्य के हृदय मे यह मंगल मूर्ति और भव नाशक णमोकार महा मंत्र रहता है, उसको अपरिमित सुख प्राप्त होता है।

णमोकार मंत्र कल्पवृक्ष और चिन्तामणि के समान है

अपुव्वो कप्पतरु, एसो चिंतामणि अपुव्वो अ।
जो गायइ सयकालं सो पावइ सिवसुहं विउलं॥

यह णमोकार मंत्र अपूर्व कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न के समान है। जो इस मंत्र का सदाकाल स्मरण करते है, वे मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

णमोकार मंत्र महापाप को छेदने में समर्थ है—

नवकार इक्क अक्खर, पावं फेडेइ सत्त अयराणं।
पन्नासं च पएणं सागरपणसय समग्गेणं॥

णमोकार मंत्र का एक अक्षर भी यदि उसका भाव से स्मरण किया जाये तो वह अक्षर सात सागरों की आयु का नाश करने वाला है। एक पद की जाप पचास सागरों के पाप का नाश करने वाली है। सम्पूर्ण णमोकार मंत्र की जाप करने से सागरों के पाप का नाश हो जाता है।

एक लाख णमोकार मंत्र की जाप करने का फल

जो गुण इल रकमेगं पूएइ, विही इजिण नमुक्कारं।
तित्थयर नाम गोअं सोबंधइ नत्थि संदेहो॥

जो मनुष्य एक लाख णमोकार मंत्र का विधिपूर्वक जाप करता है और विधिपूर्वक भगवान की पूजा करता है वह तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्ध कर लेता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नही।

णमोकार मंत्र से संकट में भी शान्ति प्राप्त होती है—

संग्रामवारिधिकरीन्द्रभुजंगसिंहदुर्व्याधिवह्निरिपुबन्धनसम्भवानि।
दुष्टग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां, नश्यन्ति पंचपरमेष्ठिपदैर्भयानि॥

पच परमेष्ठी मंत्र का जप करने से संग्राम, समुद्र, भुजंग, गजेन्द्र सिंह, व्याधि, अग्नि, शत्रु, बन्धन, दुष्ट ग्रह, भ्रम, राक्षस, शाकिनी आदि के भय नष्ट हो जाते है।

णमोकार मंत्र-स्मरण से महापापी भी मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है—

हिंसावाननृतप्रियः परधनाहर्ता परस्त्रीरतः।
किं चान्येष्वपि लोकगर्हितमहापापेषु गाढोद्यतः।
मन्त्रेशं स यदि स्मरेदविरतं प्राणात्यये सर्वथा।
दुष्कर्मार्जितदुर्गदुर्गतिरपि स्वर्गी भवेन्मानवः॥

संसार में हिसा करने वाले, असत्य बोलने वाले, पर धन हरण करने वाले, पर स्त्री में आसक्त रहने वाले और लोक में निन्दित दूसरे महापाप करने में उद्यत रहने वाले मनुष्य भी यदि निरन्तर इस महामंत्र का प्राण जाने पर भी स्मरण करते हैं, वे भी दुष्कर्मो से उपार्जित दुर्गति रूपी दुर्गों को जीत कर स्वर्ग प्राप्त

करते हैं।

इस प्रकार णमोकार मंत्र का महत्व सुना गया है। जो मनुष्य इस मंत्र का भावपूर्वक स्मरण करता है, वह वास्तव में संसार बन्धन को शीघ्र नाश करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

मन की चचलता

एत्तेत्तं ललितांगि यसु ळिदरत्तत्ताडुगुं कण्गळे -
त्तेत्तं कामिनियर्मोगं देगे दरत्तत्तोंदुगुं जिव्हे म- ॥
त्तेत्तं सरिसिंडि यतगे दरत्तत्तं य्दुगुं बुद्धि नि -
म्मत्तं बारदु केट्टेने चेनकटा रत्नाकराधीश्वरा ! ॥५५॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

सुन्दर कोमलांगी स्त्री जिधर जाती है, ये आंखे भी उसी तरफ नाचती है। कामुक स्त्री जिधर मुंह फेरती है, मन भी उधर ही जाता है। युवती स्त्री, जो ऋतुमती हो चुकी है, जिधर जिधर जाती है, आख, मन और बुद्धि आपकी तरफ नहीं जाती। हे भगवान ! मै तो बिगड़ गया, अब क्या करूं ?

संसार में मनुष्य के प्रलोभन की प्रमुख दो ही वस्तुएं है-कंचन और कामिनी। इन्ही दोनों पदार्थों के लिए प्राणी संघर्ष करते रहते है। संसार की समस्त कलह की जड़ ये दोनों ही वस्तुएं है। इनके लिए न मालूम कितने निरपराधियों की जाने गयी, मासूम बच्चों को कत्ल किया गया और न मालूम कितनी ललनाओं की अस्मत लूटी गयी। यदि ये दो मोहक पदार्थ संसार में न होते तो यह पाप-

लीला इतनी नही बढ़ सकती थी। आत्मानुभूति से च्युत करने वाले ये ही दो पदार्थ है, अतः शक्ति के अनुसार इन दोनो पदार्थों के आकर्षण से बचना चाहिए।

मनुष्य में जहाँ एक बार कमजोरी आ जाती है, वहाँ बार बार उस कमजोरी का शिकार होता है। विषय उसे अपनी ओर खीच ले जाते है, उसका मन और उसको इन्द्रियाँ कुपथ में चली जाती है। अतः विषय तृष्णा को बढ़ाने वाली कामिनी का पूर्ण त्याग करना चाहिए। एक बार जिसे कोमलांगी स्त्रियों को देखने की लालसा जाग्रत हो जाती है, वह बार बार उन्हें देखता है, लुक छिप कर देखता है। उसके मन में वासना का विषैला सर्प छुपकर बैठा रहता है। जब उसे अवसर मिलता है वह आकर डस लेता है। इसलिए शास्त्रकारों ने वासना बुद्धि की प्रमुख कारण नारी को समस्त आपदाओं की जड़ कहा है। ससार में रूपवती रमणियों के कारण अनेक युद्ध हुए है, जीवों की हत्याएं हुई है। अतः नारी को वासना की प्रतिमूर्ति मानकर उसका त्याग करना चाहिए।

आत्म स्वरूप के विस्मृत हो जाने के कारण ही यह जीव कामिनी के रूप को देखने की लालसा करता है, उसके कुच और नितम्बों की प्रशसा करता है,उसके अधर और नासिका को सर्वोत्तम मानता है। अतः विषय प्रवृत्ति इस जीव को मोहनीय कर्म के कारण अनादि काल से लगी है, इस प्रवृत्ति को छोड़ना आवश्यक है। जब तक मनुष्य का मन विषयों मे रमण करता है, वह आत्म कल्याण की ओर जा ही नहीं सकता। प्रभु-भक्ति की ओर इस मन

को लगाने का अनेक बार प्रयत्न करता है, पर जबरदस्ती विषय इस मन को अपनी ओर खींच लेते हैं।

एक नीतिकार का कहना है कि विषयों की ओर घूर कर नहीं देखना चाहिए और देखकर इनके पीछे नही लगना चाहिए, क्योंकि विषय भोगों के देखने मात्र से ही विष चढ़ जाता है तथा मन और ही तरह का हो जाता है। जिस प्रकार साँप के काटने से उसका विष सर्वांगीण कष्ट देते है उसी प्रकार विषय के विष भी सम्पूर्ण आत्मा के गुणों को मलिन कर देते हैं और अनेक प्रकार के कष्ट देते है। जो व्यक्ति इनकी निस्सारता को समझ जाते है, इनके खोखलेपन को समझ कर भगवान की भक्ति में लग जाते हैं, वे अपना कल्याण अवश्य कर लेते हैं। विषय से विरक्त हुए विना भगवान की भक्ति भी नहीं की जा सकती है। विषय सुख प्रभु-भक्ति में बड़े भारी बाधक है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, अपनी आत्मा का विकास करना चाहता है उसे इन विषय भोगों को छोड़ प्रभु-भक्ति में लगना चाहिए। भगवान की भक्ति रूपी मन्दाकिनी की धारा जीव के हृदय और मन को प्रक्षालित कर पूत कर देती है। अतएव मन को वश मे कर प्रभु-भक्ति करनी चाहिए !

विषय वासना क्षणिक है

सोद्लोळ्घुग्गुवलिच्चेवोट्टडने तानुच्छ्वास निःश्वासपू रदे केय्कास्वडिगोंवना कडेयोळुं शक्तिच्चयंदोरे त-

ण्विद् पेण्णं बिडुगेय्दु कूडे केलदो ळिवलदळ्ळे वोय्यं मन-
क्किकदु लेसे? सुखवे? मरुळ्तनवला? रत्नाकराधीश्वरा! ॥५६॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

(कमल नाल-सी) कमजोर आशा को प्राप्त कर मनुष्य आनन्दित होता है। उसके बाद क्षणिक प्रवाह में वह अपने को प्रवाहित कर देता है। अन्त में बल पौरुष के नष्ट हो जाने पर जिस स्त्री के साथ सम्भोग किया, उसी के सामने पड़े रह कर हाथ पैर घसीटता रहता है। क्या ये सारी बाते मन को अच्छी लगती है? क्या यह सब पागलपन नहीं है?

विषय भोगों मे यह जीव अंधा हो जाता है। यह युवती स्त्रियों के साथ काम क्रीड़ा करता हुआ आनन्दित होता है। इसे विषय के नशे के कारण जाते हुए समय का भी पता नही लगता है, और सारा जीवन उन्ही में समाप्त कर देता है। जब वृद्धावस्था आती है, इन्द्रियां शिथिल हो जाती है, बल पौरुष घट जाता है तो फिर यह अशक्त होकर जमीन मे हाथ पेर घिसता रहता है, और किसी प्रकार असमर्थ अवस्था मे विषयाधीन कुत्ते के समान अपनी मौत के दिन पूरे करता है।

विषय सुख को त्यागो

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै -
स्तद् भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषत्यप्राप्तपूर्वं यथा।

जन्तोः किं तव शांतिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-
मंहः संहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥

अरे जीव, विषयासक्त मनुष्यों ने बड़ी उत्कंठा के साथ जिनको अनेक बार भोगा और निस्सार समझ कर पीछे से छोड़ दिया, झूठन की कुछ भी ग्लानि न करके उन्हीं को तू आज ऐसे प्रेम के साथ भोग रहा है कि जैसे ये विषय पहले कभी मिले ही न हों। यद्यपि इन भोगों की इच्छा पूर्ण होने के लिए, चाहे तू कितने ही बार क्यों न भोग, परन्तु तब तक क्या शांति उत्पन्न हो सकती है जब तक कि अपराध रूप प्रबल अनेक शत्रुओं के सैन्य की विजय-पताका के समान जो यह विषयाशा (असंतोष) है, इसे गिरा नहीं देता। अर्थात् जैसे शत्रु राजाओं का परस्पर जब संग्राम होने लगता है तब एक दूसरे की विजयपताका गिरा देने के लिए दोनों ही अनेक प्रयत्न करते है। और जब तक एक की वह पताका गिर नहीं जाती, तब तक दोनों ही बड़े व्यग्र रहते हैं। इसी प्रकार तुझे जो यह दुराशा लगी हुई है, उसे तू पाप कर्म रूप शत्रुओं के सैन्य की विजयपताका समझ। जब तक यह पताका तुझ से गिराई नहीं जाती, तब तक पाप रूप शत्रुओं की हार नही होगी। और तब तक उन से अशान्ति उत्पन्न होती ही रहेगी। वह अशान्ति तभी मिटेगी जब कि तू उस दुराशा को मिटा देगा।

इसी सम्बन्ध मे एक नीतिकार ने भी कहा है कि—

शोकाग्निज्वाललीढे बहुविधविषयस्नेहपूरे गभीरे।
संसारेऽस्मिन्कटाहे जनवनशकुनीन्मोहजालेन बद्धान् ॥

भूर्जे भूर्जे यदश्नन्विकटयति मुखं चन्द्रसूर्यच्छलान्त-
र्दृश्येते कालदंष्ट्रे सेदुडुपरिकरं कीकस तत्प्रतीमः ॥

यह संसार रूपी कटाह (कढ़ाह) जो शोक रूप अग्नि ज्वालाओं के ऊपर रखा हुआ है, बहुत गहरा है और अनेक प्रकार के विषय रूप स्नेह से लबालब भरा हुआ है। मोह जाल में फंसे हुए मनुष्य रूपी वन शकुन्तों (पक्षियों) को काल रूपी व्याध इस उबलते कटाह में डाल डाल कर भून रहा है। सूर्य और चन्द्रमा उसी काल की दो बाहर निकली हुई दाढ़े है और यह आकाश में छाया हुआ तारा समूह काल के चबाये प्राणियों का अस्थि समूह (हड्डियां) है।

भोगते समय विषय बुरे नहीं मालूम होते, वे अत्यन्त मोहक और प्रिय लगते हैं। इनका क्षणिक सौन्दर्य अपनी ओर खींच ही लेता है। वासना वृद्धावस्था में और भी तीव्र हो जाती है, मनुष्य जीवन के अंतिम क्षण तक इससे छुटकारा नहीं पा सकता है। विषय सुखों से वह कभी तृप्त नही होता है। कहा भी गया है कि—

कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वात्मानं पश्य हि कोऽहम्।
आत्मज्ञानविहीना: मूढा: ते पच्यन्ते नरकनिगूढा: ॥

काम, क्रोध, लोभ और मोह को छोड़ कर आत्मा में देखना चाहिए। कि मै कौन हूं ? जो आत्मज्ञानी नही है, जो अपने स्वरूप या आत्मा के सम्बन्ध को नही जानते है, वे अज्ञानी मूर्ख नरक मे अनेक कल्पों तक दुख भोगते हैं। अत: विषय सुख की आशा का त्याग करना चाहिए।

विषय आशा ज्ञान या सद्बोध के द्वारा ही दूर की जा सकती है। जब तक इस जीव में ज्ञान का संचार नहीं होता है, अनुभव के द्वारा विषय भोगों की निस्सारता को नहीं जान लेता है, तब तक यह विषयों को छोड़ने में असमर्थ है। कुलभद्राचार्य ने अपने शास्त्र-सार समुच्चय में संसार के कारणों का वर्णन करते हुए बताया है—

कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम्।
संसारबीजतां याति विमुक्तो मोक्षबीजताम् ॥

कषाय और विषय भोग में आसक्त चित्त मिथ्यात्व से युक्त होकर संसार का बीज-कारण बन जाता है। अर्थात् व्यक्ति जब तक विषय भोग, कषाय और मिथ्यात्व इन तीनों में लिपटा रहता है.आत्मज्ञान उसे नही होता। जब वह इनसे अलग हो जाता है उसे मोक्ष प्राप्ति हो ही जाती है। विषय भोग, कषाय और मिथ्यात्व इन तीनों के आधीन रहने वाले जीव को हित की—त्याग की बात बुरी मालूम होती है। वह त्याग को दुष्कर समझता है तथा उसे इने गिने व्यक्तियों की वस्तु समझता है: संसार-भ्रमण इन तीनों के कारण ही होता है। इनमें मिथ्यात्व सब से प्रबल कारण है, मिथ्यात्व के दूर होने पर विषय भोगों से विरक्ति हो ही जाती है तथा कषायों का भी उपशम या क्षय हो जाता है। अतः मिथ्यात्व—आत्मा के अटल विश्वास का अभाव अवश्य दूर करना चाहिए।

ज्ञान अभेद अवस्था दुःखदायी है

तिळिविल्लागि शिशुत्वदोळ्तनगे तां तन्नेंजलोळ्मूत्रदोळ्
मुळुगिर्दं बळिक विवेकवेर्देयोळ्मेयदोरेयु प्रायदोळ् ॥

एळेवेयॊळलनुंड मूत्रविलदोळ् चिः नारुवी शुक्लमं ।
तुळकल्योहिपनात्मनें भ्रमितनो रत्नाकराधीश्वरा ! ॥ ५७॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

बचपन की अवस्था में ज्ञान रहित होने के कारण आत्मा मल-मूत्र में ही डूबा रहता है। यौवनावस्था में हृदय में विवेक उत्पन्न हुआ तब युवती स्त्रियो का जूठा खाने उनके दुर्गन्धमय मूत्र द्वार में अपने अमूल्य वीर्य को फेंकते चलने की इच्छा करता है। आत्मा कितना भ्रमित हो गया है ?

मानव जीवन को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम अवस्था गर्भकाल की है। इसमें माता के रज और पिता के वीर्य से गर्भाशय में इसका शरीर बनता है,इस समय यह जीव घोर अन्धकार पूर्ण जेलखाने मे हाथ पांवों को बांध कर उलटा लटका रहता है। मुंह पर झिल्ली रहती है. जिससे न यह बोल सकता है और न रो सकता है। यह नौ महीने तक मल मूत्र खून पीप कफ आदि महान् घृणित गन्दे पदार्थो के मध्य में रहता है। इसके रहने का यह स्थान गन्दा होने के साथ इतना तग रहता है, जिससे अच्छी तरह हाथ पैर भी नहीं फैला सकता है। इस नरक कुण्ड में बड़े कष्ट के साथ नौ महीने व्यतीत करता है। वहाँ के कष्टों को देख-कर इसके मन में कल्याण करने के भाव उत्पन्न होते हैं, पर निक-लते ही यह मोह माया मे फस जाता है। इस प्रकार इस प्रथम अवस्था में अपने कल्याण से वंचित हो जाता है।

हे संसारी जीव इस प्रकार अनादि काल से विषय सुख में रत होकर अनेक दुःख भोगते हुए तू अपने आत्म कल्याण से वंचित रहा इसलिए जब तक शरीर है जब तक शरीर में शक्ति है तब तक आत्मसाधन करना ही उचित है। इसी प्रकार गुणभद्र आचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है कि—

इष्टार्थाद्यदाप्तद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर-
न्नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे।
मृत्यूत्पत्तिजरातरंगचपले संसारघोरार्णवे।
मोहग्राहविदारितास्यविवराद्दूरेचरा दुर्लभाः ॥८७॥

संसार, एक भयंकर विस्तीर्ण समुद्र के समान है। समुद्र मे खारा जल भरा रहता है जिसको यदि कोई भी पीता है तो उसकी तृप्ति नही होती, उलटा दाह बढता है। इसी तरह ससार समुद्र में विषयजन्य सुख है कि जो क्षणभगुर व दुःखपूर्ण होने से भोगने वाले की तृप्ति नही कर सकते। समुद्र में जैसे वडवानल अग्नि जलती रहती है जिससे कि समुद्र भीतरसे निरंतर जला करता है और स्थिरता नही होती, उसी तरह ससार में मानसिक तीव्र वेदनाएं हैं, जो निरंतर जाज्वल्यमान रहती है,जिनसे कि जीवों अन्तःकरण निरन्तर जला करता है किन्तु शान्ति क्षण भर के लिये भी नहीं मिलती। समुद्र में तरंगें निरन्तर उठती है और विलीन होती हैं। संसार में भी जन्म-मरण-जरारूप तरंगों की माला निरन्तर उठती ही रहती है जिससे कि एक क्षण भर लिए भी स्थिरता नहीं होती। इस गति

से उसमें, उससे भी और तीसरी गति में, इस तरह जीव सदा भ्रमता ही रहता है। समुद्र में बड़े २ मगर नाके आदि मुख फाड़े हुये पड़े रहते है जो किसी भी जन्तु को पास आते ही निगल जाते हैं। इस संसार में भी मोह रूप मगर नाके आदि भयानक जलचर जीव निरन्तर मुख फाड़े हुए पड़े रहते है, कोई भी पास आया कि झट निगल जाते है। रागद्वेष की उत्पत्ति निरन्तर होती ही रहती है जिससे कि सदा अशुभ कर्मों से यह जीव लिप्त होता रहता है। यही मोह ग्राह का निगलना है। इस संसार समुद्र में रहते हुए भी जो इस मोह ग्राहों से वचे रहते हैं, वे अत्यन्त विरल है। इस दु.ख सागर से पार होते है तो वे ही होते हैं। अरे भव्य, तुझे भी इस संसार समुद्र में रह कर इसी तरह वचना चाहिए तभी तेरा वेड़ा पार होगा।

द्वितीय अवस्था वालकपन है। इस अवस्था मे माता के उदर से निकलने पर इसे नाना प्रकार के अगणित कष्ट होते हैं। यह पराधीन और दीन रह कर कष्ट भोगता है। अशक्तता, अज्ञानता चपलता, दीनता. दु ख संताप आदि विकारों के आधीन होकर यह कष्ट उठाता है। वालक में इच्छाएं इतनी रहती है जिनके कारण वह नाना पदार्थों के लेने के लिए अग्रसर होता है। असमर्थता के कारण उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण नही होती हैं, जिस से उसे नाना प्रकार के कष्ट होते है। वालक मे चंचलता इतनी अधिक रहती है जिससे उसे एक क्षण भर के लिए भी शांति नहीं मिलती। वह नाना प्रकार के पदार्थों को लेने की चेष्टा करता है, पर ले नही

पाता। उसे भय भी अधिक रहता है कभी वह पशुओं से भय करता है, तो कभी पक्षियों से, तो कभी मनुष्यों से। उसका विश्वास किसी पर नहीं होता, वह सदा शंकित और भयभीत रहता है ।

बालक को इष्ट अनिष्ट पदार्थो का ज्ञान नहीं होता है, जिससे वह सांप और आग जैसे खतरनाक पदार्थों को भी पकड़ लेता है। शिशु के मन में जितना संताप रहता है, उतना संताप बड़े मनुष्यों में नहीं होता। उसका हृदय कुम्हार के अवां की तरह निरन्तर जला करता है। उसकी असमर्थता और दीनता उसे कुछ नहीं करने देती। बालक अशक्तता के कारण न तो स्वयं उठ सकता है, न बैठ सकता है, न खा सकता है, न पानी पी सकता है, उसकी सुख सुविधा के सारे विचारों को दूसरों पर प्रकट नही कर सकता है, इस कारण उसे महा कष्ट होता है।

मल मूत्र भी जिस स्थान पर सोता है, उसी पर कर देता है और उसी में अपने शरीर को डाले हुए रोता रहता है। सारे शरीर में ये दोनों अपवित्र पदार्थ लग जाते हैं, जिससे इसे भीतर अपार वेदना होती है। जब यह कुछ बड़ा भी हो जाता है तो भी यह पराधीन ही रहता है, अपने हित-अहित का विवेक इसे प्राप्त ही होता। यह खेलने, खाने, रोने सोने आदि में अपने समय को नष्ट कर देता है। आत्मकल्याण की ओर इस दूसरी अवस्था में भी यह ध्यान नही देता है और न इसे इतना बोध ही रहता है, जिससे यह अपना कल्याण कर सके।

तृतीय अवस्था युवावस्था है,इस अवस्था में शादी कर यह जीव

विषय सुखों की ओर झुक जाता है। इसके सिर पर नाना प्रकार की चिन्ताएं आ जाती है। रोजगार या नौकरी न मिलने से दुःखी होता है। यदि धनी घर में जन्म लिया तो यौवन और प्रभुता के मद में आकर नाना प्रकार के अनर्थ कर डालता है। युवावस्था में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि विकार एकत्रित होकर इसके आत्म-धन को लूटते है, चित्त कभी शान्त नहीं रहता, विषयों को ओर दौड़ लगाता है। विषयों का संयोग होने से तृष्णा बढ़ती है जिससे अहर्निश व्यक्ति को कष्ट भोगना पड़ता है।

युवावस्था में मन विषयों की ओर अधिक जाता है,कामिनी और कंचन दोनों ही अधिक प्रिय लगते है। स्त्रियों की भाव भगिमाएं सुखकर प्रतीत होती हैं। वैराग्य शान्ति और त्याग की बाते युवकों को अच्छी नही लगती, वे समझते हैं कि ये सब कार्य बूढे होने पर करने है, अभी जवानी के दिन खाने पीने, मौज बहार करने के है। अभी बूढ़े थोड़े ही हो गये है जिससे संन्यास ले लिया जाय। त्याग और वैराग्य की वातें करने वाले उनकी दृष्टि में पागल और बुद्धू होते है। बड़े से बड़ा अनर्थ इस युवावस्था मे लोग करते हैं। आत्म कल्याण की ओर तनिक भी ध्यान नही जाने पाता है अतः इस अवस्था को भी यह मनुष्य विषयान्ध बन कर खो देता है। आत्म-चिन्तन, प्रभु-भक्ति, धर्म-सेवन की ओर युवक की दृष्टि भी नही जाती, जिससे यह तीसरी अवस्था भी यों ही निकल जाती है।

चौथी वृद्धावस्था है। बाल्यावस्था जड़, युवावस्था अनर्थ और

पापों का मूल है तथा वृद्धावस्था जर्जरित और क्षीण होती है। इस में बाल सफेद हो जाते हैं, दाँत गिर जाते हैं, आँखों की ज्योति कम हो जाती है, कानों से सुनाई नहीं देता है, पैरों से चला नहीं जाता है, कमर टेढ़ी हो जाती है, जिससे लकड़ी टेक टेक कर चलता है। कफ और खाँसी अपना अड्डा जमा लेते हैं, सांस फूलने लगती है तथा अनेक प्रकार के रोग घेर लेते है। स्त्री-पुत्र,कुटुम्बी भी बूढ़े को दुरदुराने लगते हैं, सब प्रकार से उसे अपमान सहन करना पड़ता है। इतना सब कुछ होते हुए भी तृष्णा,अनंगपीड़ा, अशक्तता खाँसी दिनों दिन बढती जाती हैं। जैसे वृक्ष में आग लगने से धुंआ निकलता है, उसी तरह शरीर रूपी वृक्ष में वृद्धावस्था रूपी अग्नि के लगने से तृष्णा रूपी धुंआ निकलता है। मौत के दिन निकट आते जाते है, पर तृष्णा, विषय लालसा बढती ही जाती है।

वृद्धावस्था में इन्द्रियां निर्बल हो जाती है, शरीर अशक्त हो जाता है फिर भी कामिनी की लालसा नही छूटती। मनुष्य असमर्थ होते हुए भी विषय-रस-चिन्तन में अपना समय व्यतीत कर देता है। कभी कभी संसार से ऊब कर बूढ़े को अपने युवावस्था के कृत्य याद आते है, उसे अपने किये का पश्चात्ताप होता है, प्रभु-भक्ति करने के लिएं उत्सुक होता है। संसार से विरक्त भी होता है, पर शरीर के असमर्थ रहने के कारण कुछ नही कर पाता। उसके सारे मन्सूबों को मृत्यु समाप्त कर देती है और वह संसार के चक्कर मे पुनः फसकर जन्म मरण के दुःख उठाता रहता है। इस प्रकार यह चतुर्थ अवस्था भी यों ही बीत जाती है, आत्मोद्धार इसमें भी

नहीं हो पाता।

पंचम अवस्था मरण है। इसमें जीव मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाता है और शरीर को श्मशान मे फूंक दिया जाता है। जो व्यक्ति इस मनुष्य जीवन की सार हीनता को समझ लेते हैं, अपने कल्याण के लिए युवावस्था का उपयोग कर लेते है, वे धन्य है। इस दुर्लभ नर-भव को पाकर आत्मचिंतन कर निर्वाण प्राप्त करना चाहिए, ऐसा अवसर पुनः प्राप्त नहीं होगा।

इन्द्रिय भोग क्षणिक और विष के समान है

सुखवेंबसुखवेंतो निर्मलवलं सुज्ञानमुं काण्के स-
म्मुख वादंददु सोख्यवंगनेय संभोगांत्यदोळ् हेयदु- ॥
न्मुखमुं शक्तिविनाशमुं मरवेयुं निद्राजडंदोरेयुं ।
सुख वेंदेंवरदेनोदुमुखरला रत्नाकराधीश्वरा ! ॥ ५८ ॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

स्त्री भोग में लोग सुख मानते है। क्या यह सुख रूप है ? निर्मल शरीर, श्रेष्ट ज्ञान और दर्शन का प्राप्त होना वास्तविक सुख है। स्त्री भोग के अन्त में हेय बुद्धि पराङ्मुखता, शक्ति क्षय, विस्मरणता, निद्रा और आलस्य के प्राप्त होने पर मनुष्य अनेक विपरीत वस्तुओं में सुख मानता है,यह कैसी आश्चर्यजनक बात है?

स्त्री, पुत्र, धन, धान्य से जब आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, तो इन पदार्थों से सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? सांसारिक दृष्टि से स्त्री के लिए पुरुष और पुरुष के लिए स्त्री सुख का साधन

माना जाता है। पुरुष युवावस्था मे स्त्री को सब कुछ समझता है और स्त्री पुरुष को। इस विषय वासना से उत्पन्न सुख की प्राप्ति के लिए ही सभी स्त्री पुरुष निरन्तर प्रयत्न करते रहते है। विषय वासना से उत्पन्न सुख क्षण भर के लिए भले ही शांतिदायक प्रतीत हो, पर इसका परिणाम अशांतिदायक है। जैसे दाद खुजलाने पर आनन्द मालूम होता है, पर अन्त में जलन होती है; उसी प्रकार वैषयिक सुख प्रारम्भ में भले ही सुखदायक प्रतीत हों, पर अन्त में अवश्य कष्टदायक होते है। विषय-रस से इस जीव की तृप्ति कभी नही होती है, लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, जिससे महान् कष्ट का सामना करना पड़ता है।

वास्तविक सुख इस आत्मा के भीतर ही वर्तमान है। आत्मा अपने को जब अनुभव कर लेती है, तब आनन्द का स्रोत भीतर से उमड़ पड़ता है। ज्ञान, दर्शन और सुख ये तो आत्मा के स्वरूप ही है, स्वरूप से ही आत्मा में ये गुण वर्तमान है। आत्मा को ये कहीं बाहर से नही लाने पड़ते हैं, बल्कि प्रयत्न द्वारा इन पर परदे को दूर किया जाता है। इन्द्रियजन्य सुखों से शक्ति-क्षय होने पर घृणा या ग्लानि हो जाती है, तथा अरुचि होने पर ये बड़े ही नीरस मालूम पड़ते है। किन्तु आत्मिक सुख विलक्षण होता है; इससे कभी भी घृणा नहीं होती। अनन्तकाल तक भी आत्मा इससे अघाता या ऊबता नहीं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को सांसारिक सुख से विरक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

आध्यात्मिक रस के अनुभवो को सांसारिक मोह-माया व्याप्त

नहीं करती है। वह विषयानन्द और आत्मानुभव दोनों के अन्तर को हृदयगम कर लेता है। अनेकान्त के स्वरूप को अच्छी तरह जान लेता है—

यत्स्वात्मकवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानरूपेण तत्वात् बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपतातिरिक्तपररूपेणासत्वात् सहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशसमुदयरूपाविभागकेद्रव्येणैकत्वात् अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभावेन सत्वात् परद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभावेनासत्वात् अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात् क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात् तदतत्वमेकानेकत्वं सदसत्वंनित्यानित्यत्वंच प्रकाशित एवं।

आत्मा अन्तरंग में देदीप्यमान ज्ञान स्वरूप की अपेक्षा सत्स्वरूप है, पर बाह्य मे उदय रूप जो अनन्त ज्ञेय है, जब वे ज्ञान में प्रतिभासित होते है तब ज्ञान में उनका विकल्प होता है। इस प्रकार ज्ञेयतापन्न जो ज्ञान का रूप है, जो वस्तुतः ज्ञान स्वरूप से भिन्न पर रूप है, उसकी अपेक्षा असत्स्वरूप है अर्थात् ज्ञान ज्ञेय रूप नहीं होता। सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनन्त चिदंशों के समुदाय रूप जो अविभागी एक द्रव्य है, उसी अपेक्षा एक स्वरूप है अर्थात् द्रव्य में जितने गुण है वे अन्वयरूप से ही उसमे सदा रहते है, विशेष रूप से नही। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है और द्रव्य में जितने गुण है, वे सब पर्याय से रहित नही है, उनमे भी

परिवर्तन होता रहता है। अतः आत्मा में सामान्य की अपेक्षा से ध्रौव्य और विशेष की अपेक्षा से परिवर्तनशीलता वर्तमान है। पर्यायों की अपेक्षा से ही आत्मा का चिदंश विकृत होकर राग, द्वेष मोह रूप में परिणमन करता है। यों तो आत्मा शुद्ध और निष्कलंक हैं।

आत्मा शुद्ध होते हुए अशुद्ध को क्यों प्राप्त होता है ?

एनोंदुभ्रमो नोड नोटचरिवे मेय्याद् शुद्धात्मनं।
मीनाक्षीतनु तन्न तळकिदोडं नेत्रंगळं कट्टि सु-
ज्ञानंगुंदिसि मूर्छे गेय्सि पेणनें वोल्माडुगुं मतद्-
वकानंदं मिगे हिग्गुवं मरुळना रत्नाकराधीश्वरा !॥४६॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

ज्ञान और दर्शनमय शरीर में निवास करने वाले शुद्धात्मा की विचित्र दशा है। आलिंगित और चुम्बित होने की दशा में स्त्री शरीर की दशा कुछ इस प्रकार हो जाती है कि उसकी आँखें मुंद जाती है, श्रेष्ठ ज्ञान से शून्य होने के कारण शरीर मूर्च्छित होकर मुर्दे की तरह पड़ जाता है। कितनी भयंकर स्थिति है। विषय सुख में ज्यादा सुख मानने से शरीर को ठोकर लगती है। ऐसा करने वाले क्या पागलों की श्रेणी में नहीं हैं ?

जब तक इस जीव की शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक वह अपने निजानन्द रस का स्वाद नहीं ले पाता है। न इस जीव को अपनी अनन्त चतुष्टय रूप—अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य की प्रतीति होती है। यह संसारी जीव, स्त्री,

मित्र, पुत्र, धन धान्यादि को अपना मानता है। इस पदार्थों के सयोग-वियोग में हर्ष-विषाद भी इसे होता रहता है। संसार के जितने दु.ख और प्रपंच है, वे सब शरीर के साथ ही है। अतः जब तक जीव की शरीर में आत्म बुद्धि रहती है, यह अपने स्वरूप को नही समझ सकता है। यही सबसे बड़ा मिथ्यात्व है, इसी मिथ्यात्व के कारण यह जीव स्त्री-भोग, विषयानन्द में सुख मानता है।

वास्तविक बात यह है कि जहाँ आनन्द की प्राप्ति होती है, जीव वहाँ अपनी प्रवृत्ति करता है, दुःखद व्यापारो से अपनी प्रवृत्ति को हटाता है। स्त्री, पुत्र, धन धान्य सम्पत्ति, वैभव आदि सभी पदार्थ आत्मा से पर है, इनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न है। पर पदार्थो का परिणमन सदा पर रूप से अपने अपने में होता है और आत्मा का परिणमन आत्म रूप मे होता है। प्रत्येक द्रव्य रूप कभी भी परिणमन नही होता है। केवल जीव और पुद्गल मे भाववती शक्ति के साथ क्रियावती शक्ति के रहने के कारण विकृत परिणमन होता है, परन्तु यह विकार भी स्वभाव से बिल्कुल भिन्न नही होता। उपयोग और शक्ति के लगने पर इस विकार को अपने परिणमन द्वारा दूर किया जा सकता है।

जीव जब तक शरीर, स्त्री आदि पर पदार्थो को अपना मानकर उनके मोह में अपने आत्म-स्वरूप को भूले रहते हैं, अपनी इच्छानुसार उन शरीरादि पदार्थो के परिणमावने तथा उनसे विषय भोग साधने की इच्छा रखते है, तभी तक ये पर पदार्थ प्रिय मालूम होते

हैं, इनके परिणमन से सुख प्रतीत होता है। पर ये पदार्थ सदा इच्छानुसार परिणमन नहीं करते, जीव इनका परिणमन शीघ्र चाहता है, ये देर से परिणमन करते हैं अथवा इनका वियोग हो जाता है, इससे अनेक आकुलताओं के कारण उपस्थित हो जाते हैं।

जिनके हृदय में सच्चा विवेक जाग्रत हो गया है, उन्हें इस मोह वृति का अवश्य त्याग करना चाहिए। मोह के कारण ही जीव में राग-द्वेष की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे आत्मा में उत्तरोत्तर विकार आता जाता है। कर्मों का बन्धन दृढ़ होता जाता है, जिससे इस जीव का भविष्य भी दुःखमय हो जाता है।

परभाव— पर पदार्थों से मोह करना, उन्हें अपना मानना ही सांसारिक दुःख का प्रधान हेतु है। इन्द्रिय सुख आत्मा का रूप नहीं, आत्मा का रूप तो अतीन्द्रिय अनन्त सुख है। वीतरागता रूप आत्म सुख में रमण करने पर आकुलता उत्पन्न होती ही नहीं हैं। राग, मोह और अहंकार के रहने पर जीव को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं, वह दिन रात कष्टों से सन्तप्त रहता है। तृष्णावश अपने स्वरूप को भूल अन्य को पाने के लिए लालायित रहता है, सर्वदा इसे अपने आनन्द स्वरूप से वंचित होना पड़ता है। परमात्म-प्रकाश में आचार्य ने बताया है कि

वीतराग स्वसंवेदनज्ञानरता: मुनय: किं कुर्वन्ति। परसंसर्गं त्यजन्ति निश्चयेनाभ्यन्तरे रागादिभावकर्म ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म शरीरादि नोकर्म च बहिर्विषये मिथ्यात्वरागादि परिणतासंवृत-जनोऽपिपरद्रव्यं भण्यते।

अर्थात् शुद्धोपयोग स्वसंवेदन ज्ञान में लीन वीतरागी परद्रव्यों के साथ अपना सम्बन्ध छोड़ देते है। अन्दर के विकार रागादि भावकर्म और बाहर के शरीरादि ये सब पर पदार्थ है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षु को आत्म भाव के सिवा सब परद्रव्यों का सम्बन्ध छोड़ देना चाहिए। स्त्री सुख में तनिक भी आनन्द नहीं, वास्तविक आनन्द तो आत्मा के स्वरूप में रमण करने पर ही प्राप्त होता है।

यदि ज्ञान चक्षुओं को खोलकर देखा जाय तो स्त्री सुख कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकता है। इससे कभी संतोष नहीं हो सकता। विषयाशा बढ़ती ही जाती है, अतः इस दुःखदायी आशा को ज्ञानामृत या सन्तोष से ही जीता जा सकता है।

इन्द्रिय-विषय मे मदमस्त हुआ जीव मदोन्मत्त हाथी के समान है—

मद्वेद्दानेगे कल्लपोयुदिनिदे ! मेक्युतोटेगं कज्जिगं ।
वदियं तोडुवुदोळिळ् तन्तु वंगेवंदात्मंगेनारीरतं ॥
मुदवन्तादोडमंतदं विडलशक्यं विट्टोडी यौवनो-
न्मदद्रुद्रेक वडंगदेवेनकटा ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥६०॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

मदोन्मत्त हाथी पर पत्थर फेंकने से कोई लाभ नही होता। शरीर मे खुजली नामक रोग हो जाने पर यदि कीचड़ का लेप किया जाय तो यह भी लाभप्रद सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार विचार कर देखा जाय तो विदित होगा कि स्त्री-संभोग आत्मा को संतोष देने वाला सिद्ध नही हो सकता। फिर भी स्त्री-संभोग से

पिण्ड छुड़ा सकना कठिन कार्य है। छोड़ देने से भी यौवन-मद अधिक शान्त नहीं होता। हा! हन्त मैं क्या करूं?

यद्यपि सभी लोग विषय भोगों की असारता को जानते है। फिर भी इन्हे छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। इन भोगों को भोगने से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती है, जीव इन्हें जितना भोगता चला जाता है, उतनी ही विषय लालसा बढ़ती चली जाती है। जैसे जलती अग्नि में उत्तरोत्तर ईंधन डालने पर अग्नि प्रज्वलित होती जाती है, वैसे ही विषय लालसा भोगने से शान्त नही होती, बल्कि अहर्निश बढ़ती ही चली जाती है। विषयेच्छा को कम करने का एकमात्र उपाय त्याग ही है। त्याग से ही शान्ति मिल सकती है, तथा अपने आत्मस्वरूप का अनुभव भी होने लगता है। विकारों की वृद्धि का प्रमुख कारण विकारों को भोग द्वारा शान्त करना है। जबतक जीव यह समझता रहता है कि विषय भोगों को भोगने से विषय-लालसा शान्त हो जायगी, विकार बढ़ते रहते है। परन्तु जिस समय जीव के हृदय में त्याग वृत्ति जाग्रत हो जाती है विषय तृष्णा मृगतृष्णा के समान प्रतीत होने लगती है। कहा भी है कि—

> रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं।
> भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
> इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
> हा हत हन्त नलिनी गज उज्जहार॥

तालाव के कमल में एक भौरा आकर उसके मकरन्द के रस में मग्न होता है। इतने में दिन डूब जाता है। दिन डूबते ही वह कमल वन्द हो जाता है! तब भ्रमर कमल को वन्द होते हुए देख कर सोचता है कि मै निश्चिन्त हो करके रात भर इस कमल के रस को चूसूंगा। फिर सुबह दिन निकलेगा। कमल खिलेगा, मै उड़ कर इसमें से निकल जाऊंगा। ऐसा विचार करते करते घ्राणेन्द्रिय में रत हुआ भ्रमर आनन्द मान रहा था। इतने में एक राजा का मदोन्मत्त हाथी छूट कर इधर उधर घूमते हुए तालाब में घुस जाता है और जिस कमल मे भोरा वन्द था उसी कमल को तोड़कर खा लेता है। इसी प्रकार संसारी आत्मा एक एक इन्द्रिय के वशीभूत होकर रस-लुब्ध भ्रमर के समान जब इन्द्रिय में लीन होता है तब उसको आगे आने वाली आपत्ति नहीं दीखती है और विचार भी नहीं करता है। कदाचित् कोई सद्गुरु उनको दुखी देख करके उनको समझाने लगे तो जैसे मदोन्मत्त हाथी को कोई अगर कंकड़ मार दे तो वह कंकड़े मारने वाले की ओर मारने को झपटता है, उसी प्रकार इन्द्रिय विषयों मे निमग्न संसारी जीव भी उन उपदेश देने वाले उपकारी गुरु का ही अपकार करने को उद्यत हो जाता है।

इसलिए आचार्य ने कहा है कि इस विषय को विष के समान जान करके धीरे२ इसको त्यागने का अभ्यास करो और अपने स्वरूप की तरफ सन्मुख होने का अभ्यास करो। आचार्यो ने विषय लालसा को वश करने के लिए प्रशम, कषायो का अभाव, यम, त्याग, समाधि, स्वरूप में लय होना, ध्यान—एकाग्रचित्त, भेदविज्ञान-स्व-

पर के ज्ञान का अभ्यास बताया है। जब तक कषायों की तीव्रता रहती है. विषयेच्छा को जीता नही जा सकता। कषायों के मन्द या क्षीण होने पर भोग लालसा अपने आप शान्त हो जाती है। अतएव सरल परिणामी होकर रागादि भावों को छोड़ने का प्रयत्न निरन्तर करना चाहिए। यम अर्थात् इन्द्रिय निग्रह करना और विषय कषायो का त्याग करना भी अब्रह्म के त्याग में सहायक है। जब तक मनुष्य स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के विषयों के आधीन रहेगा, तब तक मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता। केवल जननेन्द्रिय को वश में करना ही ब्रह्मचर्य नहीं है, प्रत्युत पाँचों इन्द्रियों के विषयों की त्यागना ही ब्रह्मचर्य है। मनुष्य जब तक अच्छे अच्छे सुस्वादु पदार्थो के भक्षण की लालसा रखता है, सुगन्धित इत्र, तेल, पुष्प, आदि को सू घने की आकांक्षा करता है, सिनेमा, नाटक, नृत्य आदि के देखने की अभिलाषा रखता है एवं श्रेष्ठ गान सुनने की लालसा करता है तब तक वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं कर सकता है। ब्रह्मचर्य को पालन करते ही इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति नियंत्रित हो जाती है।

ध्यान भी ब्रह्मचर्य प्राप्ति में सहायक है। मन बहुत चंचल है, इसकी गति वायु से भी तीव्र है, अतः यह निरन्तर अपनी गति से विषयों की ओर दौड़ता रहता है। शारीरिक दृष्टि से आत्म-संयम करने पर भी मानसिक दृष्टि से संयम नहीं हो पाता। अतएव आचार्यो ने मन को एकाग्र करने पर विशेष जोर दिया है। मन के एकाग्र करने में वासनाएं उत्पन्न नहीं होती है, मन स्थिर हो जाता

है। बाह्य पदार्थ जिनका आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, मन के स्थिर हो जाने पर पर प्रतीत होने लगते है। चारित्र मोहनीय के तीव्रोदय के कारण जीव सरागभाव ग्रहण करता है। उसके मन में मन्थन होता है जिससे निरन्तर आकुलता बनी रहती है। मन के वश में हो जाने से राग बुद्धि दूर हो जाती है तथा इन्द्रिय संयम और प्राणी सयम इन दोनों का पालन जीव अच्छी तरह से करने लगता है। एक आचार्य ने कहा है कि—

कान्ता कनक-सूत्रेण, वेष्ठितं सकलं जगत्।
तासु तेषु विरक्तो यो, द्विभुजः परमेश्वरः॥

स्त्री और धन इन दोनों धागों में सारा संसार जकड़ा हुआ है। अतः जिसने इन दोनों पर विजय प्राप्त कर ली, वीतरागता धारण कर ली, वह दो हाथों वाला साक्षात् परमेश्वर है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए आत्मन्! तू अनादि काल से इस सूत्र में बंधा हुआ है। इस सूत्र से छुटकारा पाकर अगर स्वतन्त्र होना चाहता है तो सद्गुरु का सदुपदेश ग्रहण कर।

समाधि—ब्रह्मस्वरूप आत्मा के स्वरूप में रमण करने पर ही वास्तविक ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। पर पदार्थों में रमण करना अब्रह्म है। ज्ञानी जीव भेदविज्ञान द्वारा आत्मा और शरीर आदि की भिन्नता का अनुभव कर अपने स्वरूप मे विचरण करता है। जब तक जीव में अज्ञान, मोह और राग रहता है, तभी तक वह विषय भोगों की ओर प्रवृत्त होता है, अतः प्रशम, त्याग, ध्यान

और समाधि के अभ्यास द्वारा ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ना चाहिए।

उपर्युक्त चारों साधनों के द्वारा भी व्यक्ति अपने विकारों को शान्त कर सकता है। कोई शाब्दिक ज्ञान वासनाओं को जीतने में सहायक नहीं है, इसके लिए वास्तविक अनुभूति होनी चाहिए। यों तो कषायों के अभाव होने पर ही विकार पूर्णतया शान्त होते हैं। आगम में बताया है कि कषायों की प्रवृत्ति नौवे गुणस्थान तक विशेष रूप में रहती है। इसी कारण राग, द्वेष आदि विकार भी वहीं तक उत्पन्न होते हैं। दशवे गुणस्थान में केवल सूक्ष्म लोभ रह जाता है, जिससे विकारों के अभाव हो जाने से इस गुणस्थान में आत्मा की प्रवृत्ति प्रायः विशुद्ध रूप में ही होती है।

तनुवेळ्कॆंबनौषधक्कॆळ्सने ! पित्तोर्जितं देहशो-
धनेयं माळ्पबोलंबनासुरतदिं तन्निंद्रियं पोगे यौ-
वनतापं निलुगं निलल्चरिते सल्गु सद्गृहस्थंगे त-
नुबेडॆंब मुनिश्वरंगुचितदे ! रत्नाकराधीश्वरा ! ॥ ६१॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

नीरोग रहने की इच्छा करने वाला दवाई की कामना करता है।

शरीर की आरोग्यता की कामना करने वाले दवा की अपेक्षा रखते है। जिस प्रकार मनुष्य अधिक पित्त ज्वर हो जाने पर वमन आदि उपचार से शारीरिक शुद्धि प्राप्त करता है, उसी प्रकार काम पीड़ित होने पर मनुष्य स्त्री संभोग से वीर्य का स्खलन कर यौवन

ताप को शान्त कर लेता है। श्रेष्ठ गृहस्थ ऐसा आचरण कर सन्तान की उत्पत्ति करते है। परन्तु जिस श्रेष्ठ व्यक्ति को सन्तान की कामना नही है क्या उसे भी स्त्री सम्भोग योग्य है।

चारित्र मोह के प्रबल उदय में विषय भोग काम-शमन का हेतु होता है, पर वस्तुतः इससे शान्ति नहीं होती है। आचार्यो ने ब्रह्मचर्य को आत्मा का स्वभाव माना है तथा इसके विकास को आत्मा का विकास माना है। ब्रह्मचर्य के दो भेद है—सकल और विकल। सकल—पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन समस्त इन्द्रियों और मन के जीतने पर ही हो सकता है, इस अवस्था में स्वात्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य समस्त अनुभूतियां अब्रह्म है। सांसारिक किसी भी पदार्थ की प्राप्ति की कामना अब्रह्म है। ब्रह्मचर्य का धारी ही स्वसमयरत माना जाता है तथा अब्रह्मचर्यवाला परसमय-रत होता है। प्रवचनसार की टीका मे श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने बताया है—

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीय द्रव्यपर्यायं सकल-विधानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसम्भावनक्लीवास्तस्मिन्नेवा-शक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाह-मेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्याहंकारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृत-समस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्य व्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगत्वात्परसमया जायन्ते। ये तु अविचलित-

चेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रीडीकृतसमस्तक्रिया-कुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलम्ब्यमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते।

अर्थात् जो जीव समस्त अविद्याओं का मूल कारण जीव पुद्गल स्वरूप असमान जाति वाले द्रव्य पर्याय को प्राप्त हुए हैं और आत्म स्वभाव की भावना में नपुंसक के समान अशक्त हैं, वे निश्चय से एकान्ती है। मैं मनुष्य हूँ यह मेरा शरीर है, इस प्रकार नाना अहंकार और ममकार भावों से युक्त हो अविचलित चेतना विलासरूप आत्म व्यवहार से च्युत होकर समस्त निन्द्य क्रिया समूह के अंगीकार करने से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। ऐसे जीव पर द्रव्यों में रत रहने के कारण परसमयरत कहलाते हैं। और जो समस्त विद्याओं के मूलभूत आत्मभाव को प्राप्त हुए हैं, अहंकार और ममकार भावों से रहित है तथा अविचलित चैतन्य विलास रूप आत्म व्यवहार को स्वीकार करते है एवं राग-द्वेष के अभाव से परम उदासीन है और समस्त पर द्रव्यों की संगति दूर करके केवल आत्म स्वभाव में रत हैं वे स्वसमय कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्य की भावना के हृदयंगम होने पर जीव पर द्रव्यों की आसक्ति छोड़ स्वात्मा में रत हो जाता है, यही जीव की स्वसमय परिणति कहलाती है। जब तक पर द्रव्यों से जीव को सुख प्राप्ति

की आकांक्षा रहती है, आत्म व्यवहार से च्युत होकर निन्द्य क्रिया समूह में संलग्न रहता है, स्त्री, पुत्र आदि को सुख का साधन मानता है, तब तक उसकी अब्रह्म प्रवृत्ति रहती है। पर द्रव्यों से आसक्ति दूर होते ही जीव के हृदय में ब्रह्मचर्य की भावना जाग्रत हो जाती है। वह समस्त विद्याओं के मूलभूत आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तमय हो जाती है और वह चैतन्य विलास-रूप आत्मा में विचरण करने लगता है तथा असमान जातीय मनुष्य पर्याय के रहस्य को वह जानता है ।

काम सुख चाहने वाले की दशा–

हा कष्टमिष्टवनिताभिरकाण्ड एव,
चण्डो विखण्डयति पण्डितमानिनोपि ।
पश्चादभुतं तदपि घोरतया सहन्ते,
दग्धुं तपोग्निभिरमुं न समुत्सहन्ते ॥

कोई मनुष्य किसी को यदि धनुष लेकर प्रत्यक्ष मारना चाहे तथा शस्त्रादि अप्रिय वस्तु से मारना चाहे तो उससे मनुष्य सावधान हो सकता है, अपनी रक्षा के लिए कभी कभी उल्टा मारने भी लगता है और धोका नही खाता। यदि कोई मनुष्य पूरा मूर्ख ही हो तो कदाचित् उससे मार खा लेगा। परन्तु कितने कष्ट की बात है कि प्रचण्ड काम, धनुष के विना ही प्राणियों को विदीर्ण करता है, शस्त्रादि अनिष्ट साधन नहीं लेता किन्तु अति प्रिय वस्तु जो कान्ता, उसी से लेकर विखण्डित करता रहता है और इसीलिए

किसी भोले मनुष्य को ही नही किन्तु उन मनुष्यों को भी जो अपने को ज्ञानी मानते हैं। और फिर भी देखो यह आश्चर्य है कि, उस काम की वेदनाओं को लोग धीरता के साथ सह लेते है, पर तपश्चरण रूप अग्नि को प्रदीप्त कर काम को भस्म कर देने का साहस कभी नहीं करते।

ठीक ही है, उसके धोके में हर एक आ जाता है कि जो प्रत्यक्ष विरोध प्रकाशित न करके किसी को मारने का प्रयत्न करता हो, एवं बिना शस्त्र लिए ही किसी गुप्त चीज से मारना चाहता हो। काम भी ठीक ऐसा ही ठग है। वह मारने के लिए कोई शस्त्र धारण नहीं करता, किसी से विरोध जाहिर नहीं करता। जीवों को जो इष्ट जान पड़ते है ऐसे वनिता आदि साधनों के द्वारा जीवों को सताता है फिर भी जीव उसे मित्र तुल्य ही मानते है। इसीलिए उसके नाश का प्रयत्न न करके उल्टा उसे सबल बनाने की फिक्र में रहते है। तभी तो काम के उत्पादक शरीर को जब तपश्चरण द्वारा सुखा देना चाहिए वहां उसको हर तरह पुष्ट बनाने की प्राणी चेष्टा करते है। यह कितना विपर्यय है?

भोग रोग के समान है

विषमोद्रेकद जव्वनंदळेदोडं तत्प्रायदिं पेण्णकोळ्।
विषयक्का टिसनावगं परमतत्वज्ञानसंतुष्टकं ॥
रिसि तानक्केम शिष्यनक्केम अवं मानुष्य नल्तल्तु नि-
र्विषरूपं निरघं निरावरणनै रत्नाकराधीश्वरा! ॥ ६२ ॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

यौवन के तीव्रतम ताप को प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति स्त्री संभोग में उत्साह न रख कर ज्ञान जैसे श्रेष्ठ तत्व से सन्तोष प्राप्त करे वह तपस्वी है, साधारण मनुष्य नहीं। वह विष के समान विषय सुख से सर्वथा रहित है-पाप रहित है और ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित है।

युवावस्था के प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति विषय भोगों से विरक्त होकर विवेक ग्रहण करता है, वह पुरुषार्थी और आत्मार्थी माना गया है। ऐसा आत्मार्थी मोह क्षोभ से रहित होने के कारण शीघ्र अपना कल्याण कर लेता है। संसार के विषय कषाय उसे विकृत नही करते, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म से भी वह जल्द छुटकारा पा लेता है। जीव को विपयों की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति महान हानिकारक है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मिक शक्ति को विकसित करने के लिए विपय वासना का त्याग करना आवश्यक है। आत्मा का सबसे बड़ा अहित इन विषय वासनाओं के द्वारा ही प्राप्त होता है। ये विपय इतने भयकर है कि इनके सेवन से कोई भी शाति नही प्राप्त कर सकता है। ये जीवों को निरन्तर त्रास देने वाले है।

सासारिक जीव अज्ञान से आच्छादित है, इसलिए परकीय पदार्थों में मोहित हैं, ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्म-ज्ञान से रहित है, इस कारण परम तृप्तिकारक अतीन्द्रिय सुख से वंचित रहते है।

विवेक रूपी चक्षु संसारी जीवों की अपनी कार्य करने वाली शक्ति से रहित हो जाती है, जिससे ज्ञान नेत्रों के अभाव में आत्मानुभूति नहीं हो पाती है। मोह के कारण यह जीव उन्मत्त होकर अनात्मज्ञ बनता है, आत्मिक भावों और क्रियाओ से पराङ्मुख हो जाता है। यद्यपि यह जीव बार बार काम भोगों को धिक्कारता है, निन्दा करता है, पर प्रबल उदय आने पर अपने समस्त पुरुषार्थ को छोड़ बैठता है, और विषयों की ओर बलात् खिच जाता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डियों को अपनी दाढ़ों से चबाता है और अपने ही मुख में निकलने वाले रक्त को चाटकर कुछ क्षण के लिए आनन्द का अनुभव करता है, पीछे अपनी मूर्खता को समझ कर भौंकता है, चीखता है, इसी प्रकार विषयों में कृत्रिम सुख की झलक को देखकर विषयों में मस्त हो अज्ञानी जीव अपने आपको भूल जाता है और स्वाभाविक आनन्द से वंचित हो जाता है। विषय भोगों के दोषों का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने बताया है—

घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम्।
जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः॥

दिङ्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शंकिताशयम्।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरिविजृम्भितः॥

नहि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम्॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः॥

भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥

काम रूपी सिंह से चर्वित यह जीव योगियों से निन्दित, पाप से युक्त अत्यन्त क्रूर और घृणास्पद कार्यों को करता है। विषय भोगों की आकांक्षा जीव को दिङ्मूढ कर देती है, जिससे जीव उन्मत्त और भयभीत होकर लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। विषयों की शल्य एक क्षण भी जीव को शान्ति नही मिलने देती, इस शल्य द्वारा निरन्तर आकुलता होती है। सब कुछ जानता हुआ भी जीव कुछ नही जानता है, सब कुछ देखता हुआ भी कुछ नही देखता है। विषय वासना का विष कालकूट के विष से तीक्ष्ण होता है, क्योंकि कालकूट के विष को दूर करने का उपाय किया जा सकता है, पर इसका कुछ भी उपाय नहीं हो सकता है। यह वासना का विष सर्प के विष से भी उग्र होता है, क्योकि सर्प के काटने पर जीव को सात ही वेग आते है, पर काम रूपी सर्प के डसने पर दस वेग आते है, जिनसे जीव का महान् अनिष्ट होता है। संसार की परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अतएव ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है ।

प्रायः देखा भी जाता है कि वासना के प्रचण्ड होने पर मनुष्य अपने को नियंत्रित नही कर पाता है, उसके मन में बड़ी भारी अशान्ति उत्पन्न होती है। एक क्षण भी उसे शान्ति नही मिल सकती। यद्यपि विषयी जीव वासना की पूर्ति में आनन्द मानते हैं,

पर इस वासना के ज्वर के दूर हो जाने पर वे इसकी निन्दा करते हैं तथा दूसरों को कहते हैं कि इसमें तनिक भी सुख नहीं। असल बात यह है कि सुख वासना तृप्ति में नही, सुख है आत्मा में। जब आत्मिक भावों में जीव लग जाता है तो उसे सुख की प्राप्ति हो जाती है।

बुद्धि ज्ञानमय होने पर विषय से विरक्त क्यों नही होती है—

निःसारा भयदायिनोऽसुखकरा भोगाः सदा नश्वराः।
निंद्यस्थानभवार्तिभावजनकाः विद्याविदां निंदिता॥
नेत्थं चिंतयतोऽपि मे वत मतिर्व्यावर्तते भोगतः।
कं पृच्छामि कमाश्रयामि कमहं मूढः प्रपद्ये विधिम्॥

इस श्लोक में एक श्रद्धावान् जैनी अपनी भूल को विचारते हुए अपने कषायों के जोर को कम कर रहा है। इस जीव के साथ मोह कर्म का बंध है। मोह ही उदय में आकर जीव को बावला बना देता है और यह उन्मत्त हो न करने योग्य कार्य कर लेता है। मोह कर्म के मूल दो भेद हैं—एक दर्शन मोह, दूसरा चारित्र मोह। दर्शन मोह के उदय से आत्मा को अपने आपका सच्चा विश्वास नहीं हो पाता है। चारित्रमोह का उदय आत्मा को अपने आप में ठहरने नहीं देता है—अपने आत्मा के सिवाय अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों में राग-द्वेष कर देता है। इसके चार भेद हैं- अनन्तानुबन्धी कषाय जो श्रद्धान के बिगाड़ने में दर्शनमोह के साथी हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय, जिसके उदय होने पर श्रद्धान होने पर भी एकदेश

भी त्याग नहीं किया जाता अर्थात् श्रावक के व्रत नहीं लिए जाते। प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय से पूर्ण त्याग कर साधु का आचरण नही पाला जाता है। संज्वलन कषाय—जो आत्मध्यान को नाश नहीं कर सकते परन्तु जो मल पैदा करते है. जो पूर्ण वीत-रागता को नही होने देते। जिस किसी महान् पुरुष के अनन्तानुबन्धी कपाय और दर्शनमोह के दवने से सम्यग्दर्शन हो गया है वह पुरुष यह अच्छी तरह समझ गया है कि विषय भोगों से कभी भी इस जीव को तृप्ति नही होती है। उल्टी तृष्णा की आग बढती हुई चली जाती है, इसीलिए ये भोग असार है, फल कुछ निकलता नही, तथा भोगों के चले जाने व अपने मरण होने का भय सदा वना रहता है। यह भोगी जीव चाहता है कि भोग्य पदार्थ कभी नष्ट न हों व मै कहीं मर न जाऊं। इन भोगों की प्राप्ति के लिए व उनकी रक्षा के लिए वड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और यदि कोई भोग नही रहता है तो यह प्राणी आकुलता में पड़ कर दुखी हुआ करता है। ये भोग अवश्य नष्ट होने वाले है। या तो आप ही मर जायगा या ये भोग्य पदार्थ हमारा साथ छोड़ देंगे तथा इनके भोगने में वहुत तीव्र राग करना पड़ता है जिससे दुर्गति हो जाती है तथा इसीलिए इन भोगों को विद्वानों ने निन्दा योग्य वुरा समझा है।

ज्ञानियों के लिये स्त्री और औषधि दोनों समान है—

मदु`मानिनियु` समासमरिवंगंवल्लदें पेएणोळों-
दिदु` श्रीजिनदत्तनु` कपिलमित्रं वारिषेणादिगळ् ॥

साद्रिंपसु'डुगाडनेके ! तपवेका पर्वदोळ्मत्ते पे-
-रियार्द्‌चेदुवरेंदिद्यु' अमितरो ! रत्नाकराधीश्वरा ! ।.६३॥

हे रत्नाकराधीश्वर !

ज्ञानियों के लिए स्त्री और औषधि दोनों ही समान है। श्री जिनदत्त, कपिलमित्र, वारिषेण इत्यादि स्त्रियों के साथ रहने पर भी आत्म कल्याण में रत रहे। स्त्रियों के रहने के स्थान में आते जाते रहने पर भी ये मोहित नहीं हुए।

संसार में सबसे बड़ी वीरता इन्द्रियों के जीतने में है। जिस व्यक्ति ने इनको अपने आधीन कर लिया है, वह सर्वश्रेष्ठ शूर है। बड़े-बड़े तपस्वी और यति मुनि भी अवसर आने पर इन्द्रियों के विषयों में लीन हो जाते हैं, उनकी जीवन भर की तपस्या धूल में मिल जाती है। यों तो सभी इन्द्रियाँ जीव को कुमार्ग में ले जाने वाली हैं, सभी के विषय अपनी अपनी दृष्टि से आकर्षक हैं। पर प्रधान रूप से स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषय बहुत लुभावने हैं, ये दोनों इन्द्रियां ही जीव के सामने रंगीन दृश्य उपस्थित करती हैं। स्पर्शन इन्द्रिय की आसक्ति जीव में काम भावों को जाग्रत करती है, यह सहस्रों वर्ष की तपस्या और साधन को एक क्षण में समाप्त कर देती है। इस इन्द्रिय के आधीन हुआ जीव अपने हित अहित के विवेक को खो देता है और दिन रात विषय चिन्तन में रत रहने लगता है। स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों को उत्तेजना देने वाली रसना इन्द्रिय है। मनुष्य जैसे जैसे गरिष्ठ पदार्थों का भक्षण

करता है, वैसे वैसे उसकी विषय वासना जाग्रत होती जाती है। रसनाइन्द्रिय को रोके बिना स्पर्शन इन्द्रिय को जीतना संभव नहीं। अतः इन दोनों इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति को अवश्य छोड़ना चाहिए।

जो जितेन्द्रिय है, वे विचलित करने वाले निमित्तो के मिलने पर भी दृढ़ रहते है। संसार की कोई भी आसक्ति उन्हें नही झुका सकती है। अतः इन्द्रिय और मन की विषयासक्ति सबसे बड़ा दोष है। इन्द्रियों और मन के वश कर लेने पर जीव में अपूर्व शक्ति आ जाती है, उसका आत्मिक बल प्रकट हो जाता है। शास्त्रों ने संयम पालने पर इसलिए विशेष जोर दिया है कि यही जीव की प्रवृत्ति को शुद्ध करता है। अतः इन्द्रियाँ जो कि जीव को उन्मत्त बनाकर कुमार्ग की ओर ले जाती हैं, उनका दमन करना चाहिए। इन्द्रियासक्ति के समान जीव के लिए संसार मे रुलाने वाली अन्य प्रवृत्ति नही।

विषयाधीन व्यक्ति गौरव, प्रतिष्ठा, विवेक आदि को तिलांजलि दे देता है, उसका मन सदा विषयों के लिए लालायित रहता है। आत्मा की ओर देखने की उसकी रुचि नही होती,परन्तु जिस व्यक्ति ने धैर्य धारण कर लिया है, विषयों की लम्पटता को त्याग दिया है वह नरक रूपी महल मे नही प्रवेश करता है। उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ उसे सम्यक् चारित्र की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्मचर्य की प्राप्ति के लिए कुसंगति का त्याग अवश्य करना चाहिए। कुसंसर्ग से मनुष्य में नाना प्रकार के दोष उत्पन्न हो जाते है,सत्संगति एक ऐसी वस्तु है जिससे

व्यक्ति एक क्षण में ही महान् बन सकता है। कुसंगति से त्यागी और जितेन्द्रिय व्यक्ति भी कुमार्ग में पड़ जाते हैं, अतः ब्रह्मचारी के लिए असंयमी स्त्री पुरुषों का साथ त्यागना आवश्यक है। आचार्य शुभचन्द्र ने बताया है कि शरीर और विषय भोगों में अनुराग रखने से जीव का उद्धार जल्द सम्भव नहीं। ध्यान में सिद्धि भी विरक्त होने पर ही हो सकती है। क्योंकि सांसारिक भोगों से विरक्त हुए बिना चित्त में एकाग्रता नहीं आ सकती है।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तं तदा ध्यातासि नान्यथा ॥

कोई भी जीव काम भोगों से विरक्त होकर, शरीर की स्पृहा को छोड़ कर तथा परिणामों मे निर्ममत्व रखने पर ही ध्यान करने वाला ध्याता हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि भोगों की अभिलाषा रहने पर चित्त ध्यान में कैसे लगेगा ? शरीर में अनुराग रहने पर उसको संवारने और पुष्ट करने की चिंता सदा व्याप्त रहेगी, जिससे चित्त चंचल रहेगा और ध्याता ध्यान नही कर सकेगा। अतः विषय वासनाओं की लालसा को त्याग कर आत्मा का ध्यान सदा रखना चाहिए। ब्रह्मचर्य ही एक ऐसा गुण है जिससे कोई भी व्यक्ति सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

विषयों में तीव्र वाञ्छा रखने वाले के बारे में कहा है कि—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

अरे. प्रत्येक जीव का आशा रूप खड्डा इतना विस्तीर्ण है कि जिसमें संपूर्ण संसार यदि भरा जाय तो भी वह संसार उसमें अणु के तुल्य दीखेगा। अर्थात् सभी संसार उस खड्डे में डाल देने पर भी वह खड्डा पूरा नही हो सकता किन्तु वहाँ पड़ा हुआ वह सारा ससार एक अणुमात्र जगह मे ही आ सकता है। परन्तु तो भी ऐसी विशाल आशा रखने मात्र से क्या किसी जीव को कभी कुछ मिल जाता है? इसलिए ऐसी आशा रखना सर्वथा वृथा है।

भावार्थ–यदि आशा रखने से कुछ मिले तो भी किस किसको? आशा तो सभी संसारी जीवों को एकसी लग रही है। और प्रत्येक आशावान् यही चाहता है कि सर्व ससार की संपदा मुझे ही मिल जाय। अब कहो, वह एक ही संपदा किस किसको मिले? इधर यदि प्रत्येक प्राणी की आशा का परिमाण देखा जाय तो इतना बड़ा है कि एक जगत तो क्या, ऐसे अनतों जगत की संपत्ति उस आशा गर्त मे गर्क हो जाय, तो भी वह गर्त पूरा नही भर पावेगा। पर आता जाता क्या है? केवल मनोराज्य की सी दशा है। केवल बड़ी बड़ी आशा करते बैठना प्रथम श्रेणी के मूर्ख का लक्षण है। आशा करने वाला अपनी धुन मे ही सारा समय निकाल देता है, करता धरता कुछ नही है, उसकी बुद्धि धर्म में भी लगती नही और कर्म मे भी लगती नही। इसलिए धर्म कर्म के बिना वह सुखी कहाँ से हो? इसलिए आशा छोड़कर निश्चय-व्यवहार रूप धर्म मे लगना सभी को उचित है।